रामेश्वर टांटिया

जन्म : २६ जनवरी १९१० ई०

निधन : २२ जुलाई १९७७ ई०

मेरा बचपन : मेरा गाँव
मेरा संघर्ष : मेरा कलकत्ता

रामेश्वर टांटिया

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

MERA BACHPAN : MERA GAON
MERA SANGHARS : MERA KALKATTA
My Childhood : My Native Land
My Struggle : My Calcutta
by
Rameshwer Tantia
1985

प्रथम संस्करण
सन् १९८५ ई०
प्रकाशक
विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी
मुद्रक
शीला प्रिण्टर्स, लहरतारा, वाराणसी

यह आत्मकथा

यह स्व० रामेश्वर टांटिया के संघर्षमय जीवन की आत्मकहानी है, जो उनके कागजों में बिखरी हुई थी। टांटिया जी नियमित रूप से अनेक वर्षों तक प्रतिदिन डायरी लिखते थे, जो "क्या खोया क्या पाया ?" के नाम से प्रकाशित हुई। टांटिया जी अपनी जीवनी भी क्रमबद्ध रूपसे लिखने लगे थे, किन्तु इसी बीच वे सहसा घोर रूप से अस्वस्थ हो गये। अतः अन्तिम अंश उन्होंने अत्यन्त संक्षेप में पूरा किया। वे अपने राजनीतिक जीवन, जब वे संसद सदस्य थे, के संबंध में विस्तार से 'मेरी राजनीति : मेरी दिल्ली' नाम से लिखना चाहते थे, किन्तु अस्वस्थता के कारण उनकी यह इच्छा पूरी न हो सकी और वे सहसा इस लोक से विदा हो गये। टांटियाजी का जीवन कितना संघर्षमय था, यह इन पृष्ठों में देखने को मिलेगा। आज जो युवक संघर्ष कर रहे हैं या जिन युवकों को विरासत में समृद्धि मिल गई है उन सभी को टांटिया जी की इस संघर्ष कहानीसे प्रेरणा मिलेगी। संघर्षरत युवकों को बल और समृद्ध-युवकों को संयम तथा दिशा प्राप्त होगी।

यों तो प्रत्येक परिवार के लिए यह पुस्तक पठनीय है, विशेषकर राजस्थानी समाज के घर-घर में यह पुस्तक पहुँचनी चाहिए।

इस ग्रंथ की पाण्डुलिपि के संपादन तथा संयोजन में सर्वश्री बालकृष्ण गर्ग का विशेष योगदान है जिनके प्रति आभार व्यक्त करना औपचारिकता मात्र होगी। श्री बालकृष्ण गर्ग टांटियाजी के साथ अंत समय तक थे 'और वे चले गये' शीर्षक से परिशिष्ट लिखकर टांटियाजी के अंतिम क्षणों का अत्यन्त मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है। ये टांटियाजी के अभिन्न रहे हैं, यही उनकी श्रद्धांजलि है। श्री विश्वनाथ मुखर्जी का इसके प्रकाशन में सहयोग प्राप्त होता रहा, इसके लिए मैं उनका विशेष आभारी हूँ।

आशा ही नहीं, विश्वास है, श्री रामेश्वर जी टांटिया की यह संघर्ष कथा, हमारे समाज को नई दिशा प्रदान करेगी।

—पुरुषोत्तमदास मोदी

अनुक्रम

बीकानेर नरेश
स्व० श्री गंगासिहजी महाराज

१

घणी घणी खम्मा अन्नदाता

गणतन्त्र-दिवस को होने वाली परेड सचमुच अनोखी होती है। अपने देश की स्वतन्त्रता और शक्ति के प्रति वह मन में गर्व और अभिमान भर देती है। हम संसद सदस्य नई दिल्ली के राजपथ में सदस्यों के कक्ष में बैठे प्रदर्शन देख रहे थे। राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू और प्रधान मन्त्री जवाहर लाल जी के ओज और तेज के संयोग से समूचा वातावरण उल्लासमय हो रहा था।

मेरे पास बैठे थे राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, कविवर 'दिनकर' और प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के अध्यक्ष श्री गंगाशरण सिंह। याद नहीं कि इनमें से किसने कहा, "हमारे लिए २६ जनवरी की बड़ी महिमा है।"

एकाएक मुझे ध्यान आ गया—आज मेरा जन्म-दिन है। मैं भी २६ जनवरी को पैदा हुआ था। जी में आया कि सबसे कहूँ, पर संकोच हुआ। इतने महान दिवस के साथ अपने को सम्बन्धित करूँ तो लोग क्या कहेंगे। फिर भी मुझे अपना बचपन अपने सामने दिखाई पड़ा""

घर वालों के लिए इस तारीख का बड़ा महत्व था। आज से ६० साल पहले २६ जनवरी, १९१० को हमारे घर में बड़ी चहल-पहल थी। श्री गिरधारीलाल के पुत्र श्री शिवनारायण की पत्नी सुआदेवी ने पुत्र को जन्म दिया था। मंगलगान के बीच संसार की चिंता और कष्ट की कल्पना करता हुआ, चीखता-चिल्लाता बच्चा संसार में आया—मैंने आँखें खोलीं।

उस दिन कोई कल्पना नहीं कर सकता था कि २६ जनवरी हमारे देश का सबसे बड़ा दिवस होगा—राष्ट्रीय-दिवस। सदियों से सोई हुई भारत की आत्मा ने १५ अगस्त को करवट ली थी। २६ जनवरी को वह जाग कर पूरी तरह चैतन्य हो गई। गणतन्त्र की यह अमर तिथि अमिट है, महान है।

हमारे देश का ही नहीं, यह दिन आस्ट्रेलिया का भी राष्ट्रीय पर्व है। इसी दिन ईसाई कैथोलिक संप्रदाय के बड़े पादरी साधु पोलिकार्प शहीद हुए थे।

मैं कैसे कहूँ कि मुझे ऐसे पवित्र दिन जन्म लेने का गौरव प्राप्त हुआ है। ६० साल पहले किसने इस महिमा की कल्पना की थी। फिर भी संसार

के सब महान कार्य किसी एक ही दिन तो होते नहीं; हर २४ घण्टे में कितने बड़े और अनगिनत छोटे काम होते हैं। प्रति पल इतनी घटनाएँ घट रही हैं कि हर दिन की मर्यादा बराबर है। हर एक मिनट में ६० प्राणी ससार से चल बसते हैं और ९० नये बच्चे पैदा हो जाते हैं। सुख-दुःख से लिपटा प्रत्येक क्षण भिन्न परिस्थिति में भिन्न महत्व रखता है। इसलिए २६ जनवरी की महान घटनाओं के बीच एक छोटी-सी घटना थी—मेरा जन्म।

प्रत्येक व्यक्ति अपने को, अपने कार्य को, संसार में सबसे अधिक महत्व देता है। शायद मेरा मोह ही मुझे २६ जनवरी को अनूठापन देने के लिए आग्रह कर रहा है। संसार की वर्तमान साढ़े-तीन अरब की आबादी में मैं एक छोटा-सा व्यक्ति हूँ; मेरा एक छोटा-सा कस्बा है, पर मेरा अहंकार मुझे अपने और अपने गांव के ही विषय में लिखने के लिए प्रेरित कर रहा है। शायद मै अपने विषय में लिखकर अपने अहंभाव की पुष्टि करना चाहता हूँ। लेकिन किसी भी व्यक्ति का जीवन निस्सार नही है। धूप-छांव में जीवन की पहेलियां चलती रहती हैं। इनसे प्रेरणा न सही, सहानुभूति तो मिलेगी ही। मेरे साधारण-से जीवन के पिछले पृष्ठों में एक ऐसा इतिहास लिपटा पड़ा है, जो सुनने-समझनेवालों से कुछ कह सकेगा। इन उलझी हुई तसवीरों में कही-कहीं प्रकाश भी है।

मैं जानता हूँ कि मेरी कहानी लाखों व्यक्तियों के संघर्षमय जीवन की रागिनी मे एक छोटी-सी तान बनकर लय में मिल जाएगी; फिर भी हो सकता है इन पंक्तियों में किसी को कही कोई उपयोगी बात मिल जाए। मैं एक बार अपने से मिलना चाहता हूँ, अपने बचपन के साथ खेलना चाहता हूँ, जवानी के साथ मचलना चाहता हूँ, बुढापे को चेतावनी देना चाहता हूँ।

आँखें खोलीं बीकानेर राज्य के एक कस्बे सरदार शहर मे। पुराने राजपूताना के देशी राज्यों मे क्षेत्रफल के हिसाब से बीकानेर का दूसरा स्थान था। रियासत की आबादी उस समय सात-आठ लाख के आस पास थी। अधिकांश भाग मरुभूमि था। राज्य की गद्दी पर एक प्रतिभाशाली नरेश बठे थे—महाराज गंगासिंह। मेरे जन्म के समय उनकी जवानी अपने पहले चरण में थी, पर प्रतिभा की आभा छिटकने लगी थी। उन्होने मेरे जन्म के इस बारह वर्ष बाद ही 'गंगा नहर' की रचना से उस मरुभूमि के उत्तरी हिस्से की काया पलट दी थी। लगभग पचास वर्ष तक राज्य का हर प्रकार से सम्पन्न करने का महाराज ने निरन्तर प्रयत्न किया और फरवरी १९४३ में प्रजा को शोकाकुल छोड़ कर वह ससार से चले गए।

वैसे राजपूताना की रियासतों में प्रजा की पीड़ा की दर्दनाक कहानियाँ हमने सुनी थी। आसपास के राज्यों में आए दिन डाके पड़ते थे। लेकिन गंगासिंह का कुछ ऐसा आतंक था कि उनके राज्य की सीमा में शायद ही कभी लूटखसोट हुई हो। हालांकि १९१९-२० में गांधीजी का स्वराज्य आन्दोलन शुरू हो गया था, फिर भी हममें से अधिकांश राजा के भक्त थे। बचपन से ही मैंने लोगो के कण्ठ से यह आवाज निकली सुनी है, 'घणी घणी-खम्मा अन्नदाता !'

बीकानेर की रियासत को जन्म लिये सन् १९७० में पूरे ५०५ वर्ष हुए। सन् १४५६ में जोधपुर-नरेश राव जोधाजी के पुत्र राव बीकाजी ने इस राज्य की स्थापना की थी, पर वह 'राजा' नही थे, एक स्वतन्त्र सरदार थे। 'राजा' की उपाधि इस घराने के छोटे शासक रायसिंह जी को सम्राट अकबर से प्राप्त हुई थी। उन्होंने पंजाब के बागियों को अकबरी झंडे के नीचे सिर झुकाने को मजबूर किया था। राजा रायसिंह अकबर के यशस्वी सेना-पतियों में से थे।

अपने शासन-काल में रायसिंह ने बीकानेर नगर की उन्नति की। प्रसिद्ध पुराना किला उन्ही का बनवाया हुआ है। यह सन् १५९३ में बन कर तैयार हुआ था।

इस कुल को 'महाराजा' की उपाधि सम्राट औरंगजेब ने सन् १६८७ में में प्रदान की थी। राजा अनूपसिंह ने औरंग जेब के राज्य को सुदृढ़ बनाने मे बड़ा पराक्रम दिखाया था। इसके अलावा बीकानेर के राजघराने की बहनें और बेटियाँ भी उस समय तक मुगल हरम की शोभा बढ़ाने लगी थीं।

इस प्रकार यह राज्य दिल्ली-दरबार में महत्ता प्राप्त करता गया। सन् १८५७ में भारतीय क्रान्ति को कुचलने में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सैनिक सहायता के एवज में पंजाब के ४१ गाँव इस राज्य को दे दिये गए।

प्रथम महायुद्ध में महाराजा गगासिंह ऊँटों की अपनी पलटन लेकर खुद अरब तक गए। उनकी सेवाओं से प्रसन्न हाकर ब्रिटिश सरकार ने भारत की ओर से उन्हें पेरिस के सन्धि-सम्मेलन में निमन्त्रित किया। सन् १९१९ के वार्साई के ऐतिहासिक सन्धि पत्र पर गंगासिंह के भी हस्ताक्षर हैं। इस सम्मेलन में गंगासिंह जी के भाषण और उनकी प्रतिभा की सराहना सभी लोगों ने की थी। वार्साई की सन्धि को पक्षपातपूर्ण शर्तों ने द्वितीय महायुद्ध की भूमिका बना दी।

ब्रिटिश शासन-काल में भारत की बड़ी रियासतों में बीकानेर का छठा स्थान था। सन् १९४९ में इसकी आबादी १३ लाख से ऊपर थी। देशी राज्यों के विलयन के बाद राजपूताना—'राजस्थान' हो गया। राजस्थान में २६ जिले हैं। सबसे बड़ा जिला जैसलमेर का है—क्षेत्रफल ३८,४४० किलोमीटर; दूसरा नम्बर बाड़मेर का है—क्षेत्रफल २७,३७० किलोमीटर और तीसरा है बीकानेर—क्षेत्रफल २७,११८ किलोमीटर।

जिस प्रकार गत ६० वर्षों में भारत का इतिहास बदल गया, भूगोल बदल गया, मन और भावना बदल गई, उसी प्रकार हमारा राजपूताना भी बदल गया है। पुराने शौर्य और त्याग की कहानी इतिहास की गोद में पड़ी सो रही है। राजसत्ता के स्थान पर अब प्रजातन्त्र है। यह कहना भी कुछ कठिन है कि जनता वर्तमान परिवर्तन से अधिक सुखी व सम्पन्न है या अधिक संतुष्ट है।

एक बात जरूर स्पष्ट है, चाहे राजाओं के शासन-काल में जनता अधिक दबी हुई, पीड़ित या सन्तप्त रही हो, पर भारतीय परम्परा की यह विचित्र मर्यादा है कि अपने अधिकांश नरेशों के प्रति उसके मन में अब भी आदर है, प्रेम है।

विभाजन के पहले अखण्ड भारत के १८,०८,६८० वर्ग मील में से ७,१२,५०८ वर्ग मील क्षेत्र में देशी रियासतें फैली हुई थीं। समूचे देश की आबादी सन् १९४१ में ३४,२८,३७,८०० थी, जिसमें से ८,१३,१०,८४५ आबादी देशी रियासतों में रहती थी। इनमें कई तो बहुत छोटी रियासतें थीं। राजपूताना में एक रियासत केवल १९ वर्गमील क्षेत्र में थी; २१ नरेश राजपूत थे, दो जाट थे—भरतपुर और धौलपुर के नरेश; दो मुसलमान थे—पालनपुर और टोंक के शासक। इन रियासतों की तीन चौथाई आबादी केवल खेती पर ही आश्रित थी।

विलयन के समय बीकानेर राज्य का वास्तविक क्षेत्रफल २३,३१७ वर्ग मील और आबादी १२,९२,९३८ थी; बीकानेर शहर की आबादी १,२७,२२६ थी। राज्य में कोयले की एक छोटी-सी खान थी और कुछ खानें थीं नमक की। उद्योग-धन्धों मे कम्बल व दरी बनाना, ऊन और चमड़े का माल तैयार करना आदि मुख्य काम थे। दस्तकारी में सोने-चांदी के आभूषण तथा लकड़ी के काम प्रसिद्ध थे, जो अब भी हैं। बीकानेर की मिश्री, भुजिया और पापड़ भी भारत में प्रसिद्ध हैं।

बीकानेर ही नहीं, बल्कि सारा राजस्थान वीरभूमि है। युगों से इसकी

वीरांगनाएं अपने नवजात शिशुओं को वीरोचित मृत्यु का उपदेश देती आई हैं, विलासितापूर्ण जीवन को मातृभूमि के लिए कलंक की संज्ञा देती आई हैं। हमारे राजस्थानी घरों में माताएं बच्चों को झूला झुलाती हुई गाती थीं :

इला न देणी आपणी रण खेतां भिड़ जाय;
पूत सिखावे पालणें, मरण वड़ाई माय"।

अर्थात्—हे पुत्र, मर जाना, प्राण दे देना, पर अपनी भूमि को दूसरों के हाथ में न जाने देना। पालने में माता अपने पुत्र को यह सीख देती है।'

माता अपने बच्चों से कहती है कि विपत्ति के समय 'हाय री, माय' कहना कलंक है। मरते समय कभी मां को याद न करना, इससे कुल को कलंक लगता है। मरना है तो हंसते-हंसते मरो, मरते समय दुर्बलता मत दिखाओ :

माणेरा मत रोय, मत कर राती आंखियां;
कुल में लागे खोय, मरता मां न समरजे"।

'बालक भी अपनी माता कहता है :

सिंघु सयानो सापुरुष, ऐ लोरा न कहाय;
बड़ा जिनावर मार के, छिन में लेय उठाय"

अर्थात्—सिंह, बाज और वीर पुरुष कभी छोटे नहीं होते। बड़े से बड़े जानवर को मार कर वे क्षण भर में उसे उठा लाने की सामर्थ्य रखते हैं।

राजा कुशलसिंह बीकानेर से पूछते है :

कुशलो पूछे कोटने, बिलखो किम बीकाण,
म्हा ऊभां तो पाल हूं, भले न ऊगे भाण।

अर्थात्—हे बीकानेर के गढ़, तू क्यों बिलख रहा है ? मेरे रहते तुझे कोई नष्ट कर दे तो फिर सूर्य उदय नहीं हो सकता।

ऐसी वीरता की छाया में उस समय के राजपूत पले थे। उनमें से कई नरेश बड़े बहादुर होते थे। इसलिए वे अनायास ही सबकी श्रद्धा के पात्र बन जाते थे। उनकी पुरानी गौरवगाथा के कारण ही आज तक उनके वंशजों के प्रति लोगों में सहानुभूति है।

मैं राजा गंगासिंह के जमाने में पैदा हुआ। बचपन से ही हमें राजभक्ति का वातावरण मिला था। जब कभी वह हमारे कस्बे में आते, प्रजा में उत्साह की लहर दौड़ जाती। आजकल की तरह मिलों के मजदूरों को

छुट्टी देकर या स्कूल के बच्चों को इकट्ठा करके स्वागत का स्वाँग नहीं रचना पड़ता था। लोग खुद अपना घर-द्वार सजाते, सड़कों पर पानी का छिड़काव होता, टूटी-फूटी सड़कों में भी जान आ जाती।

२१ तोपों की सलामी दी जाती। लोग ताल की कोठी के चारों ओर उमड़ पड़ते। साहूकार, व्यापारी, जमींदार सभी जाकर 'नजर' करते। जो महाजन परदेश से अच्छा धन कमा कर लाते वे राजा को चाँदी की चौकी और सोने की गिन्नियाँ भेंट करते। चाँदी की चौकी रुपयों से बनती—चौकोर और चौड़ी, जो दस हजार से लेकर बीस हजार रुपयों तक में बन कर तैयार होती।

इसी चौकी पर राजा को बिठा कर उनका तिलक किया जाता और 'नजर' पेश होती। चौकी राजा की हो जाती। राजा भी धनी महाजनों का उनके धन और नजराने के अनुरूप सम्मान करते। आज तो किसी को भी 'सेठ' कह सकते है और कोई भी पैरों में सोने के गहने पहन सकता है, पर पचास-साठ साल पहले बीकानेर मे 'सेठ' वही कहलाता, जिसे राजा से यह खिताब मिलता था। सेठों को राज्य की ओर से जकात माफ कर दी जाती। मुफ्त मे या नाम मात्र के मूल्य पर बहुत-सी जमीन मिल जाती। अन्य राजकीय सुविधाएँ भी प्राप्त होती। सेठ सम्पतराम जी को राज्य की तरफ से ये मुरतब (सम्मान) मिले हुए थे।

हम राजभक्त थे—यह तो लिख चुका हूँ, पर इतना और लिख दूँ कि गंगासिंहजी के जमाने मे प्रजातन्त्र की लहर राजपूताना में भी फैल रही थी। जयपुर और जोधपुर मे प्रजा-मण्डल जोर पकड़ रहा था, पर बीकानेर में राजा की सतर्कता से विशेष कुछ नहीं हो पाया। उन दिनों गांधी टोपी राज-द्रोह की गन्ध देती थी। गाधी टोपी वालो का राज्य मे प्रवेश करना भी कठिन था। राजसत्ता इतनी सतर्क थी कि गाँधीजी का नाम हमारे गाँवो में सन् १९१८-१९ तक पहुँच पाया था। लेकिन जो भी हो, उस महापुरुष का नाम हमारे कानो तक पहुँचने से रोकने की शक्ति राजदरबार मे नही थी।

इस नाम के साथ चमत्कार भी जुड़े हुए थे। हमारे शहर के श्री नेमीचद आंचलिया बम्बई में रहते थे। उन्होने गाधीजी को देखा था और यह बड़े सम्मान की बात थी। लोग उनसे बड़े आदर से गाँधीजी के बारे मे पूछते। वह बड़े आत्मविश्वास के साथ कहते कि गाँधीजी के चेहरे के चारो ओर प्रकाश का देवसुलभ चक्र रहता है, उनके हाथ का पानी पीने से अनेक बीमारियाँ मिट जाती हैं।

ऐसी चमत्कार की बातें हम बच्चों के कानों तक भी पहुँची—गाँधीजी के जेल के भीतर होते ही जेल का फाटक अपने आप खुल जाना, अंगरेज पहरेदारों का सो जाना, गांधीजी को जेल देने वाले हाकिम की पत्नी और बच्चों की एक ही सप्ताह में मृत्यु हो जाना आदि अनेक बातें। उस महापुरुष के दर्शन लगभग अट्ठाइस वर्ष के बाद कलकत्ता के निकट सोदपुर खादी-आश्रम में हुए।

उस जमाने में हमारे कस्बे में एक करोड़पति और बीस-पचीस लखपति थे। वैसे तीम-चालीस हजार वालों का भी सम्मान था। वे भी रोबदारी से रहते थे। ऐसे लोगों के विषय मे गाँवों में आपस मे बातें भी होती। कहा जाता था 'फलां बडा हजारीखंगारी है।' वैसे रोबदाब तो हम भोले बालकों और सीधे-सादे देहातियों पर उन नवयुवकों का भी जम जाता, जो कलकत्ता, बम्बई से पैसा कमा कर गाँव आते। उनके अच्छे विदेशी कपड़े, चमकती घड़ी, विदेशी टार्च आदि हमारे आदर-भरे आश्चर्य व कुतूहल के विषय बन जाते।

देशी राज्यों के जमाने में पहले जो होता था, वह आज नहीं होता—ऐसा मैं नहीं कह सकता। उस समय कस्बे में सबसे अधिक तहसीलदार व थानेदार का रोबदाब रहता। वे ही सर्वेसर्वा थे। उनका बहुत आतंक था, पर उनसे बढ कर छुटभैए जमीदारों, ठाकुरों और सामन्तों से भय बना रहता था। ग्रामीणों से लेकर छोटे व्यापारी तक इनके सामने सिर उठाने की हिम्मत नहीं करते थे। उनकी उचित-अनुचित आज्ञा को चुपचाप मानना पड़ता था। जरा-सी आनाकानी करने पर कड़ा दण्ड मिलता था। किसी जमींदार के मरने पर उस गांव के बड़े बूढ़ों को भी दाढ़ी-मूंछ साफ करानी पड़ती थी। किसी शादी-विवाह वाले घर के लोग अगर आनाकानी करते, तो उनका जबरन मुडन कर दिया जाता था। जमींदारों के गाँवों मे से लोग घोडे या ऊँट पर चढकर नही जा सकते थे।

किसी की खड़ी फसल कटवा ली जाती, किसी की गाय-भैंस मँगवा ली जाती। बहू-बेटी को भी जबरन बुलवा लेने में उन्हें संकोच न होता। मुझे याद है, एक ठाकुर ने गाँव में एक दरोगा (गोला जाति) की नव विवाहिता पत्नी को बुलवा भेजा। उसने अपनी बहू की दुर्गति कराना अस्वीकार कर दिया। क्रुद्ध होकर ठाकुर ने दरोगा की आँखें निकलवा ली। वह ठाकुर राजा का मुँह लगा मुसाहब था। राजा के पास फरियाद पहुँची, पर ठाकुर साहब का कुछ न बिगड़ा। इस घटना से उसका आतंक और भी बढ़ गया।

लेकिन कभी-कभी इन सामन्तों को 'काकी का जाया' भी मिल जाता, जो इनको अपनी हिकमत से परास्त कर देता। एक बार एक नए आए हुए तहसीलदार ने एक नाई को बेगार में हजामत बनाने के लिए बुलाया। उस्तरे को हाथ में लेते हुए नाई ने कहा'—"हुजूर थोड़ी राख मँगवा लीजिए।"

तहसीलदार ने आश्चर्य से पूछा, "क्यों राख का क्या होगा ?"

"सरकार मेरा हाथ काँपता है। जहाँ दाढ़ी छिल कर खून निकलेगा, राख लगाता रहूँगा।" नाई ने अत्यन्त नम्रता-पूर्वक कहा।

घबराकर तहसीलदार ने अर्दली से उस निकम्मे नाई को निकाल बाहर करने का हुक्म दिया। कई दिनों तक गाँव में इस बात की बड़ी चर्चा रही।

महाराज गंगासिंह जहाँ जाते, मौके पर ही दो-चार मुकदमे निपटा देते। यदि उन्हें किसी अधिकारी या सामन्त मुसाहब को निकालना होता, तो पहले से ही गाँव के लोगों को कहला देते थे कि जब मैं आऊँ तब उनकी शिकायत करना। लोग ऐसा ही करते। महाराजा उसे बुलाकर सबके सामने डाटते और दण्ड देते। इस प्रकार तुरत न्याय का नाटक पूरा हो जाता, प्रजा पर प्रभाव भी अच्छा पड़ता और अफसरों व सामन्तों में आतंक बना रहता। इतना सब होते हुए कस्बे का जीवन शान्ति से बीतता था। ऊपर बताई हुई कटुताएँ उस समय की साधारण बातें समझी जाती थीं। लोगों के लिए अपने खेत, अपना कारबार और छोटे-मोटे मनोरंजन के साधन ही सब कुछ थे।

मेरी पितृभूमि बीकानेर राज्य का छोटा-सा कस्बा बीदासर है—सुजानगढ़ के पास। इसे बीकानेर राज्य के संस्थापक बीकाजी के भाई बीदाजी ने बसाया था। मेरे पिताजी का जन्म यहीं हुआ था। इस स्थान का उस समय ताँबे की छोटी-सी खान के कारण महत्त्व था।

व्यापार के लिए पितामह सरदार शहर चले आये थे। महाराजा गंगासिंह महाराजा डूंगरसिंह के दत्तक पुत्र थे। डूंगरसिंह के पिता सरदारसिंह ने अपने पिता महाराजा सूरतसिंह के शासन-काल में जाटों के हाथ से छीन कर इस स्थान का नाम सरदार शहर रखा था। बीकानेर राज्य का यह १३५ वर्ष पुराना कस्बा है।

मरुभूमि के बालू के बड़े-बड़े टीलों के बीच मे 'थली' नामक अञ्चल है। उसी का केन्द्र है सरदार शहर। किसी बड़े शहर या रेलवे लाइन से यह इतना दूर था कि नई रोशनी के यहाँ तक पहुँचने में बहुत समय लग गया। बहुत वर्षों तक यह अपनी प्राचीनता से लिपटा रहा। जीवन स्नेहमय और

मर्यादापूर्ण था। सादगी के साथ सरलता थी। रेलवे लाइन ३० मील दूर रतनगढ़ तक ही आई थी। उस जमाने में रेलवे लाइन राजपूताना में थी भी बहुत कम।

आज के लोगों के लिए पुराने राजस्थान को समझना भी कठिन होगा। अब हर कोने में रेलवे लाइन है। सन् १९६८ से राजस्थान में दस हजार चार सौ किलोमीटर में रेल दौड़ रही है। सरदार शहर में सन् १९१६ में रेलवे स्टेशन बना। सन् १९४० में बिजली आई और सन् १९४२ से यहाँ बस-सेवा भी सुलभ हो गई।

लेकिन उस जमाने में यातायात के लिए ऊँट, साँड़नी (ऊँटनी) या घोड़ा होता। ऊँटगाड़ी या घोड़े से नागौरी बैलों की जोड़ी के रथ होते। एक और भी सवारी मुझे याद है—सेठ भैरोंदान भंसाली की दो सफेद बकरों की गाड़ी। दो सुन्दर बकरे थे और सुन्दर-सी छोटी फिटन गाड़ी थी। उसमें बैठ कर जब उनके बच्चे बाजार में निकलते तो लोग उन्हें देखने अपनी दूकानों से नीचे उतर आते। घोड़े की सवारी सबके बस की बात नही थी। घोड़े पर बैठना बड़े आदमी का ही अधिकार था, उच्च पद या मर्यादा की निशानी थी। हमारे यहाँ घोड़ा नही था, पर मुझे घोडे पर बैठने का शौक था। कुछ जान-पहचान के परिवारों से सवारी के लिए घोड़ा माँगा जा सकता था, पर पितामह मुझे चढ़ने न देते, चोट लगने के भय से, लेकिन मैं एक बार घोड़े की सवारी कर ही बैठा। घोड़ा नासमझ सवार को खूब पहचानता है। उसने मुझे पटक दिया और मुझे चोट आ गई।

पितामह ऊँट पर भी नहीं बैठने देते थे। जब हम दोनों भाई मेला-तमाशा ऊँट पर चढ़ कर देखना चाहते, तब वह कहते कि हमारी बीस हजार की हवेली ऊँट से ज्यादा कीमती है, उसी पर क्यों न बैठा जाए। हम बच्चे उस समय उनके तर्क के आगे झुक कर हवेली के बरामदे में बैठे-बैठे गणगौर की सवारी देखते और मन में सन्तोष कर लेते।

साइकिल भी काफी देर से हमारे यहाँ पहुँची। उस पर चढ़ना भी आसान नहीं था। यह भी 'नये फैशन' और सम्पन्न लोगों की चीज समझी जाती थी। साइकिल चलाना हमें बड़ा अच्छा लगता था, पर बचपन में साइकिल पर बैठने का मैंने कभी साहस नहीं किया। दो चार बार साइकिल के पीछे की सीट पर जब बैठा और साइकिल तेज गति से दौड़ने लगी, तब एक सिहरन-सी हुई, कुछ डर भी लगा, लेकिन चालक की पीठ को पकड़ कर बैठा रहा।

हमारे शहर में पहली मोटरकार १९१८ में आई—हमारे शहर के सबसे धनी सेठ संपनराम जी के यहाँ। रेल से हम बच्चों का और बड़े-बूढ़ों का परिचय हो चुका था। सन् १९१६ में रतनगढ से सरदार शहर तक रेलवे लाइन आ गई थी। हमारे कस्बे से दो मील दूर साजनसर का रेत का बड़ा टीला था, उसको काट कर लाइन बिछाई गई थी। गाँव में कई वर्षों तक इसकी चर्चा रही कि हमारे महाराजा गंगासिंह कितने प्रतापी हैं कि साजनसर के दैत्य जैसे टीले को काट दिया। इस टीले को काटना उस समय हमारे लिए उतना ही आश्चर्यजनक था जितना कि कश्मीर में पूंछ की सुरंग का काटना रहा होगा।

हम बच्चे बड़े चाव से रेल की पटरी का बिछाना देखा करते। वैसे रतनगढ़ से सुजानगढ या चुरू जाते समय आगपानी के इस जादू से हम परिचित हो गए थे। जिस समय पहली बार रेलगाड़ी हमारे सरदार शहर के प्लेटफार्म पर आई, उस समय का दृश्य मुझे आज तक नहीं भूलता। आसपास के गाँवों के स्त्री-पुरुष उमड़ पड़े थे। कुछ लोग तो इंजन पर चढ़ाने के लिए चीनी के बताशे और रोलीमोली का चढ़ावा भी ले आए थे। कितने नर-नारियों ने धुआँ उगलते हुए देवता को सादर प्रणाम भी किया था।

आगपानी का मेल तो समझ में आ गया; इंजन का धुआँ भी दिखाई पड़ता था; पर मोटरकार मे छिपी शक्ति बड़े कुतूहल की चीज थी। जब मैं आश्चर्यचकित, मुंह फैलाए संपतरामजी की मोटर देख रहा था, तब मैंने कल्पना भी नही की थी कि एक दिन मेरे पास भी बीसियों मोटरें होंगी। एक बार धारीबाल और लाल इमली का सबएजेंट हमारे कस्बे में ऊन खरीदने आया। हम लोग उसके पीछे हजार दो हजार के सौदे के लिए घूम रहे थे, उसकी खुशामद में लगे हुए थे। तब मैंने कल्पना भी नहीं की थी कि एक दिन मैं इन दोनों मिलों का सचालन करूँगा। भाग्य एक पहेली है।

इन 'पहेली' जैसी चीजों ने हमारे शांत जीवन में हलचल पैदा कर थी थी। मैं नही कह सकता कि १६ अप्रैल १८५३ को, जब भारत में ३२ किलोमीटर में पहली ट्रेन दौड़ी थी, नागरिकों को कितना अचम्भा हुआ होगा ! हमें तो अपने बचपन की याद है कि जब पहली ट्रेन धुआँ उगलती, सीटी बजाती आती हुई दिखाई पड़ी, तब सारा कस्बा उस महान आश्चर्य को देखने के लिए उमड़ पड़ा और जो लोग ३० मील दूर जाकर रेलवे स्टेशन नही देख आए थे, उनके लिए यह वस्तु भय, आशंका व चमत्कार की कहानी थी।

रेल से भी अधिक आश्चर्य की वस्तु बिना आगपानी से चलने वाली वह फिटन-गाड़ीनुमा ऊँची मोटरकार थी, जिसे हम देखने बच्चे दौड़ पड़े थे। अनेक बड़े बूढे उसे छूने से डरते थे।

मुझे याद है कि एक ने सहमते हुए अपने साथी से सवाल किया था, "अगर यह रुक गई तो क्या होगा ?"

"अपना ऊँट तो है, खींच ले जाएगा," साथी ने जबाब दिया था।

जब मैं बड़ा हुआ तब उसकी लगभग २५ वर्ष पहले की कही हुई बात मुझे प्रत्यक्ष दिखाई पड़ी—सड़क पर बिगड़ गई मोटर को ऊँट खींच रहा था।

मुझ पर भी एक बार यही बीती थी। एक दिन सूरज डूबते हमारी मोटर खराब हो गई। शहर पहुँचना था। मेरे साथ एक बड़े प्रतिष्ठित सेठजी थे। हम पास के गाँव में गये कि किसान के ऊँट में गाड़ी बाँध कर ले चलें, पर किसान ने अस्वीकार कर दिया। उसने कहा, "दिन भर का थका मेरा ऊँट अब आराम करेगा।"

सेठजी पास ही खड़े थे। मैंने उनका नाम लेकर कहा, "अरे, भाई, सेठजी की मोटर बिगड़ गई है, बहुत इनाम मिलेगा।"

किसान ने अपने ऊँट को थपथपाया और सादगी से बोला–"मेरा सेठ जी तो यही है।"

उसने ऊँट पर प्रेम से हाथ फेरा और वह उसके दानेपानी में लग गया।

यों १९१६ तक सरदार शहर एक प्रकार से कूपमडूक ही था, पर सरदार शहर के सभी लोग अपने दायरे में बन्द नहीं थे; सैकड़ों साहसी व्यक्ति सुदूर आसाम और कलकत्ता जाकर व्यापार करते थे और जब वे लौट कर आते तो कस्बे भर में हलचल हो जाती। ऐसा लगता जैसे हरेक के घर का बिछुड़ा हुआ साथी आ गया हो। गाँव के लोग उनके यहाँ जाकर परदेश में बसे अपने सगे-सम्बन्धियों के सुखदुःख की बातें पूछते। उनके साथ वहाँ रिश्तेदारों द्वारा भेजी हुई अनेक प्रकार की चीजें रहती। उस समय लोग डाक पार्सल का खर्च नहीं करते थे। पहले से ही जानकारी रखते कि फलां व्यक्ति 'देश' जाने वाला है।

बचपन में ही मैंने सेठ संपतराम के अभ्युदय की अद्भुत गाथा बड़े कुतूहल से सुनी थी। उनके पिता चैनरूपजी साधारण मजदूरी करके पेट पालते थे। एक दिन राजमिस्त्री ने उन्हें ढिलाई से काम करते देखकर अपनी

'हथेनी' से उन्हें मारा। चोट सिर पर तो लगी ही, मन पर भी लगी। बस बालक चैनरूप ने संकल्प किया कि यहाँ काम न करेंगे। यह कलकत्ता भाग आए और फिर तो अपने परिश्रम व ईमानदारी से करोड़पति ही हो गए। लोगों का कहना था कि मिस्त्री ने उन्हें मारा नहीं, उनके सोते हुए भाग्य को कुरेद कर जगा दिया। हमारे यहाँ इस समय तक भी लोग कहते हुए सुने जाते हैं कि तुम कहाँ के 'चैनरूप संपतराम' आ गए हो!

इस फर्म की एक विशेषता का उल्लेख यहाँ आवश्यक है। यह सभी जानते हैं कि उन्होंने कभी चोरबाजारी नहीं की; यहाँ तक कि कठिन बीमारियों में भी अधिकृत मूल्य से ज्यादा में दवा नहीं खरीदी। मेहमानों को राशन की चीनी खिला कर खुद गुड़ खाते रहे। कूपन के अतिरिक्त पेट्रोल ऊँचे दामों में मिलता, इसलिए बहुत सी मोटरों के रहते हुए भी इस फर्म के मालिकों को कभी-कभी पैदल आना-जाना पड़ता था। बहुत वर्षों के बाद सेठ संपतराम के पौत्र कन्हैयालालजी ने 'गांधी विद्या मंदिर' नाम के एक वृहद शिक्षा-संस्थान की स्थापना की। आज यह प्रतिष्ठान देश में अपने ढंग का अनोखा है। इसके अनेक कार्यों में गायों और सांड़ों की नस्ल सुधारने का काम भी है। यहाँ की कुछ गायों से प्रतिदिन २५ से २७ किलो तक दूध निकलता है। कई बार अखिल भारतीय प्रतियोगिता में इन्हें प्रथम या द्वितीय पुरस्कार मिल चुके है।

कुछ वर्षों से कन्हैयालालजी ने एक प्रकार से वानप्रस्थ ले लिया है।

मुझे वृक्षों से स्नेह है—चाहे वे फल वाले हों या साधारण। मैं उन्हें इतिहास का साक्षी मानता हूँ। उनकी छाँव में गरीब जनता फ़लती-फूलती रहती है। जमाना बदल गया, लोग बदल गए, मान्यतायें बदल गईं; लेकिन वृक्ष निर्मोही साधु की तरह मौनव्रती रहे। इतिहास के पन्ने उलटते गए लेकिन वृक्षों ने अपने पुराने पत्ते गिराकर फिर नई चादर ओढ़ ली, उनका क्रम नहीं बदला। इन्ही में से कुछ वृक्षों ने मेरा बचपन देखा। कभी-कभी जब कलकत्ता से गाँव जाता तो ये पेड़ मेरे यौवन की झलक के गवाह भी बनते। अब प्रौढ़ावस्था को भी ये देख रहे हैं और जब मैं नही रहूँगा तब भी इनकी अदृश्य स्मृति में अमर रहूँगा। किसी पुराने वृक्ष को काटे जाते देख कर मुझे पीड़ा होती है, जैसे किसी ने युगों के जीवन के एक अध्याय को ही काट डाला हो।

यदि पीपल, वट, नीम, खेजड़ा, गूँदी या जाल के वृक्ष नहीं होते, यदि बेर की झाड़ियाँ नही होतीं, तो हमारे मारवाड़ या 'थली प्रदेश' का जीवन वास्तव में ही नीरस होता। कार्तिक में बेर पक जाते। बड़े बेर अपने लाल पीले रंगों

से सबका मन मोह लेते। महीनों तक इस रेगिस्तानी चेरी से गरीब अमीर सभी को आनन्द मिलता। गाँव के नोहरों, बाड़ों और खेतों में बहार आ जाती। जिस तरह खेतों में जाकर मतीरा, ककड़ी और बाजरे का सिट्टा खाने की गोठ (पिकनिक) की कीमत किसान नहीं लेता था, उसी प्रकार साधारण तौर पर बेर खाने में कोई रोक-टोक नहीं थी। हम बच्चे पाठशाला के बहाने घर से निकलते, किसी नोहरे या बाड़े में जाकर बेर की झाड़ियों पर हमला बोल देते। चोरी से फल खाने में बड़ा मजा आता। कभी कोई माली या रखवाला देख लेता तो झिड़कियाँ मिलतीं या थोड़ी मरम्मत हो जाती।

शाम को घर आकर जब भूख न होने का बहाना बनाते तो दादीजी हाथ से पेट दबा कर पूछतीं—"आज कहाँ क्या खा कर आए हो?" ज्यादा जानकारी के लिए पड़ोस के बच्चों से पूछताछ की जाती। ऐसी मान्यता थी कि ज्यादा बेर खाने से पेट में वायु होकर पीड़ा होती है, लेकिन मेरे साथ कभी ऐसा नहीं हुआ। कहते हैं कि मार के आगे भूत भागता है, पर हम गुरुजी की पिटाई की परवा न करके दूसरे दिन फिर किसी न किसी बहाने बेर खाने निकल पड़ते। मनोवैज्ञानिक ठीक कहते हैं कि शायद ही ऐसा कोई बालक पैदा हुआ हो, जिसने फलों के बाग में माली की आँख बचा कर फल न खाए हों।

बेरों के मौसम के बाद आती जलौटियों की बहार। विशाल 'जाल' वृक्ष मोतीमाणिक नगीनों की चादर ओढ़े बड़े ही लुभावने लगते। ये मोतीमाणिक और कुछ नहीं, इस जाल वृक्ष की बहुत ही स्वादिष्ट और रसदार लाल और सफेद जलौटियाँ थीं, जिन्हें हम बालक बड़े चाव से खाते थे। इन वृक्षों पर हमारी टोली टूट पड़ती, चिड़ियाँ चोखचोख कर विरोध करतीं कि हमारा भोजन छीना जा रहा है, पर हम ऊँची टहनियों पर चढ़ जाते। कभी-कभी धड़ाम से नीचे भी गिर जाते। थोड़ी बहुत चोट लग जाती तो सहला लेते,—कोयला या राख दबा लेते, लेकिन घर जाकर नहीं कहते।

हवा में थोड़ी-सा ठंडक आने पर ये जलौटियाँ खूब पक जातीं। मधुमक्खियाँ इनका रस इकट्ठा करने के लिए इन वृक्षों पर छत्ते लगा लेतीं। कभी कभी हमसे नाराज होकर हमें काट भी लेतीं, पर हम अपनी धुन में मस्त रहते। बेचारे तोते और बुलबुल, जिन्हें यह फल बहुत प्यारा है, हमारा कुछ नहीं बिगाड़ पाते; उलटे वे कभी कभी हमारी पकड़ में आ जाते और उन्हें हम अपने घर पर ले जाकर पास-पड़ोसियों को बड़े गर्व से दिखाते, दूसरे दिन फूसाराम जो बढ़ई के घर जाकर एक अच्छा-सा पिंजड़ा बनवा

कर उसमें श्रीगंगाराम को बिठा देते। महीनों तक उसको 'सीताराम राधेश्याम' का पाठ पढाते। शायद दादीजी इन सब बातों को पसन्द नही भी करती थी, पर इस बहाने हम बच्चों को 'राम' का नाम लेते देखकर वे विरोध भी नही करती।

होली के बाद गूंदी, लेसू और ढालू के फल भी बहुतायत से उपलब्ध होते। गूंदी बड़ा उपयोगी पेड़ होता है। उसकी जड़ से अनेक प्रकार की दवाएँ बनती है। छोटे पीले बेर जैसा फल खाने मे बड़ा मीठा लगता है। उसमें गोंद की तरह का चिपचिपा लसदार पदार्थ रहता है। कहा जाता है कि यह बहुत ही पौष्टिक होता है। गूंदी जाड़ों में फलती है, जब कि ढाल और लेसुवा वैसाख जेठ की गर्मी का फल है।

ढालू मीठा और पाचक होता है, पर लेसुवा कसैला और लसदार होता है। आज-कल यातायात की सुविधाओं के कारण दूसरे प्रान्तों मे अनेक प्रकार के फल आने लग गये हैं, इसीलिए अब ये स्थानीय फल लुप्त होते जा रहे हैं। राजस्थान के इन विशेष फलों के वृक्ष कटते चले जा रहे हैं। अगर प्रदेश सरकार ध्यान नही देगी तो राजस्थान की यह उपलब्धि समाप्त हो जाएगी।

जगल में रोहिड़े व खेजड़े को सस्कृत में शमी वृक्ष कहते हैं। खेजड़ा या 'जाँटी' हमारी मरुभूमि का सदियों से उपयोगी वृक्ष रहा है। इसके पत्ते जिन्हें 'लूंग' कहते हैं, बकरियों, ऊँटों और गाय-बैलों का प्रिय खाद्य पदार्थ है। खेजड़े के लिए पानी की बहुत कम आवश्यकता होती है। वर्ष भर की संचित तरी का उपयोग यह वृक्ष चैत वैसाख के सूखे महीनों में करता है।

प्रकृति की यह लीला है कि जब भारत के अन्य भागों मे पतझड़ शुरू होता है, हमारे रेगिस्तानी प्रदेश में वसन्त की सुषमा दिखाई देती है। चारों तरह हरे खेजड़े बालू प्रदेश को हरे रंग में सराबोर कर देते है। खेजड़े के हरे फल को सांगर कहते हैं। इसका साग बहुत स्वादिष्ट होता है। कैर और साँगर को मिला कर भी साग बनाते हैं, जो न केवल स्वादिष्ट होता है, बल्कि पेट की वायु हरता है और कब्ज दूर करता है। ठडी पूरी के साथ कैर साँगर का अचार एक अनोखा आनन्द देता है। दूर की यात्रा पर जाने वाला शायद ही कोई ऐसा राजस्थानी हो जो अचार को अपने साथ न ले जाता हो। खेजड़ा बहुत उपयोगी है, पर रोहिड़ा केवल देखने में ही सुन्दर होता है। इसका लाभ बहुत कम है; इसके फूल बिना सुगन्ध के होते हैं, इसलिए हमारे यहां मूर्ख के बारे में कहावत है कि फलाँ व्यक्ति रोहिड़े के फूल की तरह है।

राजस्थान में इस प्रकार की कहावतों के माध्यम से बहुत-सी उपदेशात्मक सामग्री उपलब्ध हो सकती है।

पके साँगर को 'खोखा' कहते हैं। छह सात इन्च लम्बा 'खोखा' बहुत ही स्वादिष्ट होता है। हम बच्चे बड़े चाव से इन खोखों को खाते। अधिक खाने से अपच हो जाती। बड़े-बूढ़े हमें सावधान करते रहते कि अधिक मत खाओ।

मुझे याद है, एक बार खोखा खाने की होड़ लगी। जिद्द मे आकर कई बच्चे काफी मात्रा में खोखे खा गए। उनमे से कइयों को हरे पित्त की कै हुई, जिनमें एक मै भी था। शायद पिता जी मेरी पिटाई भी करते, पर मेरी दादीजी ने कह सुन कर बचा लिया।

नीम का वृक्ष भी राजस्थान में बड़ा लोकप्रिय है। इसके फूल को मीझर और फल को नीबोली कहते है। वैसाख के महीने मे जब सफेद मीझर की महक लिये हवा चलती है, तो सबको मुग्ध कर देती है। इसकी छाँव मे गर्मी के मारे लोग विश्राम करते हैं। लोगो के बैठने के लिए महाजन लोग पेड़ के तने के चारों ओर गोल पक्का चबूतरा बनवा देते हैं, जिसे गट्टा कहते हैं। नीम की पतली डालियों से दातौन बनाने, पत्तों और सूखी नीबोली का विभिन्न औषधियों में उपयोग करने के साथ-साथ लोग इसके हरे पत्तों को उबाल कर बोरिक एसिड को जगह इसके उबले पानी से घावों को धोते और सेंक करते हैं, जो बहुत फायदेमन्द होता है।

नीम की ओषधि शक्ति के बारे में हमारे यहाँ एक दिलचस्प कथा प्रचलित है। कहते है कि एक बार जयपुर के एक वैद्य ने एक व्यक्ति को बीकानेर के एक प्रसिद्ध वैद्य के पास पत्र लिख कर भेजा कि 'एक सज्जन को स्वस्थ रूप मे आपके पास भेज रहा हूँ, कृपया इन्हे इसी प्रकार लौटा देना।' उस व्यक्ति को वैद्यजी ने हिदायत दे दी कि रास्ते में बबूल की छाया में ही सोना और बैठना, बबूल की लकड़ी से ही खाना पकाना। उसने ऐसा ही किया।

जिस समय वह बीकानेर के वैद्य के पास पहुँचा उस समय तक उसके शरीर मे अनेक फोड़े हो चुके थे। बीकानेरी वैद्य ने जयपुर वाले वैद्यजी के पत्र को पढ़ा, उस व्यक्ति को देखा और सब कुछ समझ गए। उन्होंने बदले मे उस आगतुक को वापस जयपुर भेज दिया और निर्देश दिया कि रास्ते मे नीम की छाँव में ही सोना बैठना और खाना भी नीम की ही लकड़ी से

पकाना। साथ ही उन्होंने जयपुर के वैद्य को लिख दिया कि 'आपके भेजे हुए व्यक्ति को स्वस्थ हालत में लौटा रहा हूँ।' उस व्यक्ति ने ऐसा ही किया और जयपुर पहुँचते-पहुँचते वह पहले की तरह स्वस्थ हो गया।

कहने का तात्पर्य यह है कि इन किंवदन्तियों और कथाओं द्वारा राजस्थान के लोगों को विभिन्न वृक्षों के गुण-दोषों का ज्ञान करा दिया जाता था।

उपयोगिता की दृष्टि से नीम और खेजड़ा हमारे प्रदेश के सबसे महत्त्वपूर्ण वृक्ष हैं। लेकिन जहाँ तक श्रद्धा-पूजा का सवाल है, पीपल और वट पेड़ सबसे मुख्य हैं। हमारे यहाँ ये बहुतायत से पाये जाते हैं। यह भी मान्यता है कि रात में इन विशालकाय वृक्षों में भूत-प्रेत या जिन्न वास करते हैं। इस भय से लोग रात के समय इनके नीचे नहीं जाते और सहज ही इनसे निकलने वाली कार्बनडाई-आक्साइड जैसी हानिकारक गैस के कुप्रभाव से बच जाते हैं। एक वैज्ञानिक तथ्य को धार्मिक रूप देकर लोगों के गले उतारना शायद अधिक आसान था।

इन वृक्षों के चारों ओर भी गट्टे बना दिए जाते थे। स्त्रियाँ वट और पीपल की पूजा अखण्ड सौभाग्य की कामना के लिए करतीं। सर्दी के मौसम में मेरी दादीजी और अन्य स्त्रियाँ बहुत तड़के इनकी परिक्रमा करने जातीं; १०८ फेरियाँ करनी पड़तीं। जिन वृद्धा स्त्रियों से फेरियाँ नहीं की जातीं, वे अपने स्थान पर हम बच्चों से फेरियाँ लगवातीं। दादीजी मुझे बड़े तड़के जगा देतीं और साथ ले जातीं। मुझे उस सर्दी के मौसम में इतनी जल्दी उठना बुरा लगता था, पर जाना ही पड़ता था। एक लालच भी था कि वापस आने पर माखन-मिश्री का प्रसाद मिलेगा। परिक्रमा के समय अनेक स्त्रियाँ और बच्चे रहते और बड़े ही मनोहर भजन गाए जाते। इस परिक्रमा से भगवत-भक्ति के साथ-साथ व्यायाम भी हो जाता, स्वास्थ्य भी ठीक रहता। ●

२

बिना हुक्म भगवान के, पंछी बोले कूण

गांव की तीन-चौथाई आबादी हिन्दू और एक चौथाई आबादी मुसलमान थी। आपसी भाईचारा जीवन का अंग था। एक दूसरे के मकान आपस में सटे हुए थे। प्राचीन परिपाटी के अनुसार लोग आपस में ताऊ, चाचा, मामा के नाम से पुकारते थे। इनमें हिन्दू-मुसलमान का कोई भेदभाव नहीं था। सभी एक दूसरे के सुख-दुःख के साथी थे।

छुआछूत उस समय भी थी, पर किसी को वह आज की तरह खलती नहीं थी। समाज के विधान और परम्परा से चलने वाले नियम सबको स्वीकार थे। हरिजन अपने को भगवान् की मरजी से अछूत मानते। आज औपचारिकता बढ़ गई है; आपसी छुआछूत भी कम हो गई है; हरिजनों के लड़के स्कूलों में अन्य सवर्ण जातियों के बच्चों के साथ पढ़ते भी हैं, लेकिन पहले जैसा भाईचारा और प्यार नहीं रहा। उस समय हम घर की बूढ़ी भंगिन को रामी दादी कहते थे, पड़ोसी मुसलमान रँगरेज को मौलाबक्श चाचा। सभ्यता और विकास के साथ परस्पर स्नेह और प्यार की भावना विदा हो गई है।

मुसलमान का छुआ कोई पदार्थ हिन्दू नहीं खाते थे, लेकिन मुसलमानों को इससे कोई दुःख नहीं होता था। मैंने देखा है कि हमारी बैठक में जब नौकर पानी लेकर जाता, तो वहां बैठे हुए मुसलमान स्वयं उठकर बाहर चले जाते। वैसे त्योहार दोनों जातियों के लोग मिल जुलकर मनाते। ईद, बकरीद और मोहर्रम में हम सब भाग लेते। गोटे लगे हुए नए कुरते और सलमेसितारों वाली टोपी पहन कर ताजिया देखने जाते। ताजियों के बारे में यह धारणा थी कि उनके नीचे से बीमार बच्चों को निकालने से उनकी बीमारी दूर हो जाती है। इसलिए माताएँ और बहनें अपने बच्चों को ले कर ताजिए के दिन रास्तों पर खड़ी हो जातीं। यद्यपि इस अवसर पर मुसलमानों की संख्या अधिक रहती, पर वे सभी हिन्दुओं की बहू-बेटियों की बहुत इज्जत करते और कभी कोई बुरी घटना नहीं घटी।

हम हाथों में छोटे-छोटे रंगीन डंडे भी ले जाते। 'हाय! हुसेन हम

नहीं थे.......' का अर्थ तो उस समय नहीं समझते थे, पर हम भी मुसलमान बच्चों के साथ कण्ठ से कण्ठ मिला कर चिल्लाने में शरीक हो जाते। जोर-जोर से उनको छाती पीटते देखते तो हमें बड़ा डर लगता। ईद की सेवैंया तो हम नहीं खाते, पर गले मिलना और बकरीद का मुबारकबाद देना उसी उत्साह से होता, जिस उत्साह से मुसलमान लोग हमें दीवाली, होली को 'राम-राम' करते थे। हमारे पड़ोस में ही एक मुसलमान रंगरेज का घर था। उसके लड़कों को हम चिढ़ाते थे कि 'हमारे तो इतने बड़े-बड़े देवता हैं—हाथी के से मुँह के और बड़े लंगूर की सी पूँछ के, जब कि तुम्हारी मसजिद में कुछ भी नही है।' इसे सुन कर उनके घर वाले नाराज नहीं होते थे, वे केवल हँस देते थे।

उन दिनों जादूटोनों पर लोगों में बहुत विश्वास था। हमारे कस्बे के राजकीय मिडिल स्कूल में श्री आनन्द वर्मा और एक अन्य आर्यसमाजी शिक्षक आये थे। उन्होंने इन बातों के विरोध में बहुत प्रचार किया, पर उनकी बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। बहुत वर्षों बाद मैंने विदेशों में देखा कि जादू-टोनों पर न केवल अशिक्षित भारतीय ही विश्वास करते हैं, बल्कि यूरोप के विकसित देशों में आज भी अनेक प्रकार के अन्धविश्वास व्याप्त हैं।

अंगरेज व्यक्ति अपने मार्ग में काली बिल्ली का मिलना बड़ा शुभ मानते हैं। अमरीकी यदि भूल से उलटी कमीज पहन ले तो उसका वह दिन बड़ा अच्छा माना जाता है। रूसी को यदि घोड़े की नाल पड़ी मिल जाए तो वह हर्ष से उछल पड़ेगा। सचमुच मनुष्य प्रकृति के थपेड़ों के आगे इतना विवश है कि तिनके का सहारा पकड़ कर इन देखे-अनदेखे टोटकों पर विश्वास कर लेता है।

मुझे इस सन्दर्भ में ग्रीस की राजधानी एथेन्स की अपनी यात्रा की बात याद आती है। उन देशों में ऐसी धारणा है कि प्रत्येक भारतीय ज्योतिष की कुछ न कुछ जानकारी रखता है। वहाँ की हवाई सर्विस के एक अधिकारी से मेरा परिचय हुआ। उसका एक मात्र तीन वर्षीय पुत्र छह महीने पहले मर गया था। शोकाकुल पत्नी को धैर्य दिलाने के लिए वह मुझे अपने घर ले गया। मैंने उस युवती का हाथ उलट पलट कर देखा और एक कागज पर कुछ रेखा-सी बनाते हुए भविष्यवाणी की कि एक वर्ष के भीतर ही उसका पुत्र वापस उसकी कोख में जन्म लेगा। मैंने देखा कि महिला के चेहरे पर एक चमक-सी आ गई थी। संयोग देखिए कि एक वर्ष बाद उसके पति का पत्र मिला कि 'आपके आशीर्वाद से हमारे घर में पुत्र हुआ है, बड़ी

कृपा होगी अगर आप एक बार हमारे यहाँ पधारें, मेरी पत्नी ने आपके ज्योतिष के चमत्कार के बारे में सारे मुहल्ले और परिचितों में चर्चा कर रखी है। वे आपके दर्शन के लिए उत्सुक हैं।'

सरदार शहर भी इन मान्यताओं से अलग नहीं था। मैं नहीं जानता कि शुभ घड़ी या मुहूर्त की यात्रा सफल ही होती है, पर हमारे यहाँ से कलकत्ता, बम्बई जाने वालों के लिए अच्छा मुहूर्त बहुत ही आवश्यक माना जाता। इसके बारे में बहुत सी धारणाएँ प्रचलित थीं। सामने सिर घुटा हुआ साधु नजर आता या विधवा स्त्री दिखाई पड़ जाती, तो अशुभ माना जाता, जबकि सधवा स्त्री यदि पानी का घड़ा लिये मिलती या बाईं तरफ गधा रेंकता मिलता, तो अच्छे सगुन माने जाते। सबसे शुभ सगुन रास्ते में फन फैलाये हुए बैठे सर्प का होना।

इस सन्दर्भ में एक घटना बहुचर्चित है। अठारहवीं शताब्दी के शुरू में नागोर का एक ओसवाल युवक एक जतीजी (यति) के पास विदाई का मुहूर्त निकलवाने गया। उन्होंने कहा कि वह उसी वक्त प्रस्थान करे। थोड़ी देर बाद उस युवक ने वापस आकर जती महाराज से कहा, "मुझे रास्ते में एक काला नाग फन फैलाए हुए मिला, इसलिए मैं वापस आपके पास आया हूँ।"

महाराज हँसकर बोले, "तुम छत्रपति होते, पर अभी भी दौड़ जाओ, जगत-सेठ तो हो ही जाओगे।"

कहा जाता है कि वही युवक आगे जाकर मुर्शिदाबाद का जगत-सेठ मेहताबचन्द हुआ, जिसकी फर्म का उस सस्ते जमाने मे भी करोड़ों रुपयों का कारबार था।

इसके अलावा एक और घटना की चर्चा भी बड़े-बूढ़ों से सुनी थी। वह घटना इस प्रकार है—"एक बार महात्मा दादू और एक महाजन साथ साथ यात्रा के लिए रवाना हुए। बड़ी दूर जाने पर उल्लू की आवाज आई। महाजन ने दादूजी से कहा, "महाराज, अपशकुन हो गया है, मैं तो वापस जा रहा हूँ।"

महात्माजी ने थोड़ा आगे जाकर एक दोहा कहा :

दादू दुनिया बावली, फिर फिर मांगे सूण,
लिखने वाला लिख गया, फिर मेटण वाला कूण।

रात पड़ने पर साधु महाराज जंगल के किनारे एक तालाब की छतरी

में ठहर गए। थोड़ी देर बाद तीन चार धाडेती (डकैत) आए और पूछने लगे कि 'ऐ मोडे, वह महाजन कहाँ है ?' जब उन्हें पता चला कि वह वापस लौट गया तो वे बड़े क्रोधित हुए और साधु महाराज को धौलधप्पा जमा कर उनके कमण्डल और कमली छीन कर चलते बने। दादूजी ने फिर एक दोहा कहा :—

दादू दुनिया साच है, सच कर माने सूण,
बिना हुक्म भगवान के, पंछी बोले कूण।

तात्पर्य यह है कि हमारे यहाँ उस समय शकुनों पर बहुत विश्वास था। कुछ लोग तो इतने वहमी थे कि बाजार सौदा लेने जाते तो भी 'सगुन' देखते। रास्ते में गधा दाएँ खड़ा मिलता तो उसे बायें करने के लिए घुमाव देकर जाते। अगर बिल्ली रास्ता काट जाती या कोई छींक देता तो वापस घर आ जाते। हमारे मुहल्ले में इसी प्रकार के एक वृद्ध थे, जिनकी यह कमजोरी हम बच्चे जान गए थे। उन्हें छकाने में हमें बड़ा मजा आता। जब वह बाजार जाने लगते तो कोई बच्चा छींक देता या कुत्ते का कान मरोड़ कर उसे चीखने पर मजबूर कर दिया जाता। बाबाजी बड़बड़ाते और बिगड़ते हुए वापस घर चले जाते।

कोई कलकत्ता या बम्बई के लिए प्रस्थान करता तो घर का पण्डित मन्त्र पढ़ता, कुल-देवता की पूजा होती है और बहन या माँ तिलक करती। यात्री घर से बाहर निकलने पर मुड़ कर पीछे नहीं देखता था। उसे विदा करने के लिए परिवार के और मोहल्ले के लोग गाँव के बाहर तक पहुँचाने जाते। विदा के समय प्रत्येक व्यक्ति एक या दो रुपये विदाई के देता। इस प्रकार उसे रास्ते और परदेश के लिए सहारा मिल जाता। बड़ों के पैर छूकर और छोटों को आशीर्वाद देकर यात्री ऊँट पर बैठ जाता। रास्ते में लूट-पाट का डर रहता, इसलिए लोग साथ मिल कर यात्रा करते। अगर जनानी सवारियाँ होतीं तो एक दो ठाकुर (राजपूत) या कायमखानी बंदूक और तलवार लिये साथ साथ रहते।

मुझे इसी प्रसंग में एक और मजेदार कहानी याद आ रही है, सरदार शहर के पास ही फोगां नाम का एक गाँव है। वहाँ एक बुढ़िया अशुभ वाक्य बोलने के लिए प्रसिद्ध थी। एक बार गाँव वालो ने मिल कर खेतों की बोआई के लिए जाने से पूर्व उसके पास जाकर कहा, "दादीजी, हम आपका पूरा अनाज भेज देंगे, आज आप अपनी कोठरी में ही रहिएगा।"

बुढ़िया ने जवाब दिया, "बात कह कर मुकर मत जाना। तुम्हारे चाहे एक दाना भी न हो, मैं तो पूरा हिस्सा लूँगी।"

बुढ़िया के इस आशीर्वाद के कारण बेचारे गाँवों वालों को बोआई का मुहूर्त दूसरे दिन के लिए स्थगित करना पड़ा।

आज यातायात के प्रचुर साधनों के युग में ये बातें बचकानी-सी लगती हैं, पर इनका अपना मनोवैज्ञानिक प्रभाव था और है। अच्छे शकुन को लेकर आत्मविश्वास जाग उठता था और आत्मविश्वास सफलता का जनक है।

आज से लगभग ५० वर्ष पहले, जब कुयें कम थे और जलकल का नाम भी नहीं था, लोग बटोही को पानी की जगह दूध पिलाना आसान समझते थे। घरों में गाय-भैंसे बहुतायत से रहतीं, चराई का खर्चा नहीं के बराबर था, मनों दूध प्रत्येक घर में होता था जब कि पानी लाने के लिए कुओं या तालाबों पर जाना पड़ता। काफी किल्लत के बाद एक-दो घड़ा पानी मिल पाता। धनवान लोगों के यहाँ तो माली या मालिन पानी भरते, पर आम लोग पानी के लिए बहुत सुबह उठकर पनघट या तालाब पर जाते थे। गरमी में जब तालाब, बेरी और जोड़ा (जोहड़) सूख जाते, तब कुओं पर स्त्री-पुरुषों का बड़ा मेला-सा लग जाता।

हमारी मरुभूमि में पनहारिनों के बारे में बहुत ही भावपूर्ण और मधुर गीत लिखे गए हैं। वे खुद भी रास्ते की थकान मिटाने के लिए अपनी उमर के अनुरूप अलग-अलग टोलियों में जातीं और नाना प्रकार के गीत या भजन गाती रहतीं। पानी लाते समय वे घर के सबसे अच्छे कपड़े पहन कर जातीं। बचपन मे हमने देखा था कि हजारों रुपये के चाँदी-सोने के गहने पहन कर महिलायें कुओं पर जाती थी। इस प्रकार घर के काम के साथ-साथ उनका मनोरंजन और व्यायाम भी हो जाता।

उन दिनों समाचार पत्र और रेडियो नहीं थे, पर ताजी स्थानीय खबरें कुओं या तालाबों पर सुनने को मिल जातीं। किसी के लड़का हुआ है, किसी की बहू गौने में क्या लाई है, श्यामा का पति परदेश से परसों आ रहा है–आदि तरह-तरह की बातें सुनने को मिल जातीं। सास-बहुओं के झगड़ों की बातें भी कुछ अतिरंजना लिए चर्चा का विषय रहतीं।

सच पूछा जाए तो उस समय कुयें संस्था के प्रतीक थे। कुआं बनवाना बहुत पुण्य का काम समझा जाता था। यहाँ तक देखा गया कि बहुत से

लोगों ने तो अपनी उमर भर की कमाई एक कुआं या कुईं बनवाने में लगा दी।

हमारी तरफ कुयें की गहराई दो-ढाई सौ फुट तक होती है। जब पानी पहली बार निकलता, तब आस-पास के मुहल्लों में उसके स्वाद की चर्चा होती और हनुमानजी का जागन (जागरण) होता। मुझे याद है, १९१४-१५ में हमारा कुआं बन रहा था। उस समय हमारे दादाजी और पिताजी लगभग नित्य ही निर्माण-कार्य देखने जाते। हम भाई-बहन भी उनके साथ कभी कभी चले जाते। कस्बा आज जितना बड़ा नहीं था, इसलिए कुएँ की दूरी उस समय हमें बहुत ज्यादा लगती थी; रास्ते में थक जाते तो साथ का कोई आदमी अपने कंधे पर बैठा लेता। जब पहली बार पानी निकला तब पास-पड़ोस के और दूसरे मुहल्लों के लोग भी इकट्ठे हो गए थे। कई दिनों तक पानी के मीठेपन की चर्चा रही।

बहुत से कुओं के चारों कोनों पर चार छतरियां रहतीं, जिनके बनवाने का उद्देश्य राह चलते पथिकों को विश्राम देना था। बैलों का श्रम हलका करने के लिए कुएँ की सारण ढालू बनवाई जाती थी। प्रत्येक कुएँ के पास ही 'बाड़ी' में सब्जी की खेती होती जिससे मालियों को अतिरिक्त आमदनी हो जाती। वैसे प्रति घर पानी की लागत के हिसाब से उन्हें वार्षिक 'लाग' मिलती थी। इसके अलावा शादी-विवाह और जन्म-मृत्यु आदि अवसरों पर भी दूसरे 'कारुओं' को घर के कर्मचारियों की तरह पुरस्कार मिलता था। अछूतों के लिए कुएँ की जगत पर चढ़ना मना था। उन्हें नीचे बनी खेलों (नाव, जहां पशु पानी पीते थे) या पास बनी गढ़ोइयों (चौबच्चों) से पीने-नहाने का पानी ले जाना पड़ता था। आजकल बड़े कस्बों में तो जलकल योजना से सवर्ण और अछूत—सभी एक साथ पानी लेते हैं और जिन गावों में कल या नलकूप नही हैं, वहां भी कुओं पर हरिजनों के लिए पहले जैसी रोक नहीं है।

बचपन मे मैने कस्बे के पनघट देखे हैं। वैसे दृश्य अब दुर्लभ हो गए है। वास्तव मे ये पनघट नहीं, महिलाओं के क्लब थे। यौवन और सौंदर्य बिखेरती हुई या जराजीर्ण काया सँभालती हुई दो-दो, चार-चार स्त्रियों की टोलियां बहुत तड़के ही अपने चिकने घड़े और चमकती हुई कलशियां लेकर पानी भरने आ जाती थी। माली भी बड़े-बड़े बैलों की दो जोड़ियां लेकर पानी खींचने लग जाते। कहा जाता है कि संगीत और श्रम का बड़ा मेल है।

इससे थकान कम हो जाती है, मन हलका हो जाता है। मालियों के सुरीले भजनों और गीतों की तान सवेरे की शांति और रमणीयता में एक आह्लाद-मय मधुरिमा घोल देती है।

कहते हैं कि महाकवि केशवदास एक दिन किसी ऐसे ही पनघट पर बैठे हुए थे कि पनहारिनों ने उनकी वृद्धावस्था का आदर करते हुए उन्हें 'बाबा जी' कह दिया। यह सम्बोधन उन्हें खटक गया और उसी समय उन्होंने यह प्रसिद्ध दोहा कहा :

केशव केसन अस करी, जस अरिहू न कराहिं;
चन्द्रवदन, मृगलोचनी, बाबा कहि-कहि जांहि !!

हमारे कुएँ से आधा मील दूरी पर वंशीधरजी चौधरी की धर्मशाला, कुआं और जोहड़ था। उस समय वहाँ तक जाना विदेश जाने के समान था। अच्छी वर्षा होकर जब जोहड़ भर जाता और चारों तरफ हरियाली छा जाती तब कभी-कभी पिकनिक के लिए लोग वहाँ जाते थे। अब तो कस्बा बहुत आगे तक फैल गया है और वहाँ पर 'गांधी विद्या मन्दिर' के अध्यापक और विद्यार्थी रहते हैं।

सम्पन्न लोगों के घरों में बरसाती पानी जमा रखने के लिए पक्के और बंद कुंडे होते थे, जिनमें बारहों महीने सुस्वादु पालर (बरसाती) पानी रहता। पास-पड़ोस के लोग त्योहार आदि के अवसरों पर उन महाजनों के यहाँ से घड़ा दो घड़ा पालर पानी माँग कर ले जाते।

मुझे ५५ वर्ष बाद भी यह कल की सी बात लगती है कि सावन मास लगते ही हम बच्चे छोटी छोटी झाड़ू लेकर छत को बुहारने जाते। तांबे के बड़े-बड़े कुण्डे साफ कर लिये जाते। वर्षा होने पर छत का पानी इन कुण्डों के भर जाने पर दूसरे कुण्डे या बरतन रख देते। सुबह उठ कर हम ताल में यह देखने जाते कि वहाँ जोहड़ और मोलाणी में कितने चौपड़े (सीढ़ी) पानी आया! वातावरण उल्लासमय हो जाता; लोगों के चेहरे प्रसन्नता से चमक उठते। कुछ साहसी लोग गाँव से दो मील दूर के जोहड़ को देखने जाते। आपस में वादविवाद छिड़ जाता कि कितने अंगुल पानी हुआ है। पहली वर्षा होते ही किसान लोग अपने हल-बैल लेकर खेतों पर चले जाते। ●

३

सुरंगी रुत आई म्हारे देस

अब न तो वे पनघट हैं और न पनघट की बहार। कुओं की सारनों और खेलों में मैला भरा रहता है, जिनमें सांप, बिच्छू और कनखजूरे वास करते हैं। सांप व बिच्छू आदि जहरीले जन्तुओं का उस समय भी बाहुल्य था। कई प्रकार के सांपों की चर्चा रहती थी। एक पीने वाले सांप का जिक्र भी रहता था, जिसके बारे में कहा जाता है कि वह सोती हुई महिला के स्तनों से और गाय के थनों से दूध पी लेता है। हमने कभी इस प्रकार के सांप तो नहीं देखे; हां, दूसरे कई प्रकार के छोटे-बडे सांप अवश्य देखने में आते थे।

सांपों के डर के कारण गोगापीर की पूजा लगभग सभी घरों में बड़ी धूमधाम से की जाती थी। इस बारे में हमारे यहां एक लोकोक्ति है; किसी ने पूछा, 'राम बड़ा, या गोगा ?' जबाब मिला-'बड़ा तो जो है वही है, पर सांपों से कौन वैर पाले ! बालबच्चों का घर है, न जाने कब कोई पिरड़ा ठोंक जाए (सांप डस जाए) !'

और भी बहुत सी दन्तकथाएँ सांपों के बारे में प्रचलित हैं। कहा जाता है कि एक व्यक्ति ने सांप और सांपिन को प्रेम-क्रीड़ा करते हुए देखा। उसने पत्थर मारे, सांप मर गया और सांपिन उस समय बिल में चली गई। उसके बाद कई दिनों तक उस व्यक्ति को भयानक सपने आते रहे; वह एक प्रकार से विक्षिप्त-सा हो गया। अचानक एक दिन सोते में उसी सांपिन ने आकर उसे डस लिया और थोड़ी देर बाद ही उसकी मृत्यु हो गई।

वसंत पंचमी के बाद कालबेलिए (सँपेरे) अपनी डोली और पूँगी लेकर हमारे गाँव मे घूमने लगते। बड़े और बच्चे सभी इकट्ठे होकर नाना प्रकार के सांपों के खेल देखते। हम सभी का अच्छा खासा मनोरंजन हो जाता। कभी कदास यदि कालबेलिया किसी दर्शक के गले में सांप डाल देता, तो उस व्यक्ति की डर के मारे घिग्घी बँध जाती। दूसरे सभी दर्शक हँसते रहते। हम बच्चे आतंक से भयभीत हो अपने-अपने घरों में भाग जाते थे।

कालबेलिए एक प्रकार की जड़ी बेचते, जिसके लिए उनका दावा था कि इसको सर्पदंश की जगह लगा देने से जहर उतर जाता है। हर गाँव और

कस्बे में सांप या बिच्छू के काटने पर झाड़-फूंक करने वाले सयाने या ओझा भी रहते। पता नहीं, जहर की कमी से या झाड़-फूंक के विश्वास के कारण कुछ लोग सांप के काटने के बाद भी बच जाते थे, लेकिन अधिकांश व्यक्ति काल के गाल में चले ही जाते।

सांपों के खेल में नेवले और सांप की लड़ाई बहुत दिलचस्प होती थी, पर हम बच्चे भयभीत हो जाते। सांप का फन उठाकर फुंकार मारना और नेवल का झपट कर दांतों से प्रहार करना बड़ा ही आतंककारी लगता। जब दोनों लहूलुहान हो जाते, तब मदारी खेल समाप्त कर देता। किसी-किसी के पास बहुत बड़ा अजगर भी रहता, जिसका वजन सवा मन तक होता था।

सांपों के अलावा हमारे यहां पाटड़ा गो, चंदन गो, चितकबरा, गोहीड़ा आदि भयानक जहरीले जन्तु भी होते थे, जो जंगल, खेतों और गांवों में रहने वाले को कभी-कभी काट लेते; इनका जहर बहुत तेज होने के कारण और उपयुक्त ओषधि के अभाव में लोग बेमौत मर जाते। लेकिन लोग इन जानवरों से बहुत सावधान रहते थे। यदाकदा इन जानवरों को मार डालने के समाचार मिलते रहते। मारने वाले 'हीरो' की चर्चा कई दिनों तक होती।

पीले, काले, छोटे, बड़े, कई प्रकार के बिच्छू हमारे थली क्षेत्र में बहुतायत से थे। इनका जहर २४ घंटों तक रहता। पहले तीन चार घण्टे तो रोगी बहुत छटपटाता और रोता-चिल्लाता। इन सबके अलावा कनखजूरा, टाटिया, मधुमक्खी आदि अन्य छोटे मोटे जहरीले जन्तु भी थे।

हमारी जाति टांटिया क्यों हुई, इसके बारे में वहां यह कथा प्रचलित है कि हमारे किसी पूर्वज की हवेली के बाहर टांटियों का एक बड़ा छत्ता था, जिसके पास से गुजरने से लोग डरते थे। उस हवेली का नाम 'टांटियों-वाली हवेली' पड़ गया और उसमें रहने वाले हमारे पूर्वज टांटिया कहलाने लगे। अंग्रेजी में, चूंकि टांटिया और तांतिया एक ही प्रकार से लिखा जाता है, इसलिए अब हमें बहुत से व्यक्ति इतिहास-प्रसिद्ध तांतिया टोपे के वंशज मान लेते हैं। एक दिन मेरे पास तन्तु महासभा का भी पत्र आया। उन्होंने मुझे बधाई देते हुए लिखा था कि 'बड़े गर्व की बात है कि हमारी जाति का एक व्यक्ति संसद का सदस्य और कांग्रेस संसदीय पार्टी का कोषाध्यक्ष चुना गया है।' उन्होंने मुझे अपने शहर में आमन्त्रित भी किया था। मैंने उन्हें जवाब दिया कि 'भाई, अफसोस है, मैं आपकी जातिबिरादरी का नहीं, बल्कि अग्रवाल वैश्य हूं।'

अब न तो सांप-बिच्छू ही उतनी संख्या में दिखाई पड़ते हैं और न झाड़-फूंक करने वालों का उतना दबदबा ही है। पक्की सड़कें हो गई हैं। झोंपड़ियों की जगह पक्के मकान बनते जा रहे हैं और धीरे-धीरे जहरीले जंतुओं का ह्रास होता जा रहा है।

जैसा कि मैंने लिखा है, हमारा कस्बा बहुत बड़ा नहीं था। हाँ, हमारे यहाँ धनाढ्य वैश्यों का निवास अवश्य था। ये लोग देशावरों से धन कमा कर लाते और बड़े-बड़े मकान, हवेलियाँ, मन्दिर और धर्मशालाएँ बनवाते थे। उन हवेलियों मे जो पत्थर लगता वह या तो सीकर के पास से रघुनाथगढ़ से आता या जोधपुर के खाटू गाँव से। मकराने का पत्थर यानी संगमरमर बहुत ही कम हवेलियों में लगता; लेकिन मकराने से भी ज्यादा चमक आती सिमले की घुटाई से। सिंघराज पत्थर के चूर्ण से यह सिमला तैयार होता था।

बहुत ही सुन्दर और कलात्मक ढंग की राजपूत शैली में लगभग सभी हवेलियों के बाहर और भीतर भित्तिचित्र बने होते थे। रंगों का सम्मिश्रण इतना उम्दा होता कि १०० वर्ष पहले के चित्र आज भी चमक और सुन्दर लगते हैं। इन भित्तिचित्रों में भगवद्-भक्ति के अलावा ऐतिहासिक तथ्यों का भी पर्याप्त समावेश होता है।

मुझे बचपन की एक बात अच्छी तरह याद है। हमारे पड़ोस में एक हवेली बनी थी। उसकी बाहरी दीवार पर एक बड़ा चित्र था, जिसमें भीम को राजपूती वेश में अंकित किया गया था। एक बड़े वृक्ष को हिला कर वह उस पर चढ़े कौरवों को गिरा रहा था। मैं जब भी उस चित्र को देखता, डर से आँखें मीच लेता। आज भी वह चित्र मेरी बाल्यकाल की स्मृति को अपने मे समेटे हुए वही अंकित है। मैं अब भी जब गाँव जाता हूँ, उसे देखता हूँ। भीम की राजपूती दाढ़ी, बड़ी पाग और लम्बा चौड़ा घेरदार बागा देख कर हँसी आ जाती है। उस जमाने में सबसे दर्शनीय मकान था सेठ संपतराम की चोपड़े की महफिल, जिसमे सोने का काम किया हुआ था। हमारे यहाँ बाहर से जो बरातें आतीं या अन्य जो भी यात्री आते, वे उस महफिल को अवश्य देखते।

इस संदर्भ में मुझे एक बात और याद आती है। हमारी हवेली का ऊपरी हिस्सा बन रहा था; चूना तैयार करने के लिए रात में छाणों (सरकंडे) की आग में एक विशेष प्रकार के पत्थर रख दिए जाते। दूसरे

दिन सुबह हम बच्चे उन सफेद फूले हुए पत्थरों को चिमटों से चुन लेते और पानी के मटकों में डालते; उस समय 'बुदबुद' की आवाज आती। हमें इस आवाज से खुशी होती, लेकिन इससे भी अधिक खुशी और सन्तोष होता यह महसूस करके कि हम बच्चे भी निर्माण के काम में यथासामर्थ्य सहयोग दे रहे हैं। मुझे ५५ वर्ष पहले की वह बात अच्छी तरह याद है कि हमारे चेजारे (राजमिस्तरी) रमजान, कादर, अलाबख्श और रहीम—चारों भाई परिवार के सदस्य की तरह थे। बालिया नाम के एक बहुत परिश्रमी मजदूर की भी याद है, जिसे हम चुपके से अपनी मिठाई का कुछ हिस्सा दे देते।

उस समय चूने की घुटाई इतनी महीन और चमकदार होती कि बहुत समय तक उसमें चेहरा देखा जा सकता था। घटाई करने वाली महिलाएँ बहुत ही मधुर और भावपूर्ण गीत गाती रहती थीं। खेद है, मुझे वे लोकगीत इस समय याद नहीं है।

मकानों के वर्णन में एक बात मैं भूल गया। राजस्थान में मई और जून के महीने में इतनी भीषण गरमी पड़ती है कि तापमान ११७-१८ अंश तक पहुँच जाता है। दोपहर में साँय-साँय करके गरम हवा, लू और आँधी चलती रहती है। ऐसी तपन में कुछेक धनवान लोगों के कमरे में झालरदार पंखे लगे रहते, जिन्हें रस्सी से खींचा जाता। कुछ लोग खस और काँटों की टट्टियाँ खिड़कियों पर लगाकर उन पर पानी छिड़कते रहते। इसके अलावा कई मकानों के नीचे तहखाने बने रहते, जिनमें बालू और रेत बिछा कर पानी डाल दिया जाता और उस पर पलँग डाल कर दिन में लोग आराम करते या ताश-चौपण खेलते। यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उस कड़ी गरमी में भी वहाँ ठंडक का अनुभव होने लगता। आज एयर कन्डीशनर और एयर कूलर होने के कारण उन सब का महत्त्व समाप्त हो गया है, पर पानी से भीगी हुई उस बालू व रेत की मधुर सुगंध का तो अपना अलग ही महत्त्व था।

बार-त्योहार प्रत्येक समाज की लोक-संस्कृति के सजीव प्रतीक हैं। इन्हीं अवसरों पर लोक-मानस स्वच्छन्द होकर झूम उठता है। आज तो अर्थाभाव और अन्य अनेक समस्याओं के कारण पर्व-त्योहारों का न तो पहले जैसा आनन्द ही रहा और न उत्साह ही। अपने बचपन में इन त्योहारों का जो सुखद और आनन्ददायक रूप देखा, अनुभव किया, वह अब इतिहास ही रह गया है। तब बच्चे, बड़-बूढ़े आदि सभी उन्मुक्त भाव से जात-पाँत का भेद

भुलाकर इन पर्वों को मनाते तो एक स्वर्गिक आनन्द का अनुभव होता। एक बार फिर उन मधुर स्मृतियों को इन पृष्ठों पर उतार कर उस आनन्द को प्राप्त करना चाहता हूँ।

राजस्थान में मुख्यतया हिंदू, जैन और मुसलमान निवास करते हैं। पाकिस्तान बन जाने के बाद उत्तरी हिस्सों (जैसे गंगा नगर आदि) में थोड़े से सिक्ख-परिवार भी आकर बस गए हैं। इन सब लोगों के अलग-अलग पर्व-त्योहार होते हैं। लेकिन उस समय सभी एक दूसरे के त्योहारों मे बड़े प्रेम से शामिल होते व आमोद-प्रमोद मनाते। मुसलमानों में कायमख्यानी, मलकानी, मेव, मेणात, आदि ऐसी भी उपजातियाँ थीं, जिनमें हिन्दू रीति-रिवाज प्रच-लित हैं। विवाह के अवसर पर ये लोग निकाह पढ़ने के साथ फेरे (भांवरें) भी लेते हैं।

इन तीनों धर्मावलंबियों के साल भर में इतने त्योहार और पर्व मनाए जाते हैं कि लगभग प्रत्येक महीने किसी न किसी प्रकार का उत्सव होता रहता है। उस समय तक न मुसलिम लीग थी, न शुद्धि-आंदोलन। इसलिए मुसलमानों के पर्वों मे हिन्दू और जैन शामिल होते थे और हिन्दुओं के त्योहारों में मुसलमान; और यह सब बिना किसी औपचारिकता या संकोच के पारस्परिक प्रेमभाव से होता था।

उस समय तक हमारे यहाँ आम जनता विक्रम संवत् और देशी महीने ही याद रखती थी। आज कल तो खुद मुझे याद नहीं रहता कि कौन सा संवत् चल रहा है, कौन सा महीना या पक्ष या तिथि है?

वर्ष का सबसे पहला त्योहार गणगौर रहता। उस समय तक होली की हुल्लड़बाजी और सर्दी की ठिठुरन समाप्त हो जाती तथा वसंत अपने यौवन पर रहता। नीम की मोंझर की सुगंध-भरी शीतल हवा के झोके मन को मुग्ध कर देते।

गणगौर या गौरी-पूजा मुख्य रूप से लड़कियों और महिलाओं का त्योहार है। होलिका-दहन के दूसरे दिन यानी चैत्र बदी प्रतिपदा से गणगौर पर्व की शुरुआत हो जाती। होली की राख के छोटे-छोटे पिण्ड बना कर उन्हे गणगौर ईसर, कानीराम और रोवां की प्रतिमाएँ मानकर कुमारियाँ और नव-विवाहिताएँ नित्य बड़े सबेरे पूजतीं। पूजा के लिए दूध और फूल लाने छोटी-छोटी लड़कियाँ गीत गाती हुई आनन्दमग्न होकर आस-पास की फुलवारियों

में जातीं। हम बच्चे भी कभी-कभी इनके साथ चले जाते। फुलवारियों में पहुँच कर लड़कियाँ यह गीत गातीं—

म्हारे माली री बाड़ी फल रही, म्हारी मालण जायो छः पूत,
जुग जीओ ऐ बंस बधावणा।

और घर आकर दूब और फलों से गौर पूजती हुई कुमारी कन्याएँ सुन्दर और वीर वर की कामना करतीं तथा विवाहित महिलाएं अपने सुहाग का वर माँगती। सुखी परिवार की कामना का यह गीत कितना मधुर और भावपूर्ण है—

गोर ए गणगोर माता खोल किवाड़ी,
बाहर ऊभी रोवाँ पूजण वाली। पूजो ए पूजाओ सैंयो के फल माँगो,
माँगा ए म्हे अन, धन, लाछर, लिछमी। जलबल जामा बाबुल माँगा;
राता देई मायेड़। कानकवर सो बीरो माँगा,
राई सी भुजाई। ऊँट चढ्यो बहनोई माँगा,
चुड़ले वाली बहनड़ा। आदि।

विवाहिता कन्या के लिए पहले साल अपने पीहर में गौर पूजना अनिवार्य माना जाता। इसलिए हर नववधू पहले साल अपने पीहर में ही गणगौर पूजती।

चैत बदी अष्टमी को कुम्हारिनों के घर जा कर मिट्टी की गौरी की प्रतिमाएँ लाई जातीं और फिर इन्हीं प्रतिमाओं का पूजन होता। रात को एक दीप थाली में रखा जाता और उस पर एक छलनी ढक दी जाती। लड़कियाँ इसे लेकर बड़े बूढ़ों के पास गीत गाती हुई जाती और पैसे माँगती। इस गीत को 'घुड़ले का गीत' कहते हैं। हम बच्चे, लड़कियों की टोली के साथ साथ रहते। हमें यह एक मनोरंजक खेल लगता। गीत की पंक्तियाँ है—

घुड़लो, घूमैलो, जो घूमैलो, घुड़ले रे, बांध्यो सूत। घुड़लो ··
सुहागण बाहर आव। घुड़लो····प्रताप जी रे, जायो पूत। घुड़लो····

इस 'घुड़ले' से जो पैसा इकट्ठा होता, उसका मिष्टान्न या मेवा मँगाया जाता। उन दिनों मिठाइयाँ और मेवे बहुत सस्ते थे। शुद्ध घी की मिठाई एक रुपये में ढाई तीन सेर आ जाती और एक रुपए में बादाम व छुहारे भी बहुत से आ जाते। यह मेवा-मिठाई आपस में बाँट ली जाती। हम भाइयों को भी बहनें बड़े चाव से खिलाती।

चैत सुदी तीज या चौथ को गवरजा का विसर्जन होता। इस दिन ईसर, गौरी और रोवाँ (रोहिणी) की बहुत सुन्दर और सजी हुई बड़ी मूर्तियाँ जुलूस के साथ गाँव के बाजारों और मुख्य मार्गों से निकाली जातीं। सच्चे हीरे मोती के गहनों और मोटे-किनारी के कीमती वस्त्रों से इन मूर्तियों को सजाया जाता। हमारे यहाँ गुलाब चन्द जी छाजेड़ के यहाँ से गवरजा की सवारी निकलती। कहते हैं कि सरदार शहर मे साहूकारों का यह सबसे पुराना घराना था। गौर की सवारी में राज्य की तरफ से तहसीलदार, थानेदार और अन्य अहलकार शामिल होते। लोग उस समय इनका इतना मान-सम्मान करते, जितना शायद आज किसी गवर्नर या मन्त्री का भी नही होता।

सैकड़ों स्त्री-पुरुष, बड़े बूढ़े जुलूस के साथ-साथ चलते—हिन्दू, जैन, मुसलमान आदि सभी जाति और धर्म के। गाँव के छत-छज्जों पर मेला-सा लग जाता। जुलूस के अन्त मे सुहागिन स्त्रियाँ गोटे-किनारी की केसरिया, कसूमल ओढ़नियाँ ओढ़े, मोड़दार घूंघट काढ़े मधुर गीत गाती हुई चलतीं।

इसी शाम को विभिन्न मुहल्लों की लड़कियाँ अपनी अपनी गौरों को लेकर पास के कुओं पर विदा के करुण गीत गाती हुई उनके विसर्जन के लिए जातीं। मुझे अच्छी तरह याद है, जब उन गौर-प्रतिमाओं को कुएँ में गिराया जाता, तब हम सब सुबक सुबक कर रोने लगते, जैसे घर का प्रियजन बिछुड़ गया हो। हमारी बहनें रो रो कर अपनी आँखें लाल कर लेतीं।

चैत्र सुदी अष्टमी को शीतला माता का पूजन होता। हमारे यहाँ मान्यता थी कि शीतला देवी की पूजा से चेचक का प्रकोप नहीं होता। ताल के मैदान में शीतला का बड़ा मण्ड है। हम लोग वहाँ पहले दिन की बनाई हुई ठण्डी बासी रसोई लेकर जाते। मण्ड के चारों ओर कान लटकाए, नीचा मुंह किए बहुत से गर्दभराज खड़े रहते। महिलाएं इन्हें पूज कर बाजरे का चूरमा खिलातीं, क्योंकि गधा शीतला जी का वाहन है। इस संदर्भ में एक किंवदन्ती है कि किसी ने शीतला माता से घोड़ा माँगा। तभी दूसरे ने कहा 'बड़े मूर्ख हो, अगर इनके पास घोड़ा होता तो यह स्वयं गधे पर क्यों चढ़ती ?' शीतला-पूजा या 'बासीड़े' के दिन बासी रसोई ही खाई जाती। गरम खाने से देवी के रुष्ट होने का डर रहता। पहले दिन की बनाई हुई ठण्डी रसोई हमें अच्छी लगती। रबड़ी रोटी के साथ कांजी बड़ा और मीठी लपसी बड़े चाव से खाते। दूसरे दिन रामनवमी का पर्व होता। इसी दिन भगवान राम ने जन्म लिया था। हम बच्चों के लिए इस पर्व का कोई आकर्षण नहीं था। हाँ, बूढ़े-बूढ़े इस दिन अपने बही खाते बदलते।

वैशाख सुदी तीज का त्योहार 'आखातीज' (अक्षय तृतीया) बच्चों के लिए विशेष आमोद-प्रमोद लिए आता। एक महीना पहले से ही वंशीधर जी पंसारी के यहाँ से डोरे के 'भूणिए' (रीलें) लाकर उन्हें सूतने का प्रवन्ध करने लगते। कई प्रकार की डोरें आती थीं। 'कृष्ण छाप', 'हाथी छाप', और 'भूत छाप'। सबसे मोटी 'कृष्ण छाप' और सबसे महीन होती 'भूत छाप'। उस समय एक भूणिए का मूल्य छह पैसे या दो आने था और इस पर ३०० गज डोर रहती थी। डोर को सरेस, मेथी और महीन कांच के साथ मैंदे की लेई में मिला कर सूंता जाता था। आकर्षक वनाने के लिए थोड़ा सा रंग भी मिला देते। हम बच्चों के लिए डोर की सुताई वहुत आकर्षक आयोजन था। एक लड़का चरखी लिए खड़ा रहता और अन्य दो लड़के हाथों पर लेई लिए डोर पर उसे फिराते हुए चलते रहते। गाँव में चर्चा रहती कि आज अमुक के यहाँ वहुत अच्छी डोर सूती गई है।

पतंगें कई प्रकार की आती थीं। 'अधेलिया' से लेकर 'आनल' तक, यानी आधे पैसे एक आने तक की। जो लड़के आनल उड़ाते उनकी बड़ी धाक रहती। जिन बच्चो के पास अपनी पतग नही रहती, उनमे से कोई तो उड़ाने वाले को चरखी पकड़े रहता और बाकी चारों तरफ खड़े रहकर बढ़ावा देते रहते।

पतंगों के पेंच लड़ाना आपसी प्रतिद्वन्द्विता का एक आकर्षक खेल था। शाम के समय आसमान रंगबिरंगी पतंगों से भर जाता। 'वह काटा!' 'वह मारा!' की आवाजों से वायुमण्डल गूंजता रहता। कटी पतंग के पीछे बच्चों के झुण्ड के झुण्ड दौड़ते। बच्चे ही क्यों, बड़ों को भी इस तमाशे में शरीक होते देखा है। एक वार की वात है एक पतंग कट कर जा रही थी कि एक सेठ जी उसे पकड़ने के लिए लपके। लेकिन इतने मे ही बच्चों ने दीवार पर चढ़ कर पतंग को पकड़ लिया। बेचारे सेठ जी मुँह ताकते रह गए।

पतंग का छोटा-सा रूप था—थोड़ी सी डोर के सिरे पर पत्थर या लकडी का टुकड़ा वांध कर कीलिया (लंगड़) लडाना। गरीव और छोटे बच्चे इसीमें पतंग का सारा आनन्द ले लेते। जो लड़का 'कीलिया' लड़ाने में तेज या उस्ताद होता, वह मुहल्ले भर में चुनौती देते हुए ऊँची आवाज में गाता फिरता 'कीलिया लड़ाने वाला कोई नहीं पाया, सारे गांव में फिर-फिर आया।' और इस चुनौती का सामना करने वाले भी मिल जाते। कभी-कभी लड़न्त के समय हाथ से धागा तोड़ देते तो आपस में झगड़ा हो जाता। थोड़ा-सा

थूक कर 'थू भायला'—दोस्ती तोड़ने की—धमकी कर लेते, पर थोड़ी देर बाद ही फिर दोस्त बन जाते।

आखातीज के दिन बाजरे के खीचड़े के साथ अमलवाणी (इमली का मीठा पानी) लिया जाता। शायद यह गरमी और लू से बचाने के लिए लिया जाता था। अगले साल के 'सुगन' या मुहूर्त में भी इसी दिन किए जाते। आखातीज का मुहूर्त अणवूझ मुहूर्त में माना जाता। कहावत थी कि अणवूझ्या मोहरत भला, कै तेरस कै तीज।' बहुत से विवाह इसी दिन सम्पन्न होते।

विवाह करने वाले पण्डितों की इस दिन अच्छी माँग रहती। इसीलिए बिना पढ़े-लिखे पंडितों को भी मौका मिल जाता। मेरी जान-पहचान का देवू महाराज नाम का एक ब्राह्मण था। वह आखातीज के दिन गाड़िया लुहारों के यहाँ विवाह कराने गया। भूल से विवाह पद्धति की जगह गरुड़-पुराण ले गया। जब उसने गरुणजी का नाम लिया तो लोगों ने पूछा, "महाराज, इस अवसर पर गरुणजी कहाँ से आ गये?" उसने झट जवाब दिया, "जहाँ विवाह में विष्णु और लक्ष्मी का आना जरूरी है, वहाँ उनके वाहन गरुण भी तो आएँगे ही।" इस बात की कई दिनों तक चर्चा रही।

सावन सुदी तीज का त्योहार मुख्य रूप से लड़कियों का त्योहार था। वर्षा हो जाती। ताल-तलैए भर जाते। खेतों में दूब और हरी घास की चादर बिछ जाती। लोग नई फसल की खुशी में प्रसन्न हो जाते। किसान और किसान की पत्नी अपने हल-बैल लेकर खेतों पर चले जाते। पीछे रह जातीं नववधुएँ और बालिकाएँ। ऊँचे वृक्षों पर बड़े-बड़े झूले डाल दिए जाते और उन पर झूलती रंगबिरंगी ओढ़नियाँ पहने किशोरी बालिकाएँ उन्मुक्त हास्य और मधुर गीतों की मादक तान वायुमण्डल में बिखेरती।

भला ऐसी स्वच्छन्दता ससुराल में कहाँ! इसीलिए इन दिनों लड़कियाँ अपने अपने मायके आ जातीं और झूला झूलती हुई गातीं—

> मोटी मोटी छींटा ओसरी ए बादली, ओसरो ए बादली!
> कोई जोड़ा (तालाब) ठेलमठेल, सुरंगी रुत आई म्हारे देश!
> भले री रुत आई म्हारे देश! ओ कुण बीजे बाजरी ए बादली!
> ओ कुण बीजे मोठ, मेवा, मिसरी, सुरंग रुत आई·······!

जिन लड़कियों को ससुराल में रहना पड़ता, वे पीहर की याद में इस प्रकार गीत गातीं—

आयो आयो, ए माँ, सावणिए रो ए मास,
मन्ने भेजो माँ सासरे जे।
और सहेल्याँ ए माँ खेलण मिलण ने ए जाए,
मन्ने दीन्यो माँ पीसणों जे।
ससुराल के कष्टों का उल्लेख करती हुई, वे कहती—
औरां न तो माँ मिरियो, मिरियो ए घी,
मन्ने मिरियो माँ तेल को जे।
आयो-आयो, माँ पीवरिए रो ए काग; वो झमके लेग्यो माँ मांडियो जे।
भागी-दौड़ी मा कागलिए रे लार; कांटो लाग्यो माँ कैर रो जे।
लेज्या-लेज्या म्हारे पीवरिए रा ए काग !
जाय दिखा जे म्हारी माँय ने जे।

(ससुराल में और सदस्यों को तो एक एक चम्मच घी का मिलता है, जब कि मुझे सिर्फ एक चम्मच तेल ही दिया जाता है। ऐसे समय पीहर का जो कौवा आया तो मेरे हाथ का माड़ (रोटी) ही ले उड़ा। लाचार मैं उस कौए के पीछे दौड़ी कि उसके साथ मैं भी पीहर तक चली जाऊँ। ऐसे में दौड़ते वक्त पैरों में कैर का कांटा चुभ गया। इसलिए, ऐ पीहर के कौवे, पीहर में ले जाकर इस सूखी रोटी को मेरी माँ को दिखा।)

सावन की ऋतु आकाश में मेघों की उमड़-घुमड़, अँधेरी रात में बिजली का बार बार चमकना और भीषण आवाज के साथ कड़कना किसे विचलित नहीं कर देगा ? ऐसे में गोरी की यह पुकार स्वाभाविक ही है—

सावण सुरंगो सायबाजी कोई; बरसण लाग्यो मेह, हाँ जी ढोला,
इब घर आज्या गोरी रा बालमा जी !
छप्पर पुराणा पड़ गया जी, कोई तिड़कण लाग्या बाँस,
इब घर आज्या······
बादल में चिमके ढोला बीजली: जी,
कोई महलाँ में डरपे घर री नार, इब घर आज्या फूल गुलाब रा जो।
कुओ तो हो तो पिया डाक ल्यूं जी, समन्दर डाक्यो न जाय···
नेड़ीनेड़ी करो पिया चाकरी जो, साझ पड़्याँ घर आय।
इब घर आज्या बरसा रुत भली जी, थाने तो प्यारी लागे चाकरी जी!
म्हाने तो प्यारा लागो आप। असी ये टकां री चाकरी जी !
कोई लाख मोहर री नार, इब घर आवो मिरगानैणी रा
बालमा जी ।

(हे प्रीतम, सावन का सुहावना महीना आगया है; वर्षा शुरू हो गई है, पानी इतना बरसा है कि छप्पर के पुराने बाँस टूट कर पानी भीतर टपकने लगा है। ऐसे में आकाश में बिजली चमकने से मुझ अकेली को भय लग रहा है, आप घर पधारें। कुआं हो तो लांघ लूँ, मगर आप तो समुद्र-पार बैठे हैं, समुद्र को कैसे लाँघूं! इसलिए विनती है कि आप इतनी दूर नहीं, कहीं आसपास ही नौकरी कर लें, ताकि दिन भर चाकरी कर के शाम को मेरे पास घर आ जाएँ। आपको तो ८० रुपए की यह नौकरी अच्छी लगती है, जब कि मुझे आपके सिवा कुछ नहीं सूझता। पता नहीं आप लाख मोहरों की नारी को छोड़ कर ८० रुपयों की नौकरी के मोह में क्यों पड़े हैं ?)

इसी प्रकार लहरिए, पपइए और कुरजाँ के गीत भी विरहजनित वेदना के गीत होते। कुरजाँ एक पक्षी है, जिसे संबोधित कर कहा जाता :

तू छै कुरजां म्हारी भायली, तू छै धरम की ए भाण !
एक संदेशो, ए बाई, म्हारो ले उड़ो ए !
कुरजाँ, ए म्हारा पीव मिला द्यो ए,
बी लसकरिए ने जाए कही जे—क्यूं परणी छो मोय !
परण पिराछत क्यूं लियो जी ?
रह्या क्यूं ना अखन कुंवार !
कुंवारो नें तो वर घणा छा जी।

(ऐ कुरजाँ, तू मेरी सहेली और धर्म बहन है; मेरा यह संदेश मेरे दूर बसे प्रियतम को दे आ। मेरे पीव को जाकर कह दे कि मुझसे विवाह ही क्यों किया ? क्यों परिणय करके दुःख देने के लिए मुझे यहाँ छोड़ गए ? ऐसा ही करना था तो उमर भर कुंआरे ही रहते, कुमारी कन्या को तो दूसरे वर बहुत मिल जाते।)

सावन की इस तीज के अवसर पर हमारे यहाँ बड़ा मेला लगता। ताल में डोलरहींडा, चरखचूड़ी लग जाती, हलवाइयों और बिसातियों की दूकानें सज जातीं। हम बच्चों को उस दिन दो पैसे से लेकर दो आने तक मिलते। उसमें से एक पैसे की मिठाई लेते, एक पैसे का डोलरहींडा हींडते, एक पैसे में चरखचूंडी में चक्कर लगाते और बाकी पैसे बचते तो कागज के फूल, गुब्बारे आदि ले आते। डोलरहींडे का पलड़ा जब जोर से ऊपर जाता तो एक सिहरन-सी होती। सन् १९५० में, जब मैं आल्प्स की १४,००० फीट

ऊँची यंगफ्राउ चोटी पर चढ़ा, तब भी उतना भय नहीं लगा था। जहाँ कुछ बच्चे एक बार डोलरहींडे पर चढ़ जाने पर उतरने का नाम नहीं लेते और उन्हे एक प्रकार से जबरदस्ती उतारा जाता, वहीं कुछ डरपोक बच्चे चढ़ने से ही घबड़ाते और चिल्लाने लग जाते ! डोलरहींडे से भी ज्यादा आकर्षक थी चरखचूंडी। हाथी, घोड़े, ऊँट, और कुरसी की शक्ल की सीटें बनी रहतीं। हम इन पर बैठ जाते। इन्हें गोल चक्कर में जोर से घुमाने पर चक्कर-सा आने लगता।

१२ दिनबाद रक्षाबंधन या राखी का त्योहार आता। जिनके जनेऊ होते, वे इस दिन तालाब, जोहड़ या कुओं पर स्नान करते। इसी दिन बहन अपने भाइयों के हाथों पर सुंदर और कलात्मक गोटे-किनारी की राखियाँ बांधतीं और उनका मुँह मीठा करातीं। बदले में भाई उन्हें यथासंभव उपहार देते। वैसे तो राखी संपूर्ण भारतवर्ष का त्योहार है। पर राजस्थान में राखी का बहुत बड़ा महत्त्व है। इस पर्व के साथ इतिहास की बड़ी घटनाएँ सम्बन्धित हैं। अनजान महिला भी विपत्ति के समय अगर किसी को राखी भेज देती, तो उस व्यक्ति का कर्तव्य हो जाता—हर कीमत पर अपनी इस धर्मबहन की रक्षा करना। इतिहा स साक्षी है कि इन धर्मबहनों की रक्षा के लिए कितने ही राजस्थानी वीरों ने अपने प्राणों की बाजी लगा दी थी।

हमारे अंचल की जलवायु बहुत ही शुष्क है, इसलिए जिस साल अच्छी बरसात हो जाती, लोगों के आनंद का पार नहीं रहता। झुण्ड के झुण्ड किसी बड़े तालाब या जोहड़ के किनारे गोठघूघरी का आनन्द लेते। मौसम सुहावना रहता। भंग और ठंडाई छनती। याद है, उन दिनों बादाम की गुली आती थी सवा रुपये की एक सेर। इसलिए लगभग हर गोठ में बादाम की ठंडाई और बादामबर्फी अवश्य होती। कुछ गोठों में दालबाटी और चूरमे की रसोई बनती। सावन मास में ताजा घी इतना केसरिया और सोंधी गध लिए रहता कि बाटी में घी खाने की होड़-सी लग जाती। कोई कोई व्यक्ति तो आधा सेर घी इन बाटियों के साथ खा जाते।

भादवा सुदी चौथ को गणेश चतुर्थी पर्व मनाया जाता। हमारे यहाँ यह पर्व पाठशाला में पढ़ने वाले बच्चों और उनके गुरुओं तक ही सीमित था। तीन-चार दिन पहले ही बच्चे नए-नए कपड़े और सिर पर मखमल की कामदार टोपी पहने और हाथों में कागज की ध्वजाएँ लिए निकल पड़ते। हम सब अपनी-अपनी पाठशालाओं में इकट्ठे होते। वहाँ जुलूस बना कर अनेक प्रकार के गीत गाते हुए गाँव के बाजार और मुख्य मार्गों पर घूमते। हर

जुलूस के आगे-आगे राम, सीता, लक्ष्मण व हनुमानजी चलते। राम, सीता, लक्ष्मण और भरत को मखमल के कोट पहनाकर और चाँदी के मुकुट लगाकर बहुत सुन्दर ढंग से सजाया जाता। चाँदी के इक्के में या रथ में बैठ कर धनुष बाण हाथ में लिए वे सचमुच बहुत भव्य लगते। रास्तों में जगह-जगह उनकी आरती उतारी जाती।

हनुमान वेशधारी का मुखौटा बहुत डरावना होता—लाल लँगोट, लाल कुर्ती, पीछे बड़ी-सी पूंछ, मुँह पर बड़ी-बड़ी आँखों वाला मुखौटा और हाथ में बड़ा-सा मोटा (गदा) देख कर बहुत ही डर लगता। यदि बच्चे हल्ला करते या जुलूस का अनुशासन बिगाड़ते तो हनुमानजी पूंछ फटकारते और गदा हिलाते हुए उन पर झपट पड़ते। मै तो एक दिन डर के मारे जोर-जोर से रोने ही लगा था। इन जुलूसों को 'चौक चानणी' कहा जाता।

हम जो गीत इन चौकचानणियों में गाते, उनमें से एक है—

उठ, उठ, ए लादू की माँ, तेरे बेटो पढ़बा जाय।
पढ़ की पढ़ाई देय, एक रुपयो रोक दे।
गुरुजी ने पाग बंधा, गुरुआणी ने चूनड़ा उढ़ा।

उस समय एक रुपये की माँग आज की एक गिन्नी के समान थी। दूसरा गीत था—

चौक चानड़ी भादूड़ो, देदे माई लाड ड़ो।
लाडूड़े में घी घणो, रामू ऊंदर जी घणो।

इन तीन-चार दिनों में पाठशाला में पढ़ाई नहीं होती। पाठशाला की सजावट और जुलूस की तैयारियों में हम लोग व्यस्त रहते। शाम को मिठाई भी मिलती। पाठशाला से जी चुराने वाले बच्चे भी इन दिनों खुशी-खुशी वहाँ जाते और शाला में ही क्यों, घर में भी हमारी खातिरदारी होती। हाथों में मेहदी रचाई जाती, मिठाई खिलाई जाती और नए नए कपड़े पहनाए जाते।

इस प्रकार वास्तव में गणेश चतुर्थी का पर्व हम बच्चों के लिए आह्लाद, आमोद-प्रमोद और अच्छे मनोरंजन का पर्व होता। उस समय सिनेमा, थियेटर आदि की पूर्ति इन्हीं पर्वों के माध्यम से होती थी।

भादवे का एक और त्योहार था—गोगानवमी। हमारे वहाँ साँपों का बाहुल्य होने के कारण गोगा पीर की पूजा का बड़ा महत्व था। गोगाजी साँपों के देवता थे।

गोगाजी अपने समय के अद्भुत वीर माने जाते थे। ऐतिहासिक कथा है कि जब मुहम्मद गजनवी ने राजस्थान होकर सोमनाथ के मन्दिर पर चढ़ाई की थी, तब उनकी गढ़ी रास्ते में पड़ती थी। गोगाजो लगभग अस्सी वर्ष के वृद्ध थे। उनके साथ गढ़ी में कुल ५०० व्यक्ति थे। जब उन्होंने सरदारों से गजनवी को रोकने के लिए कहा, तब वे बोले, "महाराज, कहाँ तो गजनवी की सवा लाख की अजेय फौज और कहाँ हम मुट्ठी भर लोग !" गोगाजी की आँखें लाल हो गईं, शरीर गुस्से से थरथराने लगा। क्रुद्ध वाणी मे वह बोले, "हमारे जिन्दा रहते ये तुर्क भगवान शिव की मूर्ति नष्ट करने जा रहे हैं, डूब मरने की बात है !"

उनके आदेश से सारे वीर केसरिया वस्त्र पहन, गढी के फाटक खोल कर जूझ पड़े। गजनवी की फौज में तहलका मच गया और कहा जाता है कि इन ५०० वीरों ने पांच हजार दुश्मनों को मार कर वीर गति पाई। आज भी गोगा के भक्त भोपों में जब गोगापीर की छाया आती है, तब वे उसी प्रकार थरथरा कर हथेली पीटने लगते हैं।

भादों वदी अष्टमी को श्रीकृष्ण का जन्मोत्सव मनाया जाता। इस दिन महिलाएँ और पुरुष व्रत रखते। रात को १२ बजे शखघड़ियालों की ध्वनि के बीच श्रीकृष्ण का जन्म होता। नाना प्रकार के भजन गाये जाते। पँजीरी का प्रसाद और मिठाइयाँ खा कर व्रत तोड़ा जाता। हम बच्चे व्रत तो नहीं रखते। हाँ, मिठाई खाने और फलाहार में अवश्य शरीक होते। मन्दिरों में सुरम्य झाँकियाँ लगतीं, जिन्हे देखने लगभग सभी लोग जाते। मुसलमान लोग मन्दिरों में तो नही जाते, बाहर खड़े रह कर मन्दिर की सजावट अवश्य देखते रहते। इन्हें इसमें किसी प्रकार से बुरा नहीं लगता।

आश्विन मास के पहले पक्ष में श्राद्ध शुरू हो जाते। परिवार के बड़ों की मृत्यु की तिथि पर कौओं, गायों और ब्राह्मणों को हवन के बाद भोजन कराया जाता। श्राद्ध में पंचधारी के लड्डुओं का बड़ा प्रचलन था। बादाम और इलायची मिले हुए लड्डू मुझे आज भी अच्छी तरह याद हैं। बहुत प्रकार की मिठाइयाँ खाता रहा हूँ, पर वह स्वाद तो अलग ही था। इन दिनों ब्राह्मणों में खाने की होड़ लग जाती। बड़े घरों मे पेट भर भोजन के बाद लड्डू खाने वालों को प्रति लड्डू एक आने से आठ आने तक दिया जाता। भूरा महाराज नामक एक युवक था। तन्दुरुस्ती और खुराक अच्छी थी। श्राद्ध में वह बीसियों रुपये कमा लेता, जो आज के सैकड़ों के बराबर हैं। श्राद्ध के १५ दिनों में ब्राह्मणों के शरीर पर चिकनाई आ जाती।

रामलीला आश्विन सुदी एक से शुरू होती है और आश्विन सुदी १५ को रावण का वध तथा कातिक वदी एक को राम के राज्यतिलक के साथ समाप्त हो जाती। हमारे यहाँ कृष्णलीला का प्रचलन कम था, पर रामलीला प्रायः हर कस्बे में होती। हजारों स्त्री-पुरुष और बच्चे इन लीलाओं को देखते। इसके लिए कोई टिकट या शुल्क नही था। भगवान की आरती की थाली फेरी जाती। इसमें लोग अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार पैसा, दो पैसा या एक आना डाल देते। अन्तिम दिन रामलीला वालों को कस्बे के प्रत्येक हिन्दू घर से चार आने से लेकर एक रुपए तक का चढ़ावा मिलता। इसके अलावा जब तक वे लोग गाँव में रहते, बारी-बारी सेठ साहूकारों के यहाँ भोजन का निमन्त्रण रहता। राम, सीता, लक्ष्मण, हनुमान आदि अपने-अपने वेशों में सजकर रथों या ऊँट के इक्के में आते। उनकी विधिपूर्वक आरती उतारी जाती और फिर चरण धोकर भोजन कराया जाता। हम बच्चे राम और सीता को वास्तविक देवता ही मानते थे। एक दिन 'रामजी' मुझसे बोले भी थे। उस बात को मैंने कई दिनों तक बड़े गर्व से अपने साथियों को बताया था। मेरे लिए वह इतनी गौरव की बात थी कि जितनी आज प्रधान मन्त्री या राष्ट्रपति से बात करके भी शायद नहीं होती।

दशहरे के दिन रावणवध होता। रावण, कुम्भकर्ण और मेघनाथ भयंकर रूप धारण कर मञ्च पर आते। जब वे बन्दर बने हुए छोटे-छोटे बच्चों को उछालते और उन्हें चपत या मुक्के मारते तो हमें बड़ा डर लगता।

लक्ष्मण के मूर्छित होने पर राम विलाप करते, तो पास बैठी सारी जनता सुबक सुबक कर रोने लगती। जिस दिन रावण और कुम्भकर्ण का वध होता, हर्ष की लहर दौड़ जाती। लोग 'भगवान राम की जय', 'लक्ष्मण की जय' और 'पंवन सुत हनुमान की जय' के घोष से वायुमण्डल को गुँजा देते।

सच पूछा जाय तो आज के सिनेमा, थियेटर और सस्ते कला-प्रदर्शनों से वे कहीं ज्यादा मनोरंजक थे वे धार्मिक और सांस्कृतिक आयोजन, जिनमें हिन्दू, जैन, मुसलमान सभी उत्साह से शामिल होते।

कातिक लगते ही खेतों में बाजरे के सिट्टे, मतीरे और ककड़ी आदि चीजें पक जाती। इन दिनों घरों में अकसर शाम का खाना नहीं बनता क्योंकि—लोग दिन में मौसम का यह मेवा छक कर खा लेते। कुछ लोग आस-पास के गाँवों या खेतों मे चले जाते। जाट लोग बड़े प्रेम से मोरण (बाजरे के भुने दाने), मतीरे और ककड़ी आदि खिलाते। कीमत का तो उन दिनों प्रश्न ही नही था। बल्कि घर लौटते तो बच्चों के लिए कुछ साथ में बाँध देते।

सरदार शहर के मतीरे न केवल हमारे थली प्रदेश में, वल्कि सम्पूर्ण राजस्थान में सबसे अधिक मीठे होते थे और आज भी होते हैं। जमीन पर लम्बी पसरी हुई बेल पर जब मतीरा पकने आ जाता तो कुछ लोग बालू में गढा खोदकर मतीरे को गाड़ देते। पन्द्रहवीस दिन वाद यही मतीरा न केवल आकार में बड़ा हो जाता, बल्कि उसकी मिठास में भी अधिकता आ जाती। ये मतीरे थली प्रदेश और उससे बाहर जयपुर, जोधपुर आदि रियासतों के बड़े-बड़े कस्बों में तो जाते ही, इसके अलावा लोग-बाग इन्हे अपने स्नेही जनों, व सम्बन्धियों के पास कलकत्ता, बम्बई, आसाम आदि दूर-दूर के मुकामों में भी भेजते।

राजस्थान का सबसे बड़ा पर्व दीवाली है। कार्तिक के कृष्ण पक्ष में दीवाली की तैयारियाँ शुरू हो जातीं। सभी अपने-अपने मकानों की सफाई में लग जाते, वर्ष का पुराना कूड़ा-करकट रद्दी फेंक कर मकानों पर नया रंग लगाया जाता और सजाया जाता।

हम बच्चे भी छोटे-छोटे झाड़ुओं से घर-आँगन बुहारते और चीजों को करीने से लगाने में दादाजी व अम्माजो की मदद करते।

कहते हैं कि इसी दिन श्रीराम लंका-विजय करके अयोध्या लौटे थे। उनके स्वागत में अयोध्यावासियों ने जो उत्सव मनाया था, उसीको पाँच हजार वर्षों से उत्तर भारत के हिन्दू मनाते आ रहे है। कालांतर में इसे जैन सिख आदि सभी मनाने लगे। लक्ष्मी-पूजन इसी दिन होता है। इसलिए व्यापारी वर्ग का यह सबसे बड़ा पर्व है।

इस दिन हम वर्षों के रखे हुए दीपक निकाल कर उन्हें भली प्रकार पोंछते, माँ और दादाजी नई बत्तियाँ बँट कर उनमें रखते जाते। घी और तेल डाल कर शाम होते ही इन्हें जला लिया जाता और हवेली के बाहर, पिछवाड़े, ऊपर छत पर, सभी तरफ सजा दिया जाता; गाँव में सब तरफ रोशनी ही रोशनी नजर आती।

लक्ष्मी-पूजन के बाद हम लोग बड़ों को प्रणाम करते और दादाजी या पिताजी के साथ बाजार की रोशनी देखने चले जाते। सारा बाजार दीपकों और गैस की लालटेनों की रोशनी से जगमगा उठता। बाजार की मुख्य सड़क पर बालू बिछा कर पानी का छिड़काव करा दिया जाता। दूकानदार अपनी-अपनी दूकानों के आगे तख्त या पलंग बिछा कर आने जाने वालों का पानसुपारी से समुचित सत्कार करते। कहीं-कहीं ग्रामोफोन पर मधुर गीत

चलता तो उसे सुनने के लिए अनेक लोग खड़े रहते। स्त्रियाँ भी दीवाली की सजावट देखने के लिए बाजारों में आतीं।

दीवाली के दूसरे दिन 'रामरमी' होती। सभी एक दूसरे से मिलते। छोटे बच्चे बड़ों के चरण छूते और उनसे आशीर्वाद प्राप्त करते। बराबर की उमर वाले परस्पर अभिवादन करते। वातावरण आपसी मेलजोल और सौहार्द का हो जाता।

तीसरे दिन भैयादूज का पर्व मनाते। इस अवसर पर विवाहित वहनें मिठाइयाँ लेकर पीहर आतीं और भाइयों को नाना प्रकार के व्यंजन अपने हाथ से खिलातीं। वैसे हमारे यहाँ बड़ा भाई वहन के यहाँ का नहीं खाता, पर उस दिन इस परम्परा को तोड़कर बड़ा भाई भी छोटी बहन की मिठाइयाँ खा लेते। बहनों को इस भावपूर्ण सत्कार के बदले में भाई उन्हे यथाशक्ति उपहार देते।

दीवाली के आठ दिन बाद गोपाष्टमी आ जाती। इसका भी हमारे यहाँ बहुत महत्त्व था। गायों और साँड़ों की पूजा की जाती। उन्हें गुड़, दाल और मिठाई खिलाई जाती। गौशाला पर मेला लगता। जहाँ गोपूजन के बाद लोग श्रद्धानुसार रुपये चढ़ाते। एक आदमी कहता, "एक लगाओ, लाख पाओ।" हम बच्चे रोटी या मिठाई लेकर जाते। हमें छोटे-छोटे बछड़े बड़े प्यारे लगते। उन्हीं को बड़े चाव से खिलाते।

इसके बाद पड़ती देवोत्थान एकादशी। राजस्थान में चौमासे के चार महीने कृषि आदि में व्यस्त जीवन के होते; इसलिए इन दिनों विवाह शादी और यात्रा मना थी। इस एकादशी के बाद यह बन्धन दूर हो जाता। विवाह और यात्रा के मुहूर्त निकलते व आठ महीने तक अर्थात् आषाढ़ सुदी ११ तक ये कार्यक्रम चालू रहते। पौष-माघ में हमारे यहाँ विशेष पर्व नहीं होते। माघ शुक्ला पंचमी यानी बसन्तोत्सव के दिन पीले कपड़े पहन कर लोग सरस्वती की पूजा करते और होली के चंगों को तैयार कर लेते। फाल्गुन बदी तेरस को शिवरात्रि का व्रत रखा जाता। शिव-पार्वती की पूजा होती। होली का धमाल और ढप्प बजने आरम्भ हो जाते।

दीपावली के अलावा यहाँ होली का पर्व सबसे वड़ा होता। फसल घर में आ जाती और जिस वर्ष अच्छा अनाज हो जाता, किसान प्रसन्नता से नाच उठते। डफ लेकर बच्चे और जवान घरों में निकल पड़ते। लड़कियाँ और बहुएँ भी होली के गीत गाने लगतीं। सारा वातावरण उल्लासपूर्ण हो

जाता। जहाँ अश्लील गीत होते, वहीं भाव-पूर्ण और अच्छे गीत भी होते थे— स्त्रियों और पुरुषों के अलग-अलग मनोहर गीत है—

मने पीलोसो पोमचियो रंगा दे, मोरी माय लूबर रमवा मैं जास्यूं।
मनो रामूड़ा रो टेवटियो घड़ा दे, मोरी माय लूबर रमबा मैं जास्यूं।
मने राठोड़ांरी बोली प्यारी लागै, मोरी माय लूबर रमवा मै जास्यूं।
मने राठोड़ां रे घर परणाज्ये, मोरी माय लूबर रमबा मैं जास्यूं।
मने खींच्यां के मत देओ, मोरी माय लूबर रमबा मैं जास्यूं।
खींची कुटावैं मोरी माय, लूबर रमबा मैं जास्यूं।

(लड़की अपनी मां से कहती है—ए मां, मुझे पीली ओढनी रँगा दे, मैं लूबर खेलने जाऊँगी। ए मां मुझे रामजी के नाम का कण्ठहार गढ़वा दे, मुझे राठौड़ों की बोली प्यारी लगती है, उन्हीं के यहाँ मेरी शादी कर देना। खीची राजपूतों के घर मत देना, क्योंकि वह मुझसे खिचड़ी कुटवाएँगे)।

हमारे यहाँ होली 'होलीधोरे' पर जलाई जाती, जो कस्बे का सबसे ऊँचा स्थान होता। होली की जेर (गोबर के बड़कुलों की माला) लेकर घर के जो सदस्य होलीदहन के लिए जाते, हम बच्चे भी उनके साथ ही जाते। अक्सर सारे गाँव के लोग वहाँ इकट्ठे हो जाते। गोबर के कडों और आग की लकड़ियों का बहुत बड़ा अंबार लग जाता।

होली ल्याई ए फूंला की झोली, झिरमिटियो ले।
ओ कुण खेले ए केसरिए बागां, झिरमिटियो ले।
कानीराम खेले ए केसरिए बागां, झिरमिटियो ले ......

इन सब के अलावा स्वस्थ दिल्लगी भी चलती। लोग सारे वर्ष के परिश्रम और थकावट को भूल जाते। हम बच्चे भी इस परिहास में सबसे आगे रहने का प्रयत्न करते। हमारे यहाँ एक पुराना कैमरा था। हम सड़क के बीच में एक कुर्सी डाल कर खड़े हो जाते। उस कुर्सी पर किसी देहाती को बैठा देते। कैमरे के चारों तरफ काले कपड़े का परदा कर के फोटो लेने का अभिनय करते। देहाती को पोज लेने के लिए एक बार खड़ा कर देते। इतने में पीछे से एक लड़का कुर्सी खीच लेता। जब देहाती महाशय बैठते तो धम्म से नीचे गिर जाते। हम सब तालियाँ पीट कर हंसते और वह बेचारा खिसिया कर भाग जाता।

दो तीन लड़के छत पर डोरी लटकाए रहते। डोर से एक हुक बँधी

रहती। जब कोई राहगीर उधर से निकलता तो पीछे से एक लड़का आता और चुपके से उसकी पगड़ी या चादर में हुक लगा कर भाग जाता। ऊपर वाले बच्चे डोर खींच लेते। पगड़ी या चादर डोर के साथ ऊपर चली जाती। बेचारा राहगीर ठगा सा रह जाता। पास-पड़ोस के लोग बच्चों को दो चार पैसा दिला कर उसकी चीजें उसे वापस करा देते। वैसे सभी इस नाटक में परोक्ष रूप से शामिल रहते थे। इसी तरह मजाक भी होते। जैसे हम एक रुपये को फिटकरी पिघलाकर जमीन में चिपका देते। रास्ता चलने वाला रुपये को देखकर झुकता और उठाने का विफल प्रयत्न करता, तो आस-पास से आवाजें आती, "कमा के क्यों नहीं खाते ?" बेचारा शर्मिन्दा होकर चुपचाप चला जाता।

इसी तरह की एक और बात मुझे याद है। टीन के एक पेंदे में छेद करके सुतली डाल लेते और भीगे हुए कपड़े को इस पर जोर से खींचते। कुत्ते के भोंकने जैसी आवाज होती। राहगीरों, विशेष कर गाँवों के भोले लोगों के पीछे इस टीन की आवाज की जाती तो वे अपने वस्त्र फेंक कर भाग खड़े होते। हम सभी ताली पीट-पीट कर हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते।

होली की अन्तिम चार रातों में विभिन्न महल्लों में गीदड़ (डांडिया) नृत्य होता। चौराहे के बीच में एक खंभा रोप कर उस पर गैस की लालटेन लटका दी जाती। नगाड़ा रख देते, जिसे एक आदमी बजाता। उसके चारों तरफ गोलाकार रूप में युवक और प्रौढ़ तरह तरह के वेश धारण करके, जिनमें वर-वधू का जोड़ा, संन्यासी, सेठ डाक्टर और मेम सभी की नकल रहती, डण्डे लेकर नगाड़े की ताल पर पीपलीं, लूर, आदि लोकगीत गाते हुए नाचते रहते। एक अनोखा समा बँध जाता। सैकड़ों स्त्रीपुरुष चारों तरफ खड़े होकर, आस-पास के छत-छज्जों पर बैठ कर इस लोक-नृत्य का आनन्द लेते।

४

गुरु की चोट, विद्या की पोट

उस समय तक हमारे यहाँ मिडिल स्कूल खुल गया था। लेकिन आठवीं कक्षा के तीन-चार लड़कों से अधिक कभी नहीं पहुँचे। हम दोनों भाई आठवीं क्लास तक पहुँच गए थे। हमारे दो साथी और थे। परीक्षा केंद्र बीकानेर था। सन् १९२२ में हम चारों बीकानेर परीक्षा देने के लिये गए, पर चारों ही फेल हो गए।

राजकीय स्कूल में उस समय दो मास्टर थे—धनसुखदासजी और बालचन्दजी। बालचन्दजी ढूंढाड की तरफ के थे। वह 'यहाँ' को 'ऍंडे' कहते थे, इसलिए उनका नाम ऍंडे मास्टरजी प्रचलित हो गया था। एक वाणिका गुरु थे भीखारामजी। उसके बाद तो नये नये मास्टर आते गए। उस समय के मास्टर अपने को आई० ए० पास न कह कर बी० ए० फेल कहते थे। मैट्रिक पास न कह कर आई० ए० फेल कहते थे। हमारे गाँव में सबसे पहले मैट्रिक पास किया था श्री पूनमचन्द आँचलिया ने। जब वह अंग्रेजी अखबार पढ़ते तब हम ताज्जुब में रह जाते। स्कूली पढ़ाई के अलावा अंग्रेजी की एक और शिक्षा-प्रणाली थी—ए बी सी डी पढ़ कर 'तार बाबू' या 'टेलीग्राफ टीचर' पुस्तक याद कर लेना। इसमें दैनिक काम में आने वाले दो-तीन सौ शब्द रहते। मुझे आज भी वे अधिकांश शब्द क्रमानुसार याद है। जैसे 'गो' माने जाना, 'कम' माने आना, 'बाई' माने खरीदो और 'सेल' माने बेचो। इस, संदर्भ मे दो मनोरंजक घटनाएँ बहुचर्चित हैं—

किसी व्यक्ति ने रोमन लिपि में तार दिया कि 'काका अजमेर गया।' उसके घर वालों ने पढ़ा कि 'काका आज मर गया।' वे लोग रो धो लिए। जब तीसरे दिन काका आए तो असली बात का पता चला।

एक लड़का ससुराल गया। उसकी अंग्रेजी की जानकारी की ख्याति थी। संयोग से ससुराल में एक तार आया हुआ था, जो उसे पढ़ने को दिया गया। जब तार का अर्थ उसकी समझ में नही आया तो वह बोला, "यह तार तो कलकत्ते का है, मैं तो सिर्फ आगरे तक ही पढ़ा हूँ।" लोगों को भी उसकी बात से सन्तोष हो गया।

तार पढ़वाने के लिए अधिकांश लोग मास्टर धनसुखदासजी के घर जाते थे।

अंग्रेजी पढ़ाई के अलावा ज्यादा प्रचलित थी - वाणिका और गणित, जो गुरुओं की पाठशाला में पढ़ाये जाते थे। उस समय यह धारणा थी कि जो गुरु ज्यादा मारता-पीटता है, वह अच्छा है। महावरा भी है : 'गुरु की चोट, विद्या की पोट।' उन दिनों लक्ष्मण गुरु और कस्तूरा गुरु नामी थे। ये दोनों लड़कों को डण्डा लकड़ो कर देते थे। यानो पैरों में लकड़ी देकर उकडू बैठा देते। एक दिन एक लड़का कस्तूरे गुरु की मार के डर से कुएँ में जा कूदा। लक्ष्मण गुरु की पाठशाला हमारी हवेली के नीचे की बैठक में लगवा दी गई थी। इससे हमें दूर नहीं जाना पड़ता और हमारी पिटाई भी कम होती। शाम के समय पहाड़ों की 'म्हारणी' (राग लेकर पहाड़ दुहराना) होती। एक लड़का बोलता, 'एक ऊँठा, ऊँठा' दूसरे लड़के बोलते 'दो ऊँठा सात।' लय और ताल के साथ बच्चों के स्वर उस समय बहुत ही अच्छे लगते थे।

उस समय मुड़िया (बिना मात्रा) हरफों का प्रचलन था। गोपीरामजी भरतिया के अक्षर बहुत सुन्दर माने जाते। हम बच्चों की भीड़ उनकी दूकान पर गत्ते लिखाने के लिए लगी रहती। इन गत्तों के ऊपर महीन कागज रख कर हम हरफ जमाते। आज भी मैं जब कभी मुड़िया हरफ लिखता हूँ, गोपीराम जी की याद आ जाती है।

मैं १९२४ में दिल्ली में मैट्रिक का इम्तहान देने गया। वहाँ एक महीने रहा। मेरे एक साथी स्वर्गीय सुमेरमल बोथरा थे। कुतुबमीनार के सामने एक मकान में आठ रुपये महीने पर एक कोठरी लेकर हम ठहरे थे। आज भी जब दिल्ली में उधर से गुजरता हूँ तो ४५ वर्ष पहले की उन बातों की याद ताजा हो जाती है। उस समय वहाँ (दिल्ली में) मेरे कई दोस्त हो गये थे, जिनमें दो से आज भी पत्र-व्यवहार चालू है। उस बार अंग्रेजी और गणित मे फेल हो गया, इसलिए सन् १९२५ में फिर से परीक्षा देने हिसार जाना पड़ा।

मैट्रिक पास करने के बाद उसी वर्ष में पिताजी के साथ धुबड़ी (आसाम) चला गया।

उस समय विदेशी खेलों में हमारे यहाँ सिर्फ फुटबाल ही आया था। वालीवाल, क्रिकेट व हाकी कुछ वर्षों के बाद आए। लोगों के पास पैसे का

अभाव था, इसलिए आमतौर पर ऐसे खेल खेले जाते जिनमें मनोरंजन और व्यायाम तो होता, पर किसी प्रकार का खर्चा न होता। ज्यादा लोकप्रिय थे कबड्डी हुरदडा, गुल्ली-डन्डा और सातताली आदि।

चाँदनी रात में बालू के टीलों में युवक और वृद्धे टोलियाँ बना कर कबड्डी खेलते। हमारी उस रेत में ऐसा आकर्षण रहता कि पोपले मुंह के बुड्ढे भी खम ठोंक कर सामने के पाले में 'कबड्डी-कबड्डी' बोलते हुए चले जाते और कभी-कभी तो पांच छह आदमियों को छू कर वापस आते। उस समय लोग उनका नाम ले ले कर उन्हें बढ़ावा देते रहते। जब अच्छी वर्षा हो जाती तो बालू के उन टीलों से एक ऐसी सोंधी महक निकलती, जो छोटे-बड़े सबके मन को मुग्ध कर देती।

बालू के ऊँचे-ऊँचे टीले मैंने अपने विश्वभ्रमण में और भी देखे हैं। बड़े-बड़े रेगिस्तान भी देखे हैं। आकाश को छूने वाली रेत की आंधी देखी है और देखी है बालू के बीच में बिखरी हुई बस्तियाँ। इजराइल, जोर्डन और सीरिया की सरहद पर 'अबूघोष' के इलाके के बालू के टीलों मे बसे हुए लोगों की दर्दनाक कहानियाँ सुनी हैं। पर उनमें और हमारे 'थली' क्षेत्र के टीलों में अन्तर है। मध्य एशिया के मरुस्थल को निरपराध प्राणियों के रक्त ने सींचा है। सैकड़ों वर्षों तक वहाँ धर्मान्धता ने आग उगली है, राजनीतिक स्वार्थों ने हाहाकार किया है, पर हमारे इन टीलों में धरती माँ के किसान पूतों के श्रमबिन्दु हैं, उनके गाय-बैलों के चरण अंकित हैं। इसलिए ये टीले मनको अपनी ओर खीच लेते हैं। उषा की किरणों में और गोधूली की ललाई से ये मुस्करा उठते हैं। रात्रि में ये शांति की नींद सुलाते हैं, जबकि मध्य एशिया के वे टीले उदास हैं, रोते-से हैं और भयानक लगते हैं।

हमारे यहाँ पंजाब (जिसमें तब हरियाणा भी शामिल था) के पहलवान जब तब आते रहते, बाएँ पैर में सांकल लटकाए गाँव मे घूमते। कोई सांकल रोकने वाला नही मिलता तो, गाँव वालों को कुछ नकद रुपया और कपड़ा उन्हें भेंट देना पड़ता। एक बार एक पहलवान हमारे यहाँ आया और कई दिन घूमता रहा। जब कोई सांकल रोकने वाला नहीं मिला तो लोगों ने एक कयामखानी से जाकर कहा, "काका, गाँव की इज्जत का सवाल है, अगर आप अपने बेटे बन्नू को आज्ञा दे दें, तो वह लड़ने को तैयार है।"

बन्नू की उमर उस समय लगभग बीस वर्ष था, अभी उसकी मसें भींग रही थीं। रोज २५० दंड और ५०० बैठक के अलावा कुश्ती और मुगदर

का अभ्यास भी करता। घर में गाय-भैंस थीं, इसलिए खाने-पीने की कमी थी नहीं। दो दिन बाद दोनों की कुश्ती बदी गई। आस-पास के गाँवों के लोग भी दंगल देखने आ गये। पहलवान का दैत्याकार शरीर देख कर लोग आतंकित थे। थोड़ी देर में ही पहलवान ने बन्नू को धरती पर औंधा गिरा दिया और गुद्दे जमाने लगा। हम लोगों ने सोचा कि बाजी हाथ से गई। बन्नू की मँगेतर भी दर्शकों में खड़ी यह सब देख रही थी। उसने चिल्ला कर कहा, "ए बन्नू, ऐसा न हो कि गाँव की हँसी हो जाए!" देखते क्या हैं कि बात की बात में बन्नू एक झपट्टा मार कर उठा और उसने पहलवान को सिर पर उठा लिया और चारों तरफ घुमाकर जोर से एक तरफ फेंक दिया। पहलवान को इतनी गहरी चोट आई कि फिर से उठ कर सामना करने का साहस नहीं रहा और मुँह वह छिपा कर एक ओर को चलता बना।

गाँव भर में इस दंगल की कई दिनों तक चर्चा रही।

हमारे यहाँ सबसे पुरानी संस्था है 'पब्लिक लाइब्रेरी', जिसकी स्थापना १९०९ में हुई थी। यह संस्था इस समय तक सरदारशहर की सर्वांगीण शैक्षणिक उन्नति में प्रशंसनीय काम कर रही है। इस समय इसकी पुस्तक-संख्या पच्चीस हजार के लगभग है। प्रति वर्ष डेढ लाख पाठक इससे लाभ उठाते हैं। मेरे विद्यार्थी जीवन के समय यह बहुत ही छोटे रूप में थी। थोड़े दिनों तक मैं इसका मन्त्री भी रहा। उस समय हमारे पास पैसों की कमी थी। इसलिए किताबों की जिल्द हाथ से बाँधते रहते। आज भी अपनी बाँधी हुई जिल्दें देखकर एक अनोखा आनन्द महसूस करता हूँ।

दूसरी संस्था तेरापन्थी जैन श्वेतांबर सभा थी। इसमें बहुत से हस्त-लिखित प्राचीन जैन ग्रन्थ थे। आज भी यह संस्था अपने निजी भवन में मौजूद है।

इनके अलावा 'मनोरंजन नाट्य परिषद' और 'सेवा-समिति' नाम की दो संस्थाएँ थीं, जो सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत करती रहतीं। इन दोनों में नये-नये नाटक प्रस्तुत करने की होड़ लगी रहती थी। मुझे उस समय के देखे हुए कुछ नाटकों की याद है। जैसे, 'श्रवणकुमार', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'भीष्म प्रतिज्ञा', 'भक्त मोरध्वज', 'गणेश जन्म', 'कृष्णार्जुन युद्ध' आदि। 'श्रवण-कुमार' नाटक में राजा दशरथ के बाण से श्रवण की मृत्यु हो जाने पर जब उसकी माँ बिलख-बिलख कर रोई थी, तब मुझे बहुत दिनों तक वह दृश्य याद आते ही रुलाई आ जाती। उस समय मैंने समझा था कि सचमुच ही श्रवण की मृत्यु हो गई है।

एक दिन बड़ा मजा आया। पात्र की एक तरफ की मूंछ गिर गई। उसे पता नहीं चला। लोग बहुत जोर से हँसने लगे। इसी प्रकार एक बार हनुमान बने हुए पात्र ने जब एक राक्षस को पीट दिया (शायद पहले से कुछ झगड़ा था) तब दोनों में वास्तविक युद्ध छिड़ गया। राक्षस हनुमान से मजबूत था। उसने हनुमानजी को धर दबोचा और उनका मुखौटा और पूंछ उखाड़ कर फेंक दी, जब कि दृश्य था हनुमानजी द्वारा राक्षस पर विजय पाने का। शर्म के मारे इसके कई दिन बाद तक हनुमानजी घर के बाहर नहीं निकले।

इनके अलावा झुंझनूं शेखावटी की ओर से नौटंकी वाले आते रहते। उनका 'ख्याल' सारी रात चलता रहता। जगदेव कंकाली, अमरसिंह राठौर, सुल्ताना डाकू, रामू चनणा और डूंगजी झुहारजी आदि के ख्याल होते। ठंडी रात में नगाड़ों की आवाज पर नायक की लावणी की तान इतनी जोर से गूंजती कि गांव के दूसरे छोर तक सुनाई देती। उन दिनों माइक नहीं थे।

किसी ढोलन (गाने वाली जाति की स्त्री) की आवाज भी बहुत ही सुरीली और दर्दभरी होती थी। एक बार महाराज गंगासिंह अपनी ताल की कोठी में ठहरे हुए थे। फाल्गुन का सर्द महीना था रात के दस बज गए थे। ऐसे में मौलाबक्श मीरासी की स्त्री ने दर्द-भरी आवाज में एक गीत गाया। आधा मील पर ठहरे हुए राजा जी ने गीत को सुन कर अपने मुसाहिबों को स्त्री का पता लगाने भेजा। दूसरे दिन मिरासिन को बुला कर बहुत सा इनाम दिया गया।

शार्दूल व्यायामशाला की स्थापना १९२२ के लगभग हुई। आरम्भ में तो यह संस्था बहुत अच्छी चली, पर आगे जाकर केवल स्नान करने वाले लोग ही वहाँ जाने लगे, क्योंकि वहाँ पर ट्यूबवेल का ठंडा पानी मिल जाता।

सनातन धर्म वालों की 'धर्म सभा' नाम की भी एक संस्था चलती थी। यह साधु-महात्माओं की सेवा और उनके प्रवचनों के आयोजन का काम करती थी।

१९२१ के लगभग जयचन्दलालजी सेठिया ने 'नवयुवक मण्डल' की स्थापना की। इसके मुख्य कार्यक्षेत्र थे एक पुस्तकालय और एक औषधालय। पाँच-छह वर्ष बाद यह संस्था बन्द हो गई।

इन संस्थाओं की देखा-देखी हम बच्चों ने भी 'सर्वहितकारिणी' नाम

की एक संस्था चालू की। थोड़े दिनों बाद वह पब्लिक लाइब्रेरी में बिलय हो गई।

हमारे राजस्थान के कस्बों में गोशालाएँ सब जगह हैं। सरदारशहर में भी १९१८ मे गौशाला की स्थापना हो गई थी। प्रति वर्ष कार्तिक सुदी आठे को गोपाष्टमी का मेला होता है। हम बच्चे घर से मिठाइयाँ ले जाते और यहाँ की गायों, साड़ों और बछड़ों को खिलाते। मैंने अपना पहला भाषण सन् १९२२ में इसी गौशाला में गोपाष्टमी के अवसर पर दिया था। शायद एक-दो मिनट बोला हूँगा। पैर लड़खड़ाने लगे थे और बदन पसीने से भीग गया था।

गाँव में श्री श्यामनारायण व डाक्टर डिगे—दो डाक्टर थे, जो पश्चिमी ढंग की चिकित्सा करते थे। उनकी फीस एक रुपया थी, पर इतनी बड़ी रकम देने की शक्ति धनी लोगों मे ही थी। साधारण जनता वैद्यों से इलाज कराती। वे धनी लोगों से शुरू मे एक रुपया लेते और रोग ठीक हो जाने पर लोग बाद में सामर्थ्य के अनुसार जो कुछ भी दे देते, वह सहर्ष स्वीकार कर लेते।

वे काष्ठादिक दवाओं के अतिरिक्त कीमती औषधियाँ भी रखते। उनसे विश्वसनीय औषधियाँ प्राप्त हो सकती थीं। साधारण लोगों से वे कोई फीस न लेते। केवल नारियल की भेंट से उनकी चिकित्सा शुरू हो जाती और उस समय नारियल का मूल्य था छह-सात पैसे।

इनके अलावा जैन यती भी चिकित्सा करते। वे नाड़ी के अच्छे पारखी होते थे। उनकी चिकित्सा में मूल्यवान औषधियों का भी उपयोग होता था। पर वे औषधियाँ केवल अपने शिष्य को ही बतलाते थे। उनके कुछ चमत्कार भी सुनने को मिले हैं।

आम तौर पर यह धारणा थी कि जैन यती अपने चिकित्सा कौशल से, कीमती औषधियों के बल से या तपस्या के प्रभाव से रोगी को अच्छा कर देते हैं। इनमें से कौन सा कारण वास्तविक था, यह मैं नहीं कह सकता। आज के जमाने में ऐसे जैन यती चिकित्सक भी विरले ही मिलते हैं। बहुत सी ऐसी बातें मशहूर थीं, जिन्हें आज कोरी बकवास ही कहा जाएगा।

उन दिनों एक सिद्ध जैनयती की बड़ी चर्चा थी। कहते हैं कि एक गृहस्थ उनसे तिथि पूछने गया। उस दिन थी अमावस्या, पर यती के मुँह से निकल गया पूर्णमासी। वहीं पर बैठे हुए एक अन्य व्यक्ति ने उनकी भूल का खण्डन किया, पर यती ने मन में भूल स्वीकार करते हुए भी, ऊपर से फिर अपनी बात को दुहराया, "नहीं, आज पूनम।"

श्री गिरधारीलालजी
पितामह

श्री शिवनारायणजी टाँटिया
पिता

श्री हरचन्दराम सराफ

श्वसुर

माम
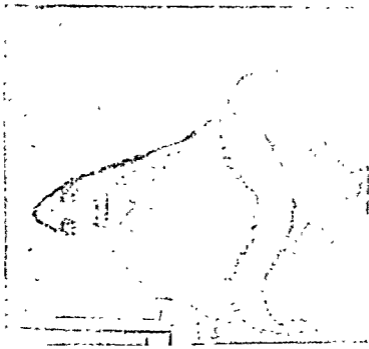
टाँटिया परिवार

कुर्सी पर बैठे हुए सर्व श्री शिवप्रताप टाँटिया, शिवनारायण टाँटिया (पिता), रामेश्वर टाँटिया पीछे खड़े हुए : सर्व श्री सत्यनारायण टाँटिया, बृजलाल टाँटिया, मदनलाल टाँटिया, फर्श पर बैठे हुए : श्री नन्दलाल टाँटिया एवं बहनें

पौत्र चि० अशोक के प्रथम जन्मोत्सव पर परिवार
बायें से (खड़े हुए) श्री रामजीदास डालमिया (ज्येष्ठ जामाता) चि० राजेन्द्र-कुमार, चि० नन्दलाल, सुशीला बाई (रतनी बाई की कन्या) (बैठे हुए) श्री रामेश्वर टांटिया, गोद मे चि० अशोक, श्रीमती (दुर्गादेवी पत्नी) बेला, श्रीमती शारदा, श्रीमती रतनी बाई (ज्येष्ठ पुत्री)

यें से—ज्येष्ठ पुत्री रतनी बाई, पत्नी दुर्गा देवी, भाई बृजलाल की पत्नी पार्वती देवी, मदनलाल की पत्नी सावित्री देव

दुधवेवाला

श्रीमती मनोहरी देवी छोटड़िया
(श्री रामेश्वरजी टाँटिया की बड़ी बहन)

सुगनचंद जी वैद्य सरदारशहर
आयु १०० वर्ष

स्व० सुखानन्द जी
छोटड़िया

डेडराज जी भरतिया

श्री रामेश्वरजी टाँटिया : युवावस्था

बदनामी जल्दी फैलती है। गाँव भर में यती की इस नादानी की चर्चा फैल गई। पर रात को पूर्णमासी का पूरा चन्द्रमा आकाश में मुस्करा रहा था। सारा कस्बा आश्चर्य में डूब गया।

यह बात सच है या झूठ, मैं नहीं कह सकता। मैंने तो बड़े-बूढ़ों के मुँह से चर्चा सुनी थी, पर मेरा ख्याल है कि साधुओं के बात से बात का बतंगड़ इसी प्रकार से फैलता है। इनके चेला-चाँटी ऐसे ऐसे मनगढ़न्त किस्सों को खूब फैलाते थे। हमारे कस्बे में साधुओं का बड़ा बोलबाला था।

वैद्यों और डाक्टरों के अलावा झाड़-फूंक वाले ओझे भी थे, जो मन्त्रों से रोग दूर करने का उपक्रम करते रहते। कभी-कभी मनोवैज्ञानिक कारणों से इन्हें सफलता भी मिल जाती। रोगों के शमन के लिए देवी देवताओं और पीर-पैगम्बर की मनौतियाँ भी मनाई जाती। अनेक प्रकार के टोटके भी इस्तेमाल किये जाते। पर दवाओं के अन्वेषण की कमी और अन्धविश्वास का कुपरिणाम यह होता कि अनेक व्यक्ति, विशेष कर बच्चे, असमय में ही मर जाते।

मेरे पड़ोस में एक विधवा युवती थी, जिसे अक्सर हिस्टीरिया का दौरा आता था। दौरों के समय उसके घर वाले एक ओझा को बुलाते। वह लाल मिर्च और गन्धक का धुआँ उसके नाक और मुँह के पास देता और मन्त्र पढ़ता रहता। थोड़ी देर बाद जब उसकी चेतना लौटती तो वह बहुत ही व्याकुल होकर चिल्लाती, छटपटाती और जो कुछ ओझा कहलवाता उसी को दोहराती रहती। जैसे, 'मैं अमुक जगह की प्रेतिनी हूँ, वहाँ से इसके साथ आ गई, एक बार मुझे छोड़ दीजिये, फिर कभी नहीं आऊँगी,' आदि। हम बच्चों को यह सब देख कर बड़ा डर लगता था।

जादू टोने करने के लिए कुछ महिलाएँ चौरस्ते पर सिंदूर, उड़द, गुड़ और कुछ पैसे आदि रख आतीं। उनकी धारणा थी कि यदि कोई व्यक्ति भूल से भी उन पर ठोकर मार देगा या उन्हें लांघ जाएगा, तो उनका रोग या पीड़ा उस व्यक्ति को लग जाएगी।

मैं एक ऐसे आदमी को जानता था जो पैसे और गुड़ वगैरा इन चौराहों से उठा लाता। न तो उसे कभी कोई बीमारी हुई और न किसी भूतप्रेत ने ही उसे सताया।

इन वैद्य डाक्टरों के सिवाय राजस्थान के प्रत्येक कस्बे में एक दो नाड़ी ज्ञान वाले निःशुल्क वैद्य (सयाने) भी होते थे। हमारे यहाँ भी सूरजमल

पंसारी और हरनारायण बजाज इसी श्रेणी के ऊँचे दर्जे के आयुर्वेद के ज्ञाता थे। कठिन से कठिन बीमारी में, जब कि दूसरे चिकित्सक निराश हो जाते, इनकी दवा कारगर सिद्ध हो जाती थी। किसी प्रकार की फीस और दवा के दामों का तो प्रश्न ही नहीं था। पता चलने पर धनी या गरीब सबके घर अपने आप पहुँच जाते। चाहे वैशाख जेठ की दोपहर की गरमी हो या पौष माघ की ठिठुरती रात! उन्हें न कभी खून, कफ और मूत्र की परीक्षा की दरकार रहती और न स्टेथिसकोप और थरमामीटर से रोगी के दिल की धड़कन या बुखार देखने की जरूरत महसूस होती। भगवान का नाम लेकर वे नाड़ी पर हाथ रखते और दो मिनट बाद ही रोग का सही निदान बता देते।

एक बार मुझे भी कुकरखांसी हो गई थी। बहुत इलाज कराने के बाद भी लाभ नहीं हुआ। आखिर हरनारायणजी बजाज के काढ़ों से मैं ठीक हुआ। संयोगवश अगर दोनों एक साथ आ जाते, तब तो फिर रोगी और घर वालों में इतना साहस हो जाता कि आधा रोग तो इसीसे मिट जाता। बहुत दिनों बाद मैंने श्री ताराशंकर बनर्जी का 'आरोग्य निकेतन' पढा। उसके 'जीवन महाशय' का चरित्र पढ़ कर मुझे अपने गाँव के इन दोनों महानुभावों की याद आ गई।

एक बात अवश्य उल्लेखनीय है कि उस समय बच्चों की चिकित्सा के बारे में बहुत कम अन्वेषण हुए थे। पचास प्रतिशत बच्चे एक वर्ष के भीतर ही पोलिया, चेचक और पेट की बीमारी से मर जाते थे। अन्धविश्वास के कारण इनको वैद्य डाक्टरों की दवा न दिला कर झाड़-फूंक और देवीदेवताओं की मनौती के भरोसे छोड़ दिया जाता।

उस समय लोग आम तौर पर पुराने धार्मिक विचारों के थे, इसलिए साधु-संतों पर उनकी बहुत आस्था थी। विभिन्न धर्मों के साधुओं के प्रवचन होते रहते थे। हरिद्वार, ऋषीकेश, वृन्दावन आदि से साधुओं की टोलियाँ अक्सर ही आती रहती थीं। खास कर चौमासे (वर्षा ऋतु) में तो बड़े-बड़े नोहरों और धर्मशालाओं में इनके डेरे लगे रहते। आस-पास के गांवों से भी लोग इनके प्रवचन सुनने को आ जाते।

५

टोडरमल जीत्याजी

कई प्रकार की साधुसंस्थाएँ थी, जैसे जैनियों में तेरापंथी, बाईसपंथी, मंदिरमार्गी आदि और सनातनियों में दादूपंथी, रामसनेही, गोरखपंथी। कभी-कभी एक दो अघोरी साधु भी गाँव में आ जाते, जिनके हाथ में मनुष्य की खोपड़ी रहती। उनकी लम्बी-लम्बी जटाएँ लटकती रहती और बदन पर सिन्दूर पुता होता।

ओसवाल जैनियों की संख्या बहुत थी। इनमें अधिकांश जैनी तेरापंथी थे। कुछ ओसवाल बाईस संप्रदाय के अनुयायी थे और मंदिर-मार्गी भी थे, पर उनकी संख्या बहुत कम थी।

तेरापंथी साधुओं का गैरजैनियों में भी मान था। तेरापंथ के आचार्य, जिन्हें पूजजी कहते थे, जब कभी हमारे कस्बे में आते, बड़ी धूम-धाम से उनका स्वागत होता। जैनी और कुछ अजैनी भी स्वागत में भाग लेते। जितने दिन पूजजी हमारे यहाँ प्रवास करते, बड़ी चहल-पहल रहती। दूसरे कस्बों और गाँवों से सैकड़ों स्त्री-पुरुष दर्शनार्थ आते। इनके ठहरने और खाने-पीने की व्यवस्था रहती सेठ श्रीचन्दजी गधय्या की तरफ से।

मैंने बचपन से ही इनका दीक्षा-संस्कार देखा है। छोटे-छोटे बालक-बालिकाएँ माता-पिता, घर परिवार, धन आदि सब कुछ त्याग कर आचार्य की शरण में जाकर साधु बनने की दीक्षा लेते।

दीक्षा के पहले दिन विरागी की धूम-धाम से सवारी निकाली जाती। चाँदी के इक्के पर बिठा कर उसे नगर भर में घुमाया जाता। बड़े मान-सम्मान के साथ घरों पर निमंत्रित किया जाता।

दीक्षा के समय आचार्य एक ऊँचे आसन पर बैठ जाते। बालक या बालिका के मातापिता से जब अनुमति मिल जाती, तब वे जैन मंत्रों का सस्वर उच्चारण करते हुए विरागी के केश अपने हाथ से नोचते और उसे दीक्षित घोषित कर देते। उस समय सारा मण्डप 'घणी खम्मा' के घोष से गूँज उठता। उसके मातापिता, स्त्री, पति, बेटा-बेटी, नाती-पोते उसी समय

अपना सब सम्बन्ध समेट कर, उस विरागी के सामने घुटने टेक कर वंदना करते ।

दीक्षा-समारोह में लोगों द्वारा इतनी दिलचस्पी लिए जाने का कारण, कौतूहल के साथ-साथ शायद श्रद्धा की भावना भी थी। हम बालकों के मन में ऐसी कोई भावना नहीं थी। हमें तो ऐसी चहल-पहल, मेला और जमाव अच्छा लगता था। केश नचाते देखकर कभी-कभी हम औरों की आँखें छिपा कर अपने केशों को भी खींचकर उस पीड़ा का अनुभव करते। हममे से अनेक को यह दृश्य देखते हुए डर भी लगता था।

शायद स्त्रियां पुरुषो से अधिक श्रद्धालु होती हैं। धर्म के प्रति अपनी विशेष आस्था, अनुरक्ति एवं प्रवृत्ति के कारण अथवा समाज तथा परिवार में अपनी विशिष्ट स्थिति के कारण स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक संख्या में साध्वी होती थीं और आज भी ऐसी स्त्रियो की सख्या बहुत अधिक है। सबसे पहले मैंने सेठ भैरोंदान भसाली के बाग मे दीक्षा समारोह देखा था। इस समारोह मे छोटे बड़े बहुत से लड़के-लड़कियों ने दीक्षा ली थी। बड़ा भारी मेला लगा था। उसमे हजारों नरनारी उपस्थित थे। याद है कि केशों के नुचाते समय कई लोगों के नेत्रों मे आंसू उमड़ आए थे।

कम उमर के जो लोग मुनि-धर्म की दीक्षा लेते थे, वे इतनी गहराई तक जैन धर्म को समझ लेते थे या नही, यह मै नही कह सकता। कभी कभार कोई साधु फिर से गृहस्थ हो जाता था, पर उसे फिर अपने घर में स्थान नहीं मिलता था। समाज में उसे अच्छी दृष्टि से भी नहीं देखा जाता था।

तेरापंथी और बाईस सम्प्रदाय के गृहस्थ दिसावरों में पाट, कपड़े की दलालो, आढ़त, जूट का व्यापार और सोना-चाँदी और सट्टे मे लाखों रुपया कमा कर 'देश' मे ले आते और बड़ो-बड़ी हवेलियां बनवाते और जैन साधुओं की सेवा करते। तेरापंथी सम्प्रदाय की उस समय तक यह मान्यता थी कि कुएँ, धर्मशाला या पाठशाला बनाना धर्म की बात नही हैं। इस बारे में यहाँ तक कहा जाता था कि कुएँ और तालाब के पानी में जीव जन्मते और मरते रहते हैं। उसका पाप लगता है कुआं बनवाने वाले को। आजकल धारणा बदल गई है और कई प्रकार की सार्वजनिक संस्थाएँ इनके द्वारा संचालित हैं।

अग्रवाल, माहेश्वरी, ठाकुर और अन्य जातियों के लोग वैष्णव या शैव थे। इसलिये गाँव में हिन्दू साधु-सन्त भी अक्सर आते रहते थे। यह अवश्य है कि हिन्दू साधुओं के स्वागत-सत्कार में जैनी ज्यादा दिलचस्पी नहीं दिखाते थे। हिन्दू साधुओं के स्वागत मे भाग लेने वाला वर्ग उतना धनी भी नहीं था।

हमारा परिवार रामसनेही था। बड़े-बड़े महात्मा इस पंथ में हुए हैं। उस समय उनकी पूरी वंशावली हमें याद थी। सरदारशहर में जब कभी बाहर से सन्त-महात्मा पधारते तो अपने दादाजी और पिताजी के साथ हम बच्चे भी प्रवचनों में जाते थे। हमारे दादाजी बहुत वृद्ध होने पर भी छह घण्टे प्रतिदिन 'राम नाम' का पाठ करते थे।

हमारी तरफ नाथ सम्प्रदाय में कुछ सिद्ध साधु हुए हैं। हमारे बड़े-बूढ़े उनकी गाथाएँ, सुनाया करते थे। कहते हैं कि एक बार कलकत्ता में एक बड़े महाजन को 'कीड़ी नगरा' की बीमारी हो गई। अंग्रेजी में इसे 'गैंगरीन' कहते हैं। शरीर के जिस भाग में इस रोग के कीटाणु लग जाते हैं, उसे गला डालते हैं। बाद में उस अंग को काटना पड़ जाता है। जब हर प्रकार के इलाज से कलकत्ता में लाभ नहीं हुआ तो सेठजी महात्मा अमृतनाथ की शरण में आए। नाथजी ने घाव देख कर कहा—"कीड़ियाँ तो पुराना अनाज खाती हैं, इसलिए इस पर पुराने बाजरे का दलिया बाँध कर देखो।"

जो रोग अनेक डॉक्टर-वैद्य अच्छा न कर सके, वह तीन दिन में समाप्त हो गया। ऐसी ही अद्भुत कथा एक अन्य महात्मा के बारे में सुनी थी। कुछ लोग उनसे मिलने गये। देखा कि महात्मा जी आसन पर बैठे हैं। बगल में एक काला कम्बल काँप रहा है, हिल रहा है। लोगों ने साश्चर्य पूछा,—"यह क्या है, महाराज?"

"शरीर का भोग है। दो-तीन दिन से भयानक ज्वर आ रहा है। आप लोग इतनी दूर से मिलने आये, सो इसीलिए कुछ देर के लिए यह भोग मैंने अपनी कंबली को सहेज दिया है।"

ऐसी अनेक घटनाओं की चर्चा हम सुनते थे, देखी एक भी नहीं। और आज तो सोचता हूँ कि ये सब मनगढ़न्त बातें लोगों को प्रभावित करने और फुसलाने के लिए प्रचारित की जाती थी।

दादू-पंथियों का हमारे कस्बे में स्थायी डेरा था और आज भी है। इस पन्थ के उस समय के संचालक स्वामी रामदयाल जी समाज और साहित्यसेवी थे। उन्हीं के प्रयत्न से वहाँ एक धर्मशाला, हनुमान मन्दिर, पानी का कुण्ड और मनोरंजन नाट्य परिषद का रंगमञ्च आदि बने। सरदार शहर का बड़ा ताल (मैदान) भी उन्हीं के प्रयत्नों से सुरक्षित रह सका।

शादी-विवाह बचपन में ही हो जाते थे। सगाई तो चार-पाँच वर्ष की उमर में ही हो जाती। विवाह दस-बारह वर्ष की अवस्था में होते, पर वह

ससुराल जाती विवाह के तीन या पांच वर्ष बाद, जब गौना होता। राजस्थान के उस अंचल का जीवन कठिन और शुष्क होता था, इसलिए शादी-विवाह के अवसरों पर लोगों में उत्साह और आनन्द छा जाता था। गांव छोटे थे, इसलिए लड़की को दूसरे गांव में देते और अन्य गांव की लड़की को अपने यहां बहू बना कर लाते। उस समय तक बैठे विवाह (लड़की को लड़के वाले के यहां लेकर जाना) का रिवाज नही था। इसे लोग अपमानजनक मानते। लड़के वाले सैकड़ों आदमियों की बरात लेकर जाते। जहां रेल नहीं होती, वहां ऊंटों और रथों की कतार बन जाती। किसी-किसी बड़े महाजन, सेठ या ठाकुर की बरात मे हाथी भी रहता।

बरात के पहले वर पक्ष के लोग मित्रों या सम्बन्धियों से चौका कराते, यानी उन्हें बरात में जाने का आमन्त्रण देते। किसी-किसी बरात में तो चार-पाँच सौ तक बराती हो जाते। लोगों में बहुत दिन पहले से ही चर्चा होती कि फलां के लड़के की बरात अमुक गांव जाएगी। वे आमन्त्रण यानी 'चौका' की राह देखते रहते।

इस सन्दर्भ में मुझे एक दिलचस्प बात याद आ जाती है, जिससे पता चलता है कि लोग बरात में जाने को कितने उत्सुक रहते। एक साधारण गृहस्थ की बरात जाने को थी। ५० बरातियों के लिए २५ ऊंटों की व्यवस्था थी। पड़ोस के एक व्यक्ति को आमन्त्रित नहीं किया गया, लेकिन वह बरात मे जाना चाहता था। अपने बेटे के साथ वह नये कपड़े पहन कर वर-पक्ष के घर के सामने खड़े हुए एक ऊँट पर सवार हो गया।

जब दो बरातियों के लिए सवारी नहीं मिली, तब वर पक्ष के पिता को पता चला और उसने कहा कि 'अच्छा हुआ आप आ गए। मै तो काम के झंझटों में आपका चौका करना ही भूल गया था।' पड़ोसी ने बिना किसी झेंप के उत्तर दिया कि 'चौका तो गांव वालों के लिए होता है; हमारे तो घर के लड़के का विवाह है।' उसी समय एक और ऊँट दो बरातियों के लिए मँगाया गया।

इन बरातों का महत्त्व इसलिए भी अधिक था कि उन दिनों वायु-परिवर्तन के लिए या भ्रमण के लिए पहाड़ी स्थानों या दूसरे शहरो मे जाना सम्भव नही था, क्योंकि लोग बहुत कम खर्च में जीवनयापन करते थे। मित्रों के साथ तीन-चार दिन तक दूसरे कस्बों मे घूमने-फिरने और मौज-मस्ती करने का अवसर मिलता; हँसी और चुहल का उन्मुक्त वातावरण रहता। बरात मे बुड्ढों का मन भी बच्चो और युवकों का सा हो जाता था। जनवासे

के लोगों के साथ हंसी-दिल्लगी होती रहती। इस सन्दर्भ में मुझे कई प्रकार की घटनाएं याद हैं।

एक बरात में एक दादा और पोता गए। दोनों की खूराक अच्छी थी। भोजन के बाद रात में दूध लेकर जनवासे मे लोग आए। बराती थके हुए थे, इसलिए सो गए। उन्होंने दूध पीने से इनकार कर दिया। लड़की वालों ने व्यंग्य किया, 'घर में कभी दूध पिया हो तो पिएँगे।' दादा जग रहे थे। उन्होंने जवाब दिया, "पिया हुआ तो नही है, लेकिन आज पी लेंगे।" दस-बारह सेर दूध था। दादा ने जब आठ-नौ सेर दूध पी लिया, तो पोता बोल उठा, "कुछ मेरे लिए भी तो छोड़ो।" शेप बचा दूध पोते ने समाप्त कर दिया।

अब तो दूसरे बराती भी दूध की माँग कर बैठे। आधी रात को भला और दूध कहां से आता। शर्मिन्दा होकर बहू पक्ष के लोग वापस चले गए।

एक विवाह में बराती लोग जोमने बैठे। लड्डू कुछ कड़े थे। एक ने लड़की वालों को बुलाया और ऊँची आवाज में सबको सुना कर कहने लगा, "साह जी, कृपया ५० सिललोढ़े और ५० आदमी जल्दी मँगाइए।" कारण पूछने पर वह बोला, "सिल ठोढ़ी के नीचे रखेंगे, सिर पर लोढ़े की चोट लगेगी, कुछ मुँह का जोर लगाएँगे, तब आपके लड्डू फूट पाएँगे।"

सब लोग हसने लगे लड़की वाले खिसियाकर रह गये।

इसी प्रकार एक विवाह में बादाम को बरफी बहुत पतली थी और कम परोसी जा रही थी। एक बराती ने पास बैठे एक बालक को चिकोटी काट दी। बच्चा चिल्लाया। लोगों ने रोने का कारण पूछा तो बराती महोदय बोले, "यह बादाम की बर्फी के लिए रो रहा है। शैतान कहीं का, पूरी-साग नही खाता।" जब बादाम को बर्फी आई, तब उस बराती ने अपने लिये भी बहुत सी ले ली।

इन स्वस्थ हास-परिहासों के साथ साथ कभी-कभी भोड़े मजाक भी हो जाते थे। जनवासे वालो ने उनको सबक सिखाने का निश्चय किया। बरात के डेरे मे से रात को किसी प्रकार उनके दो कुरते मँगा लिये गए। दूसरे दिन दो वेश्याएँ दोनो कुरते लेकर डेरे पहुँची और सब लोगों के सामने कहने लगीं कि 'आपके यहाँ से ये दो सेठ कल रात हमारे यहाँ गये थे; इनके पास पैसे कम थे। इसलिए उन्होने ये कुरते गिरवी रख दिये थे। इनसे हमारे पैसे दिला दीजिए।'

दोनों बरातियों की शक्ल पहले ही वेश्याओं को चुपके से दिखा दी गई थी। बात इतनी प्रत्यक्ष थी कि शंका की कोई गुञ्जाइश नहीं रही। वे बेचारे बहुत ही शर्मिन्दा हो गए।

सिर पर लाल पाग और गुलाबी कमरबन्द सहित लाल बागा, मस्तक पर गोटे-किनारी वा झूलता सेहरा, यह होती थी वर की पोशाक। मेंहदी लगे हाथ मे रहती तलवार। वर घोड़ी पर चढ कर जुलूस के साथ लड़की वालों के यहाँ जाता और उनके दरवाजे पर लगे तोरण पर तलवार से या बेर की झाड़ी की हरी छड़ी मारता। इस जुलुस को 'ढुकाव' कहते। धनी महाजनों और जमींदारों के ढुकाव सजे हुए हाथी पर निकलते। ढुकाव गाँव या कस्बे के मुख्य मार्गों, बाजारों से निकलता। जनवासे पहुँचते ही गुलाब-जल या केवड़ा-छिड़क कर और इत्र लगा कर बरातियों का स्वागत किया जाता।

भांवरे या फेरे आम तौर पर गोधूली या आधी रात की बेला में होते। लड़के-लड़कियों का विवाह छोटी अवस्था में ही कर दिया जाता इसलिए अक्सर देखा जाता कि वर और वधू फेरों में नींद ले रहे है।

बरातें प्रायः चार-पांच दिन ठहरती। बराती लोग गाँव कस्बे के दर्श-नीय स्थानों को देखते और ताश-चौपड़ आदि खेलों मे मस्त रहते। रोज दोनों समय नए कपड़े पहन कर अपना शौक पूरा करते। घर में पानी के अभाव मे जहाँ नहाने का नागा करना पड़ता, वहाँ बरात में तीन-तीन बार नहाते और वह भी एक बार में दस-बारह बालटी पानी से कम नही। राज-स्थान में और हमारे इलाके में उन दिनो वैसे ही पानी की कमी थी; बरातें आ जाती तो पानी की बड़ी समस्या हो जाती। लड़की वाले इस सवाल को लेकर बड़े चिन्तित रहते। लेकिन समाज और बिरादरी का मेलमिलाप इतना स्नेहपूर्ण था कि सब एक दूसरे की कठिनाई दूर करने को तत्पर रहते।

लड़की वालो की तरफ से प्रत्येक बराती को यथाशक्ति उपहार दिए जाते। विदा के समय लड़की को गहने और कपड़े दिए जाते। जवाई और उसके घर वालों को भी पोशाकें और नकद धन दिया जाता। लेकिन आज कल की तरह ठहराव या सौदेबाजी नही थी। सस्ती का जमाना था। मुझे याद है कि साधारण गृहस्थो के घरों मे ५०० से लेकर दो तीन हजार रुपयों तक मे विवाह हो जाते। गाँव में जान-पहचान के सभी घरों से टीके या बान के रूप में नारियल और एक रुपया बेटी वाले को दिया जाता। यह बिरा-दराना स्नेह-सम्बन्ध का प्रतीक था, जो आज भी सीमित रूप में चालू है।

इससे जहाँ लड़की वाले का आर्थिक बोझ हल्का होता, वही सामाजिक स्नेह भी पलता-पनपता। सहकारिता का यह एक अनुपम उदाहरण था।

बरातें धर्मशालाओं मे ठहरती। आज भी उनकी दीवारों पर स्याही या कोयले से लिखा हुआ मिल जाता है कि किस गाँव में किस संवत् मे इतने आदमियों की बरात आई। अपने गाँव की तुलना मे इस गाँव को हल्का बताने की चर्चा भी रहती। बरात की जीमनवार के समय वधू पक्ष की महिलाएँ बरातियों को सुन्दर भावपूर्ण सीठने (गालियाँ) देती रहती। यह प्रथा शायद रामायणकाल से ही चालू है। सीताजी के विवाह के समय भी राजा जनक के यहाँ की स्त्रियों ने अयोध्या के बरातियों को सीठने गाए थे।

बरात को औपचारिक विदा दो जाती, जिसे 'पहरावणी' कहते। बराती और जनवासे वाले सभी एक जगह बैठ जाते। दहेज का कागज पढ़ा जाता। सभी को तिलक किया जाता। औरतें गीत गाती : 'पहरावणी सजन मिलावणी।'

और अंत मे होती कन्या की विदाई। छोटी-सी बालिका को जब उनके घर वाले विदा करते, तब न केवल वह सुबक-सुबक कर रोने लगती, बल्कि उसकी माँ, बहनों, भाभियों, पिता, चाचा और भाई सभी की आँखें गीली हो जातीं। वे सब उसे गले से लगाकर आशीर्वाद के साथ-साथ कुछ नकद भेंट भी देते। उस समय जो हृदयस्पर्शी गीत गाया जाता, वह वास्तव में इतना करुणाजनक होता कि हर किसी को रुलाई आ जाती।

परिवार रूपी आम्रकुंज की कोयल अपने माता-पिता, चाचा-चाची और भाई-भावज की ममता और प्यार भरी दुनिया छोड़ कर किसी परदेशी सुग्गे के साथ अन्य प्रदेश को उड़ रही है। सभी उससे करुणार्द्र स्वर में पूछ रहे हैं, 'ए कोयल, तू माँ-बाप आदि का इतना लाड़-प्यार छोड़ कर कहाँ चल दी ?' 'ओल्यू' अर्थात् यादगीत की ये पंक्तियाँ कितनी मार्मिक हैं :

आंबा पाक्या ने आंबली, ए आंबा पाक्या ने आंबली,
मऊड़ो लहरा खाय, कोयलडी सिध चाली।
इतरो माताजी री लाड़ छोड़ने सिध चाली।
म्हे थाने पूछा म्हारी लाड़ली, म्हारी धीवड़ी ऐ।
इतरो बावोसा री लाड़, इतरो काको सा री लाड़ छोड़ने सिध चाली।
रमती बाबोसा री पोल, रमती काकोसा री पोल,
आयो परदेशी सूवटियो, आयो बांगा से सूवटियो।
लेग्यो टोलो में स्यूं टाल सूरजमल ले चाल्यो,
ऐ थाने गायड़मल ले चाल्यो।

कन्या के साथ एक नाइन और उसका छोटा भाई जाते, इसलिए कि नए घर में पहली बार जा रही है तो उसका मन लगा रहे। ससुराल में वर-वधू के प्रवेश पर आरती उतारी जाती। उस समय का उसके स्वागत का गीत भी बहुत भावपूर्ण है :

ओ तो जीत्यां आपरे बावजी रै पाण, केसरियो लाड़ो जीत्यो जी।
ओ तो जीत्योड़ा रा ढोल घुराय, टोडरमल जीत्या जी।

(हमारा लाड़ला दूल्हा अपने दादाजी, पिताजी, और बावाजी आदि परिजनों के बल पर नगाड़ों की आवाज के साथ वधू को जीत कर ले आया है।)

यह सामंती प्रथा का प्रतीक था, क्योंकि मध्ययुग में कभी-कभी विवाहों के अवसर पर आपसी युद्ध हो जाते थे।

वधू को दो-तीन दिनों तक बहुत लाड़-प्यार से रखा जाता। उसे गहने और कपड़े पहना कर सारे गाँव की बड़ी-बूढ़ियों के पाँव छूने भेजा जाता। उसकी हम उमर लड़कियां उसका घूंघट हटा कर मुँह देखती और बहू के रूप की घर-घर चर्चा होती। मुँह दिखाई या पग पकड़ाई की एवज में नकदी या गहने दिए जाते। इस प्रकार उसके पास कुछ धन यानी स्त्री-धन इकट्ठा हो जाता।

गाँव के देवी देवताओं के यहाँ वर-वधू गठजोड़े से जाकर प्रणाम करते कुछ चढ़ावा चढ़ाते। साथ में महिलाएँ मंगल-गान करती रहती।

मेरा विवाह सन् १९२० के मार्च महीने में होली के दूसरे दिन हुआ। मेरी उम्र थी १० वर्ष। शादी के एक महीने पहले से ही गीत और उत्सव शुरू हो गए। मेरे लिए गोंद के लड्डू बने। ससुराल और बहन के घर से भी मिठाई आई। दोस्तों को देने के लिए मिश्री, बादाम जेब मे भरे रहते। शादी से पाँच दिन पहले हल्द हाथ हुआ। परिवार की सुहागियों ने हाथों और पैरों पर हलदी लगाइ, उबटन किया और मामा ने चौकी पर से उतारा। और अब मैं 'बीन राजा' (दूल्हा) बन गया। हाथ मे लोहे की पतली छड़ का गेड़िया (स्टिक) और तन पर हलके गुलाबी रंगके कपड़े बराबर रहते। कानों में मोती की बालियाँ और चोपड़े (कुंडल), गले में गोप (जड़ाऊ गल-पट्टी) और हाथों में सोने के कड़े पहनाएँ गए। मुझे याद है कि हमारे यहाँ ये सब गहने नही थे, इसीलिए हमारे पड़ोसी श्री भैंरोदान आँचलिया के यहाँ से मँगाए गये थे।

बड़े-बूढ़े भी मुझसे प्यार और अदब से बात करते थे। मुझे लगता कि मैं बहुत बड़ा हो गया हूँ। एक प्रकार का गौरव-सा महसूस करता। शादी से पहले दिन 'निकासी' (घुड़चढी) हुई और मुझे लाल बागा पहनाया गया, जो वर की अनिवार्य पोशाक थी। गले से घुटनों तक लाल रंग के इस चोगा-नुमे बागे पर ऊपर से नीचे तक जरी की सुनहली धारियाँ थी। मखमल से मढी एक म्यान में छोटी-सी कटार मेरे कंधे में लटका दी गई। कमर पर गुलाबी कपड़े में लपेट कर एक नारियल बांध दिया गया। माथे पर तारों का तिलक, सिर पर पाग और उस पर सिरपेच और सेहरा। एक अजीब स्वांग-सा लगने लगा। रात में बहन मनोहरी देवी के घर ठहरा। कमर में बँधे हुए नारियल से मुझे तकलीफ हो रही थी। मैंने बहन से कहा तो उन्होंने नारियल सहित कमरबंद खोल कर अलग रख दिया, जब कि ऐसा करना सगुन की दृष्टि से अशुभ था।

दूसरे दिन सुबह बरात रतनगढ़ के लिए रवाना हुई। उन दिनों रेलों में सवारी डिब्बों की कमी रहती, इसीलिए बरातें माल के खुले डिब्बों में आती जाती। एक सुविधा भी रहती। दरी बिछा कर आराम से बैठ जाते और ताश-चौपड़ खेलते रहते। हमारी बारात मे से भी कुछ को माल के डिब्बों में जाना पड़ा।

बरात रतनगढ़ पहुँची, जो हमारे यहाँ से ३० मील दूर है। बरातियों की संख्या करीब १२५ थी। हमें दो-तीन स्थानों में ठहराया गया। मेरे ससुराल वाले कलकत्ता में रहते थे। हमारी अपेक्षा वे सम्पन्न भी थे। इसलिए शादी में उन्होने जी खोलकर खर्च किया। वहाँ बरात तीन दिन रही। खातिर-दारी अच्छी हुई। सब बरातियों को भेंट दी गई। हमारे परिवार के सभी सद-स्योंको शालदुशाले ओढ़ाए गए। आज भी कमवेशी रूप में ये रिवाज चालू हैं।

उन दिनों की एक प्रथा अच्छी थी। किसी गाँव में जब किसी दूसरे गाँव से बरात आती तब वर पक्ष की ओर से अपने गाँव की सभी ब्याहता बहन बेटियों को मिठाई भेजी जाती। साथ में चार आने से लेकर एक रुपया तक उपहार भी। आवागमन के साधन कम थे। इसलिए इनको पीहर जाने का मौका कम मिलता, पर जब कभी उन्हें यह छोटा सा उपहार मिलता, उन्हें अपने पीहर की याद आ जाती और वे गद्गद् हो जातीं। ●

६

जलम जलम गुण गाऊं रे कागा

राजस्थान के हमारे इलाके में खेती वर्षा पर निर्भर रहती। वर्ष में केवल एक फसल होती। जिस साल वर्षा समय पर नहीं होती, उस साल अनाज नहीं होता। किसान बादलों की तरफ करुणा-भरी दृष्टि से देखते रहते। आषाढ़ सूखा चला जाता, तो चिन्ता की रेखाएँ चेहरों पर उभर आतीं। इन्द्रदेवता को प्रसन्न करने के लिए जगह-जगह यज्ञ किये जाते। पर अधिकांशतः लोगों की आशाएँ धूमिल हो जातीं और जब आश्विन निकल जाता, तब खेत में जो कुछ चारा-दाना या थोड़ा सा अनाज होता, उसे बटोर कर घर ले आते। गाँवों में मातम छा जाता। लोग आपस में बातें करते कि भगवान की यही मरजी थी।

अधिकांश खेत ठाकुरों के होते, इसलिए जोतदार किसानों को उन्हें थोड़ा-बहुत लगान भी देना भारी हो जाता। वैसे कुछ ठाकुर या जमींदार दयावान भी होते थे, पर कहीं कहीं बहुत निर्दयता भी बरती जाती थी; यहाँ तक कि किसानों के ऊँट-बैल और गाय-भैंस आदि जब्त कर लिए जाते। घर में सियापा-सा पड़ जाता। जिस समय ठाकुर के आदमी इन पशुओं को हाँक कर ले जाते, घर वाले रोने-कलपने लगते, जैसे उनके अपने बच्चों को ही ले जाया जा रहा हो। ये ठाकुर राजा के छुट भैया होते, इसलिए राज्य में गरीबों की कोई सुनवाई नहीं होती थी। कभी-कभी इन्हीं दुःखित और सताए हुए घरों के युवक बदला लेने की भावना से ठाकुरों के दल में मिल जाते।

मेरे जन्म से १० वर्ष पहले विक्रम संवत् १९५६ में राजस्थान में बहुत भीषण अकाल पड़ा था। इसे 'छप्पनिया' अकाल कहते हैं। मैंने लोगों को गीत गाते सुना था, 'छप्पनिया रे अकाल, फेरूँ मत आजे म्हारे देश।' (अरे छप्पन के अकाल, हमारे देश में फिर कभी मत आना।) रेल और ट्रकों का यातायात था नहीं, ऊँट और बैल मर गए थे, इसलिए दूसरे प्रान्तों से अनाज और चारा नहीं पहुँच सका। लोगों की कमर में रुपयों की 'नाली' बँधी रही और वे अनाज के अभाव में भूख से तड़प तड़प कर मर गये।

मेरी दादी जी कहा करती कि गाँवों के रास्तों में गाय-भैंस, ऊँट-

बैल और आदमियों के कंकाल चारों तरफ बिखरे पड़े थे। भयानक दृश्य था। आज तो यदि देश के किसी हिस्से में भूख से लोगों के मरने की जरा भी रिपोर्ट मिले, तो विधान सभा और संसद में सरकार को जवाब देना मुश्किल हो जाये, पर उस समय कानून-कायदे राजाओं के हाथ में थे, उनकी मौजशौक अबाध गति से चलती रहती थी।

संवत् १९५६ में जितना बड़ा अकाल पड़ा, १९५७ में उतना ही अच्छा जमाना (फसल) हुआ। लोगों के पशु मर गये थे, इसलिए स्त्रीपुरुषों ने अपने कंधों पर हल का जुआ रखा और खेतों की बुआई की। मन में डर भी था कि इस बार भी यदि समय पर वर्षा न हुई तो क्या होगा ? पर सावन में मूसलाधार वर्षा हुई। भादों में भी पानी बरसा। जहाँ बुआई नहीं हुई थी, वहाँ भी अनाज हो गया था। दादीजी कहती थी कि लोग भूखे थे, सब्र था नहीं; इसीलिए कच्चे अनाज को ही तोड़-तोड़कर खाने लगे। उस साल अनाज इतना सस्ता हो गया कि बनियों ने अपने कोठे भर लिए।

मेरे दादाजी ने अपने बचपन में संवत् १९०० और संवत् १९०१ के अकालों की कथा सुनी थी। वे ५६ के अकाल की तरह भयंकर तो नहीं थे, किन्तु दो साल लगातार सूखा पड़ने से उत्तर भारत मे हाहाकार मच गया था। उस समय जनसंख्या वैसे ही थोड़ी थी और इन अकालों के कारण इनमें से भी अधिकांश लोग मर गये। लोगों ने इन दोनों अकालों का नाम 'सैया' और 'भैया' रख दिया। कहते हैं, ये अकाल इतने भयावह थे कि १९०१ में किसी घर मे चक्की की आवाज आती तो १९०१ का दुर्भिक्ष 'भैया' १९०० के दुर्भिक्ष 'सैया' से कहता, 'चाकी चाले रे सैया,' तो १९०० का दुर्भिक्ष आश्चर्य प्रकट करता, 'माणस बोले रे भैया !'

किसी किसी कस्बे में सेठ-साहूकारों ने अकालों के समय राहत के काम शुरू किये और आज भी उस समय के बने हुए जोहड़, बावड़ी, तालाब, मंदिर और धर्मशालाएँ आदि देखी जा सकती हैं। इनके निर्माण की मजदूरी के बदले में आधा सेर अनाज प्रति व्यक्ति दिया जाता, जिसकी उस समय कीमत थी दो पैसे।

प्रथम महायुद्ध के बाद कुछ समय तक तो वस्तुओं के भाव महँगे रहे; पर थोड़े ही दिनों बाद घटने शुरू हो गए और सन् १९३० तक सारे देश में मंदी का दौर छा गया। उस समय की बहियाँ हमारे यहाँ आज भी सुरक्षित हैं। इनमें जो कीमतें लिखी हैं, वे आज की पीढ़ी के लिए आश्चर्य और कौतूहल की बातें लगती हैं। नीचे मैं दैनिक जरूरत की कुछ वस्तुओं के

तत्कालीन भाव देरहा हूँ। इनमें प्रतिवर्ष थोड़ी सी घटा-वढ़ी होती रहती थी—

गेहूँ : ढाई से तीन रुपए मन; चना, मोठ और बाजरा : डेढ़ से दो रुपये मन; मूंग, अरहर और उरद की दालें : ढाई से तीन रुपये मन।

चावल का खाद्य उस समय बहुत कीमती समझा जाता था, जो कभी वार-त्योहार पर ही बनता था। पंजाब के वासमती चावलों का भाव था आठ रुपये से १० रुपए मन तक।

घी : एक रुपया सेर; देशी चीनी : चार पाँच आने सेर; दूध : एक रुपये का १६ सेर; तिल्ली का तेल : रुपये का तीन साढ़े-तीन सेर; बादाम : सवा रुपये सेर; काजू : १०-१२ आने सेर; पिस्ता : दो रुपये सेर; दाख : आठ आने सेर; १० गज की धोती (जोड़ा) : सवा रुपये से डेढ़ रुपये तक; लट्ठा और मारकीन : दो आने से ढाई आने गज तक; अच्छी मलमल : ६ आने से आठ आने गज तक; जापान की रेशमी बोसकी (दो घोड़ा मार्का) : १४ आने गज; अच्छी गाय के दाम : २५ से ४० रुपये तक : भैंस का मूल्य : ४० से ६० रुपये तक; बैल, घोड़े, ऊँट आदि की कीमत उनकी नस्ल और चाल-ढाल पर निर्भर थी।

नागौर (जोधपुर) में प्रति वर्ष पशुओं का मेला लगता। वहाँ हमारे यहाँ से भी खरीदार जाते। एक बार ५०० रुपये में सौराष्ट्र की एक घोड़ी किसी महाजन के यहाँ आई, जिसे देखने के लिये आस-पास के गाँवों से कई दिनों तक लोग आते रहे। उस समय ५०० रुपये की उस घोड़ी का महत्व रेस के अपने समय के सर्वोत्तम घोड़ 'औरेंज विलियम' से कम नहीं था।

हमें स्कूल जाते समय रोज एक पैसा मिलता था। उससे कभी तो दही में भीगी हुई दो कचौरियाँ ले लेते, कभी एक कचौरी और चार काँजी बड़े। जिस दिन दो पैसे मिलते, उस दिन मीठे और नमकीन दोनों का नाश्ता होता। पर इन सबसे ज्यादा हमारी पसंद की चीज थी हनुमाने स्वामी की बर्फ। जब वह अपनी सुरीली आवाज में 'आम की बर्फ, मलाई की बर्फ' बोलता तब हम बच्चे चारों तरफ से उसे घेर लेते। एक छटाँक बर्फ के तीन पैसे होते, जो अगले दिन हम चुकता कर देते। एक दिन वह हमें बर्फ बनाने की मशीन दिखाने अपने घर ले गया। छोटी सी मशीन थी, जिससे दिन भर में चार पाँच सेर बर्फ जम जाती थी।

गाँव के मोची अच्छे देसी जूते बनाते, जिन पर सलमेसितारें [illegible] काम और हाथ की सुन्दर कारीगरी रहती। बच्चों [illegible] आ[illegible]

जोड़ा तक के होते और बड़ों के डेढ़ रुपये से दो रुपये तक मिल जाते। मेरे पैर बचपन से ही बड़े थे, इसलिए मोची मेरे जूतों के दाम कुछ ज्यादा ही लेता था। इसको लेकर एक बार कहा सुनी भी हो गई। जब उसे बच्चे के जूतों के दाम दिए जाने लगे तब उसने कह दिया 'सेठ जी, पैर तो बड़ों से भी बड़े हैं, फिर दाम कम कैसे लूँगा!' इस पर उसे हमारे दादाजी धमकाने लगे कि बच्चे को नजर लगा रहा है।

उस समय के कारीगर महाजनों की बहुत इज्जत करते थे, इसलिए वह कमती दाम ही ले गया।

उस समय थोड़े से व्यक्ति तो दिसावर (बंगाल, असम और बम्बई) की तरफ से व्यापार-व्यवसाय के लिए चले जाते, पर अधिकांश वहीं रहकर खेती-बाड़ी और विभिन्न प्रकार के घरेलू धन्धों व लेन-देन के व्यापार में लगे रहते। गल्ले, किराने और दूसरे प्रकार की वस्तुओं की दूकानें थी। आवागमन के साधनों की कमी के कारण आज जितनी बड़ी मंडी तो नही थी फिर भी सरदारशहर आस-पास के गाँवों-कस्बों में अच्छा व्यावसायिक कस्बा माना जाता था। थोड़ी दूर पर जब गंगानगर इलाके में गंगानहर बन गई, तब गेहूँ, जौ, चना भी प्रचुर मात्रा में आने लगा; इससे कस्बे मे व्यवसाय-वाणिज्य बढ़ गया।

उस समय पान की केवल एक दूकान थी मनजी पनवाड़ी की। पैसे के चार पान साँची या दो पान मीठे मिलते थे। चाय की दूकान का प्रश्न ही नही था। कभीकभार किसी को सर्दी-जुकाम हो जाता, तो बिरधीचन्द जी करवा के यहाँ से थोड़ी चाय की पत्तियाँ माँग कर ले आते। उनका असम में कारोबार था। आज सरदारशहर में चाय और पान की सैकड़ों दूकानें हैं।

हलवाइयों की तीन-चार दूकानें थीं। मिठाइयाँ शुद्ध घी में बनती और नमकीन तिल्ली के तेल में। वनस्पति घी का उस समय तक आविष्कार नहीं हुआ था। कन्हैयालाल जी कंदोई की मिठाई बहुत प्रामाणिक मानी जाती थी। एक रुपये में बूँदी के तीन सेर लड्डुओं व चार आने के सवा सेर भुजियों (सेव) में १०-१२ आदमियों का नाश्ता मजे में हो जाता।

पंसारियों में द्वारिकादास जी पंसारी की याद आज भी ताजी है। वैसे उनके यहाँ चीजों के दाम दूसरों की अपेक्षा कम होने पर उनके हाथ में कुछ ऐसा हुनर था कि घर जाकर तोलने पर वस्तुएँ दूसरों के भाव ही ठहरतीं। एक बार रमजान चेजारा उनके यहाँ तमाखू लाने गया। सेठ जी ने एक सेर तमाखू तोल दी। चेजारे ने कहा कि 'हम आपके घर के कारिंदे

हैं, कुछ तो ज्यादा मिलनी चाहिए।' उन्होंने उदारतापूर्वक चार बार दोनों हाथ भर कर और दे दी। खुशी-खुशी घर आकर जब उसने तमाखू तौली, तब वह पूरी एक सेर ही उतरी।

मुल्तान जी कंदोई अपनी मीठी दिल्लगी के लिए प्रसिद्ध था। जान पहचान के एक आदमी ने उससे एक रुपये की मिठाई ली। उसने तोन सेर तौल दी। खरीदार ने बहुत आग्रह किया कि पीछे एक पाव का बटखरा तो और डालो। उसने हँसकर कहा, "आप कहें तो पीछे पंसेरी तक डाल दूँगा। पर आगे बूंदी का एक दाना भी नही।" झल्ला कर ग्राहक ने कहा, "अच्छा काका, एक बड़ा कागज तो दो। मेरी चद्दर चिकनी हो जायेगी।" मुल्तानचंद ने जवाब दिया, "मुल्ताने की मिठाई मे चद्दर चिकनी होने का डर नही है, बेफिक्र रहिए।"

उस समय सब्जी बाजार आज जितना बड़ा नही था। गंगानगर और दिल्ली से आज की तरह विभिन्न सब्जियाँ या फल नहीं आते थे। हाँ, मौसम के फल और तरकारियाँ कुजड़िनें और मालिनें लाती थीं। उन्ही को सुखा कर रख लेते और मौसम के बाद भी उनका इस्तेमाल किया जाता। वैसे आम तौर पर भोजन था—रोटी, दाल, मोठ, बाजरे की खिचड़ी, कढ़ी और मौसम की तरकारी। घरों मे गाएँ-भैंसें होती, इसलिए दूध-दही पर्याप्त मात्रा में मिल जाता। जिन घरों में 'धीणा' नही होता, वे पास-पड़ोस से 'छाछ' माँग कर राबड़ी या कढ़ी कर लेते। छाछ माँगने में किसी प्रकार का संकोच नही था। हमारे यहाँ कहावत भी प्रचलित थी कि 'बेटी और छाछ माँगने में लाज क्या !'

उस समय कर्मचारियों, मजदूरों या कारीगरों का वेतन बहुत कम था; पर चीजें सस्ती थीं और लोगों की आकांक्षाएं सीमित थी, इसलिए वे उसी में सुखी थे। आज की तरह 'हाय-हाय' या अभाव की खटक नही थी। अच्छे राजमिस्त्री की तनख्वाह थी १० से १२ रुपये प्रति माह। इतना ही बढ़ई कारीगर को मिलता।

पुरुष मजदूरों को प्रतिदिन तीन-चार आने व स्त्रियों को आठ-दस पैसे मिलते। घर में काम करने वाले नौकरों का वेतन था रोटी, कपड़ा और दो रुपये महीना। कपड़ों को लोग बहुत सहेज कर रखते थे। इस संदर्भ में मुझे एक बात याद आती है। हमारे यहाँ बन्ने खां नाम का कारिंदा था। उसके पास एक नया साफा (पगड़ी) और एक पुराना साफा था। पुराना साफा ३५ वर्ष पहले का था, जब कि नया १५ वर्ष पहले का। एक जोड़ा धोती और दो कुरतों को वह डेढ़ दो वर्ष तक चला लेता।

उस समय थानेदार की तनख्वाह थी ३२ रुपये माहवार। अर्जीनवीस का वेतन था १५ रुपये। तहसीलदार को गाँव और तहसील का सबसे बड़ा हाकिम माना जाता था। उसके यहाँ बड़े-बड़े सेठ-साहूकार भी हाजिरी देने जाया करते थे। वह माल और फौजदारी दोनों तरह के मामले निपटाता था। उसका वेतन रहता ५० रुपये महीना। इसके अलावा सरकारी दौरे पर जाते समय उसे घोड़े की सवारी भी उपलब्ध थी।

एक दो बार मैं भी पिताजी के साथ 'गढ़' यानी तहसील-कार्यालय में गया था। तहसीलदार ने हँस कर मेरा नाम पूछा। मै उस समय शायद सातवीं कक्षा में पढ़ता था। उमर थी १०-११ वर्ष। मैने अंग्रेजी में कहा- "माई नेम इज रामेश्वर।"

पिताजी कई दिनों तक यह बात लोगों से बताते रहे कि किस प्रकार मैं हाकिम से अंग्रेजी में बोला। उसके बाद तो जब कभी बाहर के किसी अफसर या स्टेशनमास्टर से बात करनी होती, तब हमारे दादाजी और पिताजी हमे कहते कि अंग्रेजी में बोलो। उनकी धारणा थी कि अंग्रेजी में बोलने से उन सब पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

गाँव में सबसे ज्यादा तनख्वाह थी हेडमास्टर की—६७ रुपये महीना। लेकिन उनसे भी ज्यादा तनख्वाह पाने वाले एक व्यक्ति हमारे पड़ोस में थे। ये थे श्री राजरूप जी। वह कलकत्ते की एक फर्म 'थानसिंह करमचन्द' के बड़े मुनीम थे। उनका मासिक वेतन था २०० रुपये। बाहर के गाँवों के लोग उन्हें देखने आते थे। उस समय यह अचम्भे की बात समझी जाती थी। एक दिन रामरूपजी हमारे घर मिलने आये थे। हम बच्चों ने उसको बड़ा शुभ दिन माना और सोचने लगे कि क्या हम भी कभी इतने बड़े आदमी हो पाएँगे !

उस समय देशाटन या भ्रमण के लिए तो शायद ही कोई गाँव से बाहर जाने की सोचता था। साधन कम थे, लोग कमखर्ची से रहते थे, इसलिए इन सब कामों को फिजूलखर्ची में गिना जाता था। हाँ, व्यापार-व्यवसाय या नौकरी के सिलसिले में लोग न केवल असम, बंगाल, बल्कि बर्मा तक भी जाते थे। यह यात्रा एक से तीन वर्ष तक की होती। कुछ वर्षों पहले कई व्यक्तियों ने १०-१०, १२-१२ वर्ष की मुसाफिरी भी की थी। हमारे यहाँ के पांचीरामजी पींचा ने जोरहाट (असम) की दो मुसाफिरी ३० वर्षों में की थी। विवाह करके वह गए और उसके १५ वर्ष बाद वापस आए। इससे

मिलते जुलते और भी कई उदाहरण मिल जाएंगे। लेकिन ये सब बातें १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक की हैं। उस समय असम की यात्रा में तीन चार महीने लग जाते थे। गवालंदों (बांगला देश) से असम नौकाओं से जाना पड़ता था। रास्ते में जलदस्युओं का डर रहता, इसलिए १०-२० व्यक्ति साथ मिल कर यात्रा करते।

सुदूर प्रदेशों में जाकर वाणिज्य-व्यवसाय को सँभालने और पनपने के लिए लम्बी अवधि की ये यात्राएँ नितांत आवश्यक थीं। पारिवारिक और आर्थिक परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि स्त्रियों को इतनी दूर ले जाना सम्भव नहीं था। पुरुष अकेले जाते। स्त्रियाँ देश में ही रहतीं। सर्दी, बरसात और बसन्त की मादक ऋतुएँ आतीं और चली जातीं। दीवाली और होली के त्योहार भी अपनी धूमधाम और रंगीनी दिखा कर चले जाते। किन्तु जिनके पति परदेश में बसे हुए थे उन विरहिणियों के लिए इन सबमें कोई रस, कोई आकर्षण प्रतीत नहीं होता था। उनके दिन विधुर और रातें बेवा थीं। इन वियोग-पीड़ित युवतियों के अंतस की पीड़ा को राजस्थान के लोकगीतों में जिस करुणा के साथ प्रस्तुत किया गया है, उसके क्या कहने! इन मर्मान्तक गीतों को सुन कर सचमुच हृदय पसीज जाता है, आँखों से करुणा का गंगाजल बहने लगता है। यहाँ मैं विरह-वेदना के तीन गीतों के कुछ अंश उद्धृत कर रहा हूँ। इनमें व्यक्त भाव और अनुभूति मेघदूत की विरहिणी यक्षिणी की पीड़ा से कम नहीं है।

यह 'पीपली' लोकगीत है। इसमें विरहिणी अपने प्रेमोद्गार व्यक्त करती हुई पति को लिखती है कि यौवनरूपी पीपल का वृक्ष अपने पूर्ण विकास पर है; आओ और उसकी शीतल छाया में विश्राम करो !! आदि आदि।

बाय चढ़्या जो भँवर जी, पीपलजी,
हांजी ढ़ोला, होगई घेरघुमेर। बैंठण को रुत चाल्या चाकरी जी,
ओजी म्हारो, सास सपूती रा पूत।
मत ना सिधारो पूरब री चाकरी जी।

(हे भँवर, आप पीपल का जो नन्हा पौधा लगा कर चढ़े (विदा हुए) थे, वह एक छायादार वृक्ष हो गया है। उसकी शीतल छाया में बैठने का जब समय आया, तब आप चाकरी करने चले गये। मेरी सपूती सास के पुत्र पूरब दिशा की चाकरी पर न जाइए!)

इसी बात को और भी स्पष्ट करती हुई वह कहती है :

परण चढ़या छा भँवर जी, गोरडीजी,
हाँ, जी, ढ़ोला होय गई जोध जुवान।
विलसण री रुत चाल्या चाकरी जी,
ओ जी म्हारी लाल नणद बाई रा बीर,
मत ना सिधारो..........

(हे भँवर, आप मुझसे विवाह करते ही रवाना हो गए! मैं तब किशोरी बाला थी। अब मेरा यौवन अपने पूरे निखार पर है। विलास और क्रीड़ा की यही तो बेला है और आप हैं कि पूरब की चाकरी में लगे हुए हैं। मेरी प्यारी ननद के भाई.......)

विवाह के तुरत बाद पति परदेश के लिए रवाना हो गये। शैय्या-शयन का संयोग तक नहीं मिला। तब प्रिया अपने प्रियतम से उपालम्भ भरा निवेदन करती है :

कदें न ल्याया भँवर जो, सूतली जी,
हाँ, जी, ढ़ोला, कदें बी बुणो नहीं खाट।
कदें न सूत्या रलमिल सेज में जी,
थारो प्यारी उड़ीकें पिया महल में जी।

(प्रियतम, न तो आप कभी सुतली लाए, न कभी पलँग तैयार किया व न हम दोनों कभी सेज पर साथ-साथ सोए। आपकी प्रियतमा मैं, महलों में आपकी प्रतीक्षा कर रही हूँ, शीघ्र पधारिए!)

पति और उसके माता-पिता को धन का लोभ है; गोरी के मन की व्यथा को वे क्या जानें!

थारे बावो सा ने चाए भँवरजी धन घणोजी,
हाँ, जी, ढ़ोला, कपड़े री लोभण थारी मांय।
सेजां, री, लोभण उड़ी के गोरड़ी जी,
थारी गोरी उड़ावे काग.......

और प्रियतम को अर्थ की चिन्ता से मुक्त करने के लिए वह खुद रोकरुपैया, सोने की मोहर, बनने को तैयार है; किसी प्रकार प्रियतम रुके तो :

रोकरुपैया, भँवर जी मैं बणूजी, हाँ, जी, ढ़ोला, बण ज्याऊँ पीली पीली म्होर।

भीड़ पड़े जब भँवरजी, बरत ल्यों जी,
ओ, जी, म्हारी सेजारा सिणगार।

कष्ट पड़ने पर मुझे बरत लेना, मैं नकद रुपया बन जाऊँगी—कितनी दर्द-भरी व्यंजना है।

वह घर में ही कपड़ा बुनने के उद्योग की योजना प्रस्तुत करती है, ताकि पति-विछोह का दुःख देखना न पड़े :

चरखो तो ले ल्यूं भँवरजी, रांगलों जी
हाँ, जी, ढोला, पीढ़ो लाल गुलाल, तकवो तो ले ल्यूं भँवरजी,
बीजलसार को जी,
ओ, जी, म्हारी जोड़ी रा भरतार।
पूणी मंगा ल्यूं जी के बीकानेर की जी।
म्होरम्होर की भँवरजी, कातूं कूकड़ी जी।
हाँ, जी, ढोला रोक रुपये रो तार,
मैं कातूं थे बेठ्या विणन ल्यों जी..........

(मैं कातूं और आप कपड़ा बुन लें। गृहउद्योग के माध्यम से अर्थ की चिन्ता दूर होगी, परदेश जाने की फिर जरूरत ही नहीं रहेगी।)

लेकिन स्त्री की कमाई पर रहना कोई मर्द बर्दाश्त नहीं करता। साहूकार के बेटे को तो अपनी मेहनत और बुद्धि से कमाना है और इसके लिए परदेश जाना लाजिमी है। लेकिन प्रियतमा का तर्क है कि उजड़ी जमीन समय पाकर बस्ती बन सकती है; निर्धन लोग धनवान हो सकते हैं; किन्तु यौवन की यह उमर जो ढल जायेगी वह वापस नहीं आएगी; यौवन सदा थोड़े ही रहता है, आज है कल नहीं।

उजड़ खेड़ा भँवरजो फिर बसे जी,
हाँ, जी, ढोला, निरधनियां धन होए
जोबन गयो, न पीछे बावड़े जी, ओजी थानें लिखूं मैं बारंबार।
जोबन सदा न भँवरजी थिर रहे जी,
हाँ, जी, ढोला फिरती घिरती छांय..............

पीपली का यह गीत लगभग सारे राजस्थान में अत्यन्त लोकप्रिय है। ठंडी रातों में राजस्थानी युवतियां जब समवेत स्वरों मे इस गीत को गाती हैं तो दर्द स्वयं साकार हो उठता है।

विरह-व्यथा के संदेश को काग, कुरजां मोर, पपीहे आदि पक्षियों के मार्फत प्रियतम तक पहुँचाने के प्रयास को अनेक गीतों में अभिव्यक्त किया गया है। 'कागा' गीत में विरहिणी नायिका कौए को अनेक प्रकार के प्रलोभन देती हुई उसे उड़ कर प्रियतम के पास जाने का आग्रह करती है। उसका विश्वास है कि यदि 'कागा' वहाँ जाकर उसकी व्यथा का वर्णन करेगा तो उसका प्रियतम प्रवास से लौट आयेगा। गीत के बोल हैं :

> उड़ उड़ रे म्हारा काला कागला, जे म्हारा पिवजी घर आवें।
> खीर खांड़ को थाल परोसूं, थारी सोने चोंच मढ़ाऊँ, रे कागा!
> कद म्हारा मारूजी घर आवे, पगल्यां में बांधू घूघरा थारे।
> गले में हार पिन्हाऊँ कागा, जे तूं उड़ने सूण बतावें,
> थारी जलम जलम गुण गाऊँ, रे कागा!

इसी प्रकार के और भी भाव-भरे गीत हैं जिनके माध्यम से राजस्थान की युवतियाँ अपनी पीड़ा को हलका करती थीं। आज न तो उतनी लम्बी अवधि की यात्राएँ होती हैं और न अधिकांश स्त्रियाँ पतियों से दूर ही रहती हैं; फिर भी इन लोकगीतों में कुछ ऐसा रस है, जो कभी फ़ीका नहीं पड़ता।

●

७

इत्तो कहाणी, गोगा राणीं

व्यावसायिक यात्राओं के अलावा प्रौढ़ और वृद्ध स्त्री-पुरुषों में तीर्थ-यात्रा बहुप्रचलित थी। चारों धाम की यात्रा तो कोई बिरला ही कर पाता था। द्वारका पुरी और रामेश्वर के तीन धामों तक रेलें चल गयी थीं, इसलिए इनकी यात्रा एक बार में ही हो जाती, किन्तु बदरीनाथ, केदारनाथ की यात्रा बहुत ही दुर्गम थी। आने जाने में तीन-चार महीने लग जाते। रास्ते बीहड़ थे। कहीं कहीं पहाड़ भी धसक जाते। डांडी और टट्टुओं की सवारी के लिए पैसों का अभाव रहता, इसलिए लोग अपना सामान कन्धे पर लादे पैदल ही चलते। दस-बारह की टोलियों में जाते। सारे गाँव में पहले से ही चर्चा हो जाती कि अमुक टोली उत्तराखण्ड की यात्रा पर जारही है। गाँव के लोग जाने वालों से गले मिलते कि शायद फिर मिलना न हो। यात्री अपने साथ लौंग, इलायची, कुछ मीठाफीका पकवान, कुछ चूरनचटनी और दो कम्बल ले लेते।

महीने या बीस दिन में कभी-कभी उनके घरवालों के पास एकाध पोस्टकार्ड आ जाता, जिसमें किसी न किसी बीमारी का समाचार रहता। यह भी लिखा रहता कि गरुड़जी की कृपा से यात्रा सफल हो जायेगी। उनकी मान्यता थी कि उत्तराखण्ड की कठिन यात्रा में गरुड़जी सहायता करेंगे। यह यात्रीदल हरिद्वार, ऋषीकेश, बदरीनाथ, केदारनाथ और मथुरावृन्दावन होकर वापस आता। गाँव वाले उनकी अगवानी में जाते। उनसे ऐसे मिलते जैसे कि बहुत वर्षों से बिछड़े साथी मिल रहे हों।

इन यात्रियों को बहुत पुण्यात्मा माना जाता, इसलिए बड़े-बूढ़े भी इनके पैर छूते। मै अपने माता-पिता के साथ सन् १९४५ में बदरीनाथ, केदारनाथ गया था। उस समय तक गुप्तकाशी तक बसें चलने लगी थीं। हमारे साथ एक महिला–भूरी की नानी थी, जो सात बार उत्तराखण्ड की यात्रा कर चुकी थी। यात्रा के समय उसको बहुत कुछ पूछ रहती, क्योंकि उसे ठहरने के स्थानों, उतार-चढ़ाव आदि का पूरा ज्ञान था। खाने के अलावा वह कोई वेतन नही लेती। काम करती चार आदमियों के बराबर। बहुत पहले से लोग उससे वचन ले लेते।

मुसलमानों में ऐक दो व्यक्ति कभी-कदास हज के लिये (मक्का मदीना) जाते थे। ऐसे व्यक्तियों को हाजीजी कहा जाता था। हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों में उनका बड़ा सम्मान रहता। हज से वापस आने पर कस्बे के छोटे बड़े सभी उनसे गले मिलते।

कुछ मुसलमान और हिन्दू अजमेर के ख्वाजा चिश्ती साहब की दरगाह की यात्रा भी करते।

धर्म के नाम पर मनुष्य राजी खुशी कष्ट सह लेता है। चारों धाम देश के चार कोनों पर स्थित हैं। हालांकि उनकी परिक्रमा बहुत ही कष्टप्रद और व्ययसाध्य रहती, फिर भी लोग उसकी सम्पूर्णता में अपने जीवन का निस्तार समझते। ऐसा देखा गया है कि लोग जीवन की सारी कमाई इन तीर्थयात्राओं में खर्च कर देते थे। वैसे इससे कई लाभ थे। यात्रा के अनुभव प्राप्त करने, जलवायु परिवर्तन, नए लोगों से परिचय और ऐतिहासिक स्थानों के अवलोकन आदि के अलावा सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि थी सारे देशवासियों की भावात्मक एकता।

इन दूरगामी तीर्थो के अलावा हमारे यहाँ स्थानीय छोटे वड़े कई तीर्थ-स्थान थे। असम, बंगाल और बर्मा तक के प्रवासी राजस्थानी अपने बच्चों के मुण्डन और अपनी मनौतियों को पूर्ति के लिए इनके दर्शनार्थ आते रहते थे। इनमें से विशेष प्रसिद्ध थे —सालासर और पूनरासर के हनुमानजी, बीजवायले की माताजी, देश-नोक की करणीजी, सीकर की जीणमाता, झुंझुनू की राणीसती और खाटू के श्यामजी। इनके अलावा कुछ और भी सिद्ध पुरुषों और वीर शहीदों के स्मारक जहाँ-तहाँ थे। इनमे रामदेवजी, पाबूजी, भैरवजी और गोगा आदि प्रमुख हैं। इनमें सबकी मान्यता किसी न किसी वीरोचित कार्य या जनहितार्थ बलिदान के कारण हुई थी।

गोगाजी एक ऐतिहासिक वीर हो गये हैं, जिनकी अद्भुत बलिदानगाथा चिरस्मणीय रहेगी। ११वी शताब्दी की बात है। महमूद गजनवी अपनी सवा लाख फौज के साथ सोमनाथ मन्दिर तोड़ने जा रहा था। रास्ते में हिन्दू राजा और सामंत उसकी अधीनता स्वीकार करते जा रहे थे। गोगाजी उस समय लगभग ८० वर्ष के वृद्ध थे। उनके बेटों-पोतों और सर-दारों की संख्या कई सौ थी। वह बीकानेर के उत्तरी हिस्से में एक छोटी सी गढी में रहते थे। आसपास के क्षेत्र मे उनकी छोटी सी जमींदारी थी। जब गजनवी की फौजें उनके क्षेत्र के पास आने लगीं, तब उन्होंने एक सभा

बुलाई और कहा कि 'यह म्लेच्छ भगवान शंकर का अपमान करने जा रहा है; हमें इसे रोकना चाहिए।'

सामंतों ने अर्ज किया कि 'महाराज, कहाँ तो सवा लाख की सुसज्जित सेना और कहाँ हम ३०० सरदार।' गोगा बाबा ने क्रोधपूर्वक कहा, "यह सवाल सवा लाख और ३०० का नहीं है। अपने जिन्दा रहते किसी प्रकार भी हम उसे सोमनाथ पर नहीं जाने देंगे।"

अन्त में एक योजना बनी। गोगा बाबा के ज्येष्ठ पुत्र ने वेश बदल कर गजनवी की फौज में जाकर उसे जैसलमेर के वीरान रेगिस्तान में भटका दिया, जिससे उसके हजारों सिपाही और घोड़े गरम लू और प्यास से मर गये। इधर बाबा अपने साथियों सहित केसरिया वाना पहन कर फौज पर पिल पड़े। जब तक एक भी सरदार बचा, शत्रुओं से लड़ता रहा। कहते हैं कि इन ३०० वीरों ने उस बड़ी फौज में तहलका मचा दिया था। इधर महिलाएँ और बच्चे एक बड़ी होमाग्नि प्रज्वलित करके उसमें समर्पित हो गये। इस प्रकार के स्वाभिमानी वीर विश्व में कभीकदास ही होते हैं। इसकी पूरी गाथा मैंने बहुत बाद में श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी की पुस्तक 'जय सोमनाथ' में पढ़ी थी। बीकानेर के भादरा कस्बे के पास गोगा-मण्डी मे आज वह प्राचीन गढ़ी तो नहीं है, हाँ गोगाजी का एक मण्डप जरूर है। वहाँ प्रति वर्ष एक बड़ा मेला लगता है।

रामदेवजी १६वीं शताब्दी में पोकरण-फलौदी (जोधपुर) में हुए थे। एक बार मुसलमान लोग गाँव की गाएँ हाँक कर ले जा रहे थे। उनके आतंक से किसी में उनका सामना करने की हिम्मत नहीं थी। लेकिन वीर राम-देवजी ने अकेले ही घोड़े पर चढ़ कर आततायियों का पीछा किया और गायों के छुड़ाने में अपने प्राण गँवा दिए। उनके सहायकों में गाँव के अन्त्यज ढ़ेढ़ और चमार ही प्रमुख थे। इसीलिए आज भी इनके पुजारी इन्हीं जातियों के लोग होते हैं। हमारे यहाँ कहावत है कि 'रामदेवजी को मिले सो ढ़ेढ़ ही ढ़ेढ़।'

करणीजी १५वीं शताब्दी में एक चारण बाला हुई थी। इन्होंने बीकानेर के संस्थापक राव बीकाजी की सहायता की थी। हमारे समय के बीकानेर-नरेश गंगासिंहजी के बारे में कहा जाता था कि वह जब भी रियासत से बाहर जाते, बीकानेर से २० मील पर देशनोक नामक गाँव में स्थापित करणीजी के दर्शन अवश्य करते।

झुंझुनू की राणी सती भी इसी प्रकार की एक और वीर बाला मध्ययुग में हुई है। जब गौना होकर वह अपने पति के साथ ससुराल आ रही थीं, रास्ते में नवाब के आदमियों ने हमला कर दिया। पति और साथ के आदमी वीरतापूर्वक लड़ते हुए मारे गये। सद्यःविधवा बालिका अपना दु.ख भूल कर अपने एक विश्वस्त अनुचर के साथ पति का सिर लेकर झुंझुनू तक पहुँच गई और वहाँ आततायियों के पहुँचने के पहले ही सती हो गई। इस समय झुंझुनू में उसके स्मारक-स्वरूप बहुत विशाल मन्दिर, धर्मशाला, स्कूल और पुस्तकालय आदि बने हुए हैं। लाखों यात्री प्रति वर्ष वहाँ दर्शनार्थ जाते हैं।

हमारे क्षेत्र में कहानियों और वार्ताओं के माध्यम से बहुत प्रकार के उपदेश दिए जाते थे। ये कहानियाँ उस समय लिखित पुस्तकों में नही थीं। बड़ों द्वारा छोटों को सुनाई जाती रही थीं। लोग गर्मियों में रात के समय बाहर सहन में ठंडा पानी छिड़क कर और सर्दी में सरकंडों और लकड़ियों की आग जला कर बैठ जाते। बड़े लोग बारी-बारी से कहानी कहते और दूसरे 'हूँ' यानी हुँकारा देते जाते। कहानी शुरू करने के पहले मन लगा कर कहानी सुनने के लिए वे हमें इन शब्दों में सावधान कर देते, 'बात कहतां बार लागै, हुँकारे बात मीठी लागै। बात में हुँकारो, फौज में नगारों। आधाक सोवै, आधाक जागै। सूतेड़ा की पगड़ी, जागतोड़ा ले भागै। जब बातां में रग आवै।,

इस प्रकार लोगों को कहानी सुनने को तैयार करके फिर वे शुरू करते। 'बात का चालणा, संजोग का पीवणा। रामजी भला दिन दे। एक राजा के तीन राणियाँ थी ···'और फिर यह कहानी आधी रात तक चलती। कभी-कभी तो दूसरे दिन के लिए स्थगित रह जाती। हम बालकों को इन लम्बी कहानियों में रस नही आता, क्योंकि ये हमारी समझ के परे की थीं। हमे तो घरेलू बालकथाएँ, जो नानी, दादी या कस्तूरी दादी सुनातीं, अच्छी लगती थीं।

शाम होते ही हम दादी जी को घेर कर बैठ जाते और उनसे कहानी सुनने का आग्रह करते। अधिकांश कहानियाँ राजारानी, चोर-साहूकार, रामायण-महाभारत या पौराणिक कथाओं पर आधारित होतीं। कभी-कभी वह हँसी की छोटी-छोटी कविताएँ भी सुनातीं। जैसे 'काणी कवै कागलो, हुँकारो देवें भैय्या, आंधलिए नै चोर लेग्यो, भाग रे पांगलिया।' कहानी समाप्त करते समय जब वह किसी बच्चे का नाम लेकर कहतीं, 'ओड़ कहाणी,

मूंगा राणी। मूंग पुराणा, रामू के सासरे का नाई, बामण से काणां।' तब जिस बच्चे का नाम लिया जाता वह यह सुन कर रोने लगता, दूसरे सब हँस देते।

जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है, कहानी ज्यादातर रात के समय घर का काम समाप्त हो जाने के बाद ही सुनी-सुनाई जाती। अगर कभी हम दिन में कहानी कहने का आग्रह करते, तो यह कह कर टाल दिया जाता कि दिन में कहानी कहने से मामा रास्ता भूल जाता है।

दादी और नानी के अलावा हमारे प्रिय कहानीकार थे लछमणा महाराज। वह हमारे यहाँ सुबहशाम पूजा-पाठ करते थे। सर्दी के मौसम में हम दोनों भाई उनके दोनों तरफ कंबली में बैठ जाते और वे पूजा-पाठ बन्द करके हमें कहानी सुनाने लग जाते। हमारे दादाजी यह सब जानते थे, पर उन पर नाराज नहीं होते, क्योंकि हम बच्चे सर्दी में इधर-उधर न घूम कर एक जगह बैठे रहते।

लछमणा महाराज हमें भालू, बन्दर और बिल्लियों की कहानियाँ सुनाते; धार्मिक कहानियाँ सुनाती दादी और नानी। हमें लछमणा महाराज की कहानियाँ ज्यादा पसन्द आतीं। हम उनसे भूतों और राक्षसों की कहानियाँ सुनाने का भी आग्रह करते, किन्तु वह यह कह कर टाल देते कि इनको सुनने से रात को बुरे सपने आएँगे। उनकी कहानी के साथ दो एक अन्य आकर्षण और भी जुड़े थे। एक तो वह हमें भोग के लिए लाए हुए मखाने (चीनी से लिपटे चने) और बतासे बीच बीच मे देते रहते और दूसरे हमारे सिरों को धीरे-धीरे सहलाते रहते। कुछ वर्षों बाद हमारी छोटी बहन महादेवी भी इस आयोजन मे शामिल होने का प्रयत्न करने लगी, लेकिन महाराज की कंबली मे तीन बच्चों के लिए जगह नही थी। हम उसे डरा-धमका कर भगा देते। वह रोती हुई दादीजी के पास जाकर शिकायत करती कि महाराज पूजा करके कहानी सुना रहे है। दादाजी उसे साथ लिए हुए आते और महाराज पर झूठ-मूठ का गुस्सा करते। वह इतने में खुश हो कर चली जाती।

इन कहानियों में से मुझे दो चार कहानियाँ आज भी याद हैं।

सोनलबाई सात भाइयों के बीच सुनहरे बालों वाली बड़ी भाग्यशाली बहन थी। एक दिन मिट्टी लाने के लिए वह अपनी भावजों के साथ जंगल में गई। जिस जगह वह खोदती थी, वहाँ सोना और मोती निकलते और जहाँ उसकी भावजें खोदतीं, वहाँ मिट्टी निकलती थीं। वे सभी अपनी ननद

से कहतीं कि बाईजी अपनी जगह हमें खोदने दो, लेकिन ज्योंही वे खोदने लगतीं, वहाँ भी मिट्टी ही निकलने लगती। भावजों को सोनलबाई से डाह हो गया। जब खोदते-खोदते सोनल थक गई तो उसकी आँख लग गई। सातों भौजाइयाँ उसे वहीं छोड़ कर उसके द्वारा खोदे हुए सोने और हीरे-मोतियों को लेकर घर आ गईं। जब उसकी आँख खुली तो उसने फिर जमीन खोद कर सोना और मोती निकाले। लेकिन उस बोझ को वह अकेली सिर पर नही उठा सकी। थोड़ी देर में एक साधू उधर से गुजरा तो सोनलबाई ने विनती की, "बाबाजी, यह बरतन मेरे सिर पर रखवा दीजिए।" साधू लोभी था। उसने सोनल को अपने झोले में डाल लिया और अपनी गढ़ी में ले गया। दूसरे दिन उसने सोनल को गाँव से भिक्षा लाने का आदेश दिया और जिधर उसका अपना घर था, उस तरफ न जाने के लिए भी कह दिया। तीन दिन तक वह अन्य दिशाओं में जाकर भिक्षा ले आई, लेकिन चौथे दिन अपनी छोटी भौजाई के घर पहुँची और बोली…

सात भायां विच एक सोनलबाई,
मोतीड़ा सा चुगती मनै जोगीड़ो उठाई।
घालो, ए माई, भिक्षा, जोगी मारेलो।

(सात भाइयों के बीच एक सोनलबाई थी, जिसे मोती चुगते समय एक जोगी उठा कर ले गया। हे माई, भिक्षा दे दे, नहीं तो जोगी मुझे मारेगा।) इस प्रकार भिक्षा माँगते-माँगते वह अपनी सातों भावजों के घर घूम आई। भावजों ने उसे पहचान कर भी नही पहचाना। अन्त में वह अपनी माँ के घर गई और उसी प्रकार कहा। माँ ने देखा कि यह तो उसी की लाड़ली बेटी सोनल है। तब उसने उसे अन्दर बुलाया। उसको झोली वगैरा फेंक दी और घर में छिपा लिया। थोड़ी देर बाद जोगी धम-धम करता हुआ गाँव में आया और घर-घर में पूछने लगा, "बाई म्हारी चेलकी भी देखी के ?"

जब जोगी पूछते-पूछते सोनल के घर आया, तब उसकी माँ ने कहा, "बाबाजी, सोनल बाहर गई है। आप बैठो, खाना खाओ, इतने में आ जाएगी।"

जोगी जीमने लगा, तो उसकी माँ ने दालान में एक गड्ढा खोदा और उसे घास फूस से भर दिया। फिर उस गड्ढे पर एक पलँग डाल दिया और उस पर एक चादर बिछा दी। जोगी आकर पलंग पर बैठा तो सोनल

को माँ ने चुपके से गड्ढ़े में आग लगा दी। बाबाजी के नितंब जलने लगे और वह वहाँ से भाग निकले।

कहानी मे जब सोनलबाई को जोगी द्वारा उठा ले जाने का वर्णन आता, तब हमें रुलाई आ जाती। ऐसा लगता जैसे हमारी प्यारी बहन पर विपदा आई है। अन्त में जब वह अपनी माँ के पास पहुँच जाती, तो हमें प्रसन्नता होती। जोगी को छकाने और जलाने के लिए हम सोनल की मां का मन ही मन शाबासी देते।

इसी प्रकार की एक और कहानी थी, जो हमें लछमणा महाराज सुनाते थे।

रोई (जंगल) में एक कमेड़ी (पक्षी) रहती थी। अपने पति के मना करने पर भी वह जाट के खेत में ज्वार खाने के लिए हमेशा जाया करती। जाट ने भी उसे मना किया, पर वह नहीं मानी। तब जाट ने एक दिन ज्वार के बूटों पर गुड़ चिपका दिया। ज्योंही कमेड़ी आकर उन पर बैठी, उसके पैर चिपक गये। तब जाट ने उसे एक जांटी (वृक्ष) से लटका दिया। थोड़ी देर में उधर से गायों का एक झुण्ड गुजरा। कमेड़ी ने गायों के झुंड के रखवाले से प्रार्थना की :

> गायां का गुवालिया रे बीर, टमरक टूं,
> बँधी कमेड़ी छुड़ाई म्हारा बीर, टमरक टूं।
> रोई में मेरा बचिया रै बीर, टमरक टूं;
> आँधी आयाँ उड़ ज्यासी रै बीर, टमरक टूं।
> मेह आयां गल ज्यासी रै बीर, टमरक टूं,
> बँधी कमेड़ी छुड़ाय म्हारा बीर, टमरक टूं।

[हे गायों के ग्वाले, मेरे भाई, इस बँधी कमेड़ी को छुड़ा। मेरे बच्चे जंगल में अकेले है, आँधी आएगी तो उड़ जाएँगे। मेह बरसेगा तो वे गल जाएँगे। मुझे बंधन से छुड़ाओ।]

कमेड़ी की बिनती सुन कर ग्वाले को दया आ गई और उसने जाट से कहा कि 'हे भाई, इस कमेड़ी को छोड़ दे और इन गायों में से एक गाय, जो तुम्हें अच्छी लगे, ले ले।'

लेकिन जाट ने ऐसा करने से इनकार कर दिया। फिर भैंसों का झुण्ड आया, बकरियों-भेड़ों का रेवड़ आया और ऊँटों का टोला आया। उन सबसे भी कमेड़ी ने उसी दर्द भरी आवाज में वही प्रार्थना दोहराई। इन सबके

मालिकों ने भी कमेड़ी की प्रार्थना पर जाट से भैंस, बकरी और ऊँट के बदले में कमेड़ी को छोड़ देने को कहा, पर जाट टस से मस तक नहीं हुआ।

संयोग से जिस वृक्ष पर कमेड़ी बँधी हुई थी, उसी के नीचे एक चूहे का बिल था। चूहा यह सब देख रहा था। उसने कमेड़ी से कहा, 'कमेड़ी बहन, मै तुम्हे इस दुष्ट के पंजे से छुड़ाऊँगा, रो मत।" वह अपने बिल में गया और एक सोने की बहुत सुन्दर माला लाया। उसने जाट को माला दिखा कर कहा, "चौधरी, इस कमेड़ी को छोड़ दे तो मैं तुझे यह सोने की माला दे दूँगा।"

सोने की माला देख कर जाट का मन ललचा गया और उसने कमेड़ी को बन्धन-मुक्त कर दिया। जैसे ही कमेड़ी उड़ी, चूहा माला लेकर अपने बिल में घुस गया। तब जाट पछताने लगा कि इससे तो यही अच्छा था कि मैं एक गाय या भैंस या ऊँट ले लेता पर पछताने से क्या फायदा, जब चिड़िया चुग गई खेत।

इसी प्रकार की एक और मजेदार कहानी थी बनिए और बन्दर की।

एक बनिया कमाने के लिए दिसावर जा रहा था। रास्ते मे उसे एक बन्दर मिला। दोनों साथी बन गये। एक गाँव में किसी घर के आँगन में दही का मटका पड़ा था। बन्दर मटका उठा लाया। एक जगह कुछ चूहे उछल कूद कर रहे थे। बन्दर ने उन्हे भी पकड़कर अपनी झोली में डाल लिया थोड़ी दूर जाने पर दोनों एक कुएँ पर पहुँचे। वहाँ 'लाव' यानी पानी निकालने की मोटी रस्सी पड़ी थी। बन्दर ने उसे भी उठा लिया। इन सबको ढोता था बेचारा बनिया। बन्दर महाशय तो उछलते कूदते आगे-आगे चलते थे। संयोग से एक रात वे किसी जगल में एक सूने घर में जा ठहरे। यह एक राक्षस का घर था। आधी रात को जब राक्षस लौटा तो कहने लगा, "फूँफा, मानषियों गंधावै है।"

बनिया तो मारे भय के काँपने लगा, लेकिन बन्दर ने चिल्लाकर पूछा, "कौन हो तुम ?"

राक्षस गरज कर बोला, "मै राक्षस हूँ। तुम कौन हो ?"

बन्दर ने भी जोर ने कहा, "मैं बड़ा राक्षस हूँ, तुम्हारा लकड़दादा।"

राक्षस ने जब कुछ पहचान बताने को कहा तो बन्दर ने ऊपर से दही की हाड़ी उड़ेल दी और बोला, "यह मेरा थूक है।" चूहे फेंक कर बोला, "ये हैं मेरी जुएँ।"

राक्षस ने इतना सारा थूक और इतनी बड़ी जुएँ देखी तो डर गया। अन्त में जब बन्दर ने 'लाव' यानी मोटी रस्सी फेंक कर कहा कि "यह है मेरे सिर का बाल," तो राक्षस मारे भय के वहां से भाग गया। अब तो बनिया बहुत प्रसन्न हुआ। उस घर में राक्षस की लाई हुई बहुत सारी सम्पत्ति रखी थी। सब कुछ बटोर कर बनिया और बन्दर लौट पड़े। बन्दर तो जंगल में रह गया और बनिये ने घर आकर उस सम्पत्ति से कारोबार शुरू कर दिया।

दादीजी द्वारा कही हुई एक कहानी बहुत ही रोचक थी।

एक झीटिया था—बड़े केशों वाला बालक। एक दिन वह अपने ननिहाल के लिए रवाना हुआ। रास्ते में मिला एक गीदड़। उसको देख कर झींटिया डर गया।

गीदड़ ने झींटिये का रास्ता रोक लिया और बोला, "झीटिया, झीटिया, कठै चाल्यो ?"

झीटिया बोला, "नानी कै घर।"

"मैं तनै खास्यूं ! मैं तनै खास्यूं !" गीदड़ ने कहा।

झीटिया ने झट कहा, "नानी कै मनै जायण दे, दही रोटियाँ खायणदे,

मोटो ताजो हो आण दे, पाछै मनै खा लेई।"

[मुझे नानी के घर जा आने दे और वहां की दही रोटी खाकर मोटा ताजा हो आने, दे तब खा लेना।]

गीदड़ को बात जच गई और उसने झीटिए का रास्ता छोड़ दिया।

झीटिया ननिहाल से लौटने लगा तो उसने नानी से एक ढामकी [ढोलकी] बनवा ली और उसके अन्दर बैठ कर रवाना हुआ।

रास्ते में फिर उसे वही गीदड़ मिला।

ढामकी को लुढ़कते देख कर गीदड़ को आश्चर्य हुआ। उसने पूछा, "ढामकी तुमने झीटिये को देखा है ?"

झीटिया अन्दर से बोला, "किसका झीटिया किसका तुम ? चल मेरी ढामकी ढमाकढम।"

और ढामकी चल पड़ी। गीदड़चन्द्रजी जीभ लपलपाते ही र[illegible] होशियार झीटिया अपने घर सही सलामत [illegible] इस [illegible] समाप्ति पर हम बड़े हर्ष से ऊपर की कविता [illegible]

राजारानी चिड़ीचिड़कलों, चोर-साहूकार और नाई-ब्राह्मण आदि की और भी अनेक कहानियां थीं, जिन्हें हम बहुत चाव से सुनते। उनके पात्रों के दुःख के साथ दुखी होकर आंसू बहाते। सुख के साथ खुश हो होकर तालियां बजाते और इस प्रकार सुखद मनोरंजन करते रहते।

दादीजी कहानी समाप्त करतीं तो कहतीं—

इत्ती कहाणी, गोगा राणी।
गोगो मन्ने घोड़ो दियो, घोड़ो ले मैं बाड़ कुदायो।
बाड़ मन्ने कांटो दियो, कांटो ले मैं चूल्हे नैं दियो।
चूल्हा मन्ने राख देई, राख ले मैं कुम्हार ने दीन्हीं।
कुम्हार मन्ने करवो [मिट्टी का गिलास] दियो।
करवो ले मैं..........।

इस संदर्भ में एक और भी बात याद है। अपनी छोटी बहन महादेवी को जब हम अपने साथ बैठ कर कहानी नहीं सुनने देते तो वह रूठ कर दादीजी के पास जा बैठती और वहीं से आवाज लगा कर कहती, "हम तो सोनलबाई की बहुत अच्छी कहानी सुन रहे हैं, तुम्हें यहाँ नहीं आने देंगे।" ●

८

लोक जीवन

सन् १९१४ में जब मैं चार वर्ष का था, अपने ममेरे भाई दौलतरामजी के विवाह में कलकत्ता गया। मुझे आज भी उस यात्रा की और कलकत्ते में जिस मकान में हम ठहरे थे उसकी धुंधली-सी याद है। हम तुल्लापट्टी में ठहरे थे। कलकत्ता उस समय न तो आज जितना बड़ा ही था और न इतना साफ-सुथरा ही। रहने की सुविधाएँ भी आज जैसी नहीं थी। उस मकान की टट्टियाँ इतनी बदबूदार और गन्दी थीं कि लोग मुँह में कपड़ा बांध कर निबटने जाते थे। पाखाने के बाहर क्यू लगी रहती थी। इसके अलावा इतना और याद है कि मेरी माँ और नानी आदि पुरी की यात्रा पर जा रही थीं। उन दिनों परदे का रिवाज था। घर रवाना हुए तो मैं भी साथ था। जिस घोड़ागाड़ी में हम जा रहे थे, उसे चारों ओर से बन्द कर दिया गया था। मेरा दम घुटने लगा था। जी ऐसा घबराया कि मै रोने लगा। मुझे रास्ते से ही वापस घर भेज दिया गया। उस समय कलकत्ते के बड़ा बाजार की सड़कों पर गन्दा पानी जगह-जगह भरा रहता था।

बहुत वर्षों बाद मैंने चार्ल्स डिकेंस की पुस्तक 'ओलीवर ट्विस्ट' और 'डेविड कॉपरफील्ड' पढ़ी। इन पुस्तकों में दो सौ वर्ष पहले के लन्दन की गलियों का जो चित्र है, वह कलकत्ते की तत्कालीन यात्रा की स्मृति को ताजा कर देता है।

सन् १९१६ में जब हमारे यहाँ रेल आ गई, तब मैं अपनी नानी जी के साथ ट्रेन से उनके पीहर चुरू गया। चुरू हमारे कस्बे से रेल-मार्ग द्वारा ६० मील दूर है। यह कस्बा उस समय जनसंख्या की दृष्टि से सरदारशहर से दो गुना बड़ा था। जब मैं अपने मामा के साथ चुरू के बाजार में जाता तो दूकानों मे रखे हुए तरह-तरह के सामान को देखकर अचम्भित रह जाता। एक दिन मामा ने मुझे सात आने में गुलाब के शरबत की एक बड़ी बोतल दिलाई। इसे मैंने बड़े जतन से रखा और एक महीने तक ठंडे पानी के साथ पीता रहा। उन दिनों बर्फ नही आती थी।

१९१८ में हमारे यहाँ हैजे का प्रकोप हुआ। हम सपरिवार रतनगढ़

चले आये। गाँव के और भी लोग इधर-उधर अपने सम्बन्धियों के यहाँ दूसरे गाँव कस्बों में चले गये। रतनगढ़ में मेरे दादा जी की बड़ी बहन रामप्यारी बाई की ससुराल थी। उन्होंने मेरे लिए लड़की खोजो और एक दिन उसे हमारे निवास-स्यान पर ले आईं। लड़की शायद मुझसे कुछ लम्बी थी, इसलिए जब हम दोनों को एक साथ खड़ा किया गया, तो मेरे पैरों के नीचे एक पाटा रख दिया गया। लड़की आयी थी धोती-कमीज पहन कर और सिर पर सलमे-सितारों की टोपी लगा कर। आठ वर्ष की अवस्था में वहीं मेरी सगाई कर दी गई।

उस समय इस तरह लड़की को लड़के के घर लाना एक नई बात थी। सगाइयाँ नाई या ब्राह्मण के मारफत हो जाती थीं। लड़का तो क्या, उसके घर वाले भी लड़की देखने कभी कदास ही जाते थे। इस व्यवस्था में कभी-कभी बड़ा घोखा हो जाता था। लेकिन पति-पत्नी इसे भाग्य का फल मान कर संतोष कर लेते। वैसे हमारे यहाँ कहा भी जाता था कि स्त्री की तो कोख देखनी चाहिए, रूप नहीं।

इन यात्राओं के अलावा मुझे एकाध बरात में भी जाने का मौका मिला। वैसे आम तौर पर बरातों में छोटे बच्चों को कम ले जाते थे। मुझे याद है कि जब कभी घर के बड़े, बरात में जाने की तैयारी करते, तो हम बच्चे मचल जाते। हमें किसी न किसी बहाने टाल दिया जाता।

बस से ज्यादा मजेदार होती थी ऊँट के इक्के पर बैठ कर वंशीधरजी चौधरी के जोहड़ (तालाब) तक की यात्रा। यात्रा के अतिरिक्त वहाँ पर-दालबाटी के सुस्वादु भोजन की भी व्यवस्था रहती। हम लोग सरदारशहर से १२ मील दूर स्थित दूलरासर में गोरांजा साध्वी के यहाँ भी जाते थे। बचपन में ही गृहत्याग करके वह यहाँ रहने लगी थीं। हमारे लिए उनके सुरीले भजनों में तो आकर्षण कम रहता, पर उनके आश्रम के नीमों की छाया, निंबोली, झाड़ी के मीठे बेर और गूंदी के गूंदिये हमें बहुत लुभाते। आज भी सरदारशहर से रतनगढ़ जाते समय रास्ते में दूलरासर पड़ता है। मेरी माता जी ने आठ-दस वर्ष पहले आश्रम के चारों तरफ दीवार बनवाई थी। उस संदर्भ में भी वहाँ एक दो बार जाना पड़ा, पर अब उस स्थान में पहले जैसा आकर्षण नहीं रहा।

गोरांजी ही नहीं, उनकी शिष्या भूरांजी का भी स्वर्गवास हो गया है। उस समय के जो तरुण वृक्ष थे, वे भी बूढ़े हो गए। नये पौधे किसी ने लगाए

नहीं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि मेरा वह बचपन भी अब मेरे पास नहीं रहा, जो प्रकृति के साथ हँसता, खेलता और मचलता था।

कहावतें और मुहावरे लोकजीवन का दर्पण हैं। जाति के रीतिरिवाज, आचार-विचार, सुखदुःख आदि का कहावतों और मुहावरों में मार्मिक चित्रण मिलता है। इनमें मनुष्य जाति का युगों-युगों का अनुभव व व्यावहारिक ज्ञान संचित रहता है। कहावतों का लोक-भाषा और लोक-साहित्य में वही स्थान है, जो खाने में नमक का। इनमें कही चुटीला व्यंग्य, कहीं मीठा हास्य और कहीं तीर जैसी चुभती हुई उक्ति थोड़े से शब्दों में इस प्रकार रहती है कि कहने और सुनने वाले दोनों ही इनका रस लेते हैं।

राजस्थान के लोकजीवन में कहावतों और मुहावरों का बहुत प्रचलन है। वैसे तो हजारों कहावतें और मुहावरे हमारे यहां प्रयुक्त होते रहे हैं, किन्तु अपने बचपन के दिनों में जिन विशेष कहावतों और मुहावरों को हम सुनते समझते और कहते रहे, उनमे से ही कुछ का उल्लेख यहाँ कर रहा हूँ।

अकल बड़ी की भैंस ? (भैंस से बुद्धि बड़ी होती है।)

आप स्वामीजी बैंगण खावे, औरां ने परमोद सिखावे।

(पर उपदेश कुशल बहुतेरे।)

ऊँट तो कूदै ही कोनी, बोरा पेली ही कूदै।

(सम्बन्धित व्यक्ति की उपस्थिति में असम्बन्धित व्यक्तियों का पंचायत करना।)

एक काचर रो बीच, सौ मण दूध बिगाड़े

(छोटो सी चीज से बहुत बड़ी हानि हो सकती है।)

एक नन्नो सौ दुःख हरे।

(एक इनकार सौ दुःख दूर करता है।)

एक पंथ दा काज।

(चलो सखी वँह जाइए जहाँ वसत व्रजराज)

गोरस बेंचत हरि मिलें,

(एक पंथ दो काज।)

कदे घी घणा कदे मुट्ठी चणा।

(सब दिन होत न एक समान।)

करो बेटा फाटका, घर का रवो न घाट का।
(सट्ठा करो और नष्ट हो जाओ।)
काणी रो काजल ही कोनी सुहावै।
(साधारण व्यक्ति का मामूली सा बनाव-पहनाव भी नहीं सुहाता।)
कात्या ज्यांरा सूत, जाया ज्यांरा पूत।
(सूत उनका जिन्होंने काता, पुत्र उनका जिन्होंने जन्म दिया।)
काम करें ऊधो दास, जीम ज्याय माधोदास।
(काम कोई करता है, लाभ कोई उठाता है।)
कोई गावे होली रा, कोई गावे दीवाली रा।
(अपनी-अपनी ढपली, अपना-अपना राग।)
कोई पूछे न ताछे मै लाडे री भूवा।
(कोई पूछे न ताछे और कहती है मैं दूल्हे की फूफी हूँ।)
खरची खूटी यारी टूटी।
(सांई या संसार में मतलब को व्यवहार,
जब लग पैसा गांठ में तब लग ताको यार)
काख में छोरो गाँव में ढिंढोरो।
(दिया तले अँधेरा।)
गुरु कीजे जान, पाणी पीजे छाण।
(गुरु समझबूझ कर करना चाहिए, और पानी छान कर पीना चाहिए।)
गई बातां ने घोड़ा ही को नावडेनी।
(बीती बात लौटाई नही जा सकती।
गाय रे भैंस कांई लागै।
(जब परस्पर कोई रिश्ता न हो।)
चालणों रस्ते सर हुवो भलां ही फेर ही।
(नीति की यह अनुपम कहावत है, कि चलो रास्ते से ही, चाहे दूर ही पड़े।)

बैठणों छाया में हुओ भलां ही कैर ही।
(बैठो छाया मे ही, चाहे वह कैर की ही हो।)
रैवणों भायां में हुओ भलां बैर ही,

(रहो भाइयों के साथ ही, चाहे उनसे मेल न ही हो ।)

जीवणों माँ रैं हाथ रो हुओ भलां ही जैर ही ।

(खाओ माँ के हाथ से, चाहे वह जहर ही दे ।)

डाकण ही, पर जरख चढ़ेगी ।

(करेला और नीम चढ़ा ।)

डाकण बेटो दे क ले ।

(डायन बेटा दे या ले, अर्थात् अत्याचारी से लाभ नहीं, हानि ही होती है ।)

तीन बुलाया तेरा आया, भई राम की वाणी ।

राघो चेतन यूं कहे ठेल दाल में पाणी ।

(तीन को निमंत्रण दिया आ गये तेरह । नीति से काम लो, दाल में पानी उंड़ेल कर बढ़ा लो)

थावर कीजे थरपना, बुद्ध कीजे व्यापार ।

(शनिवार को स्थापना और बुधवार को व्यापार करना चाहिए ।)

दोनूं हाथा ताली बाजे । दोनूं हाथ रलायां घुपे ।

(दोनों हाथ मिलाने पर घुपते हैं या ताली बजती है । मिल कर काम करो ।)

घांसी काल री मासी ।

(खाँसी बीमारियों की जड़ है ।)

धन कने धन आवै ।

(धन से धन बढ़ता है ।)

इस सम्बन्ध में एक मजेदार कहानी है। एक जाट से किसी ने कहा कि 'धन के पास धन आता है।' उसने किसी से एक रुपया उधार लिया और एक सेठ की दूकान पर जाकर खड़ा हो गया। सेठ बहुत सारे रुपए गिन रहा था। जाट अपना रुपया दिखा कर कहने लगा, "धन के पास धन आवे।" संयोग से उसका रुपया सेठ के बहुत से रुपयों में गिर गया। जाट ने बहुत ही दीनतापूर्वक सारी कहानी सेठ जी को सुनाई। सेठ ने उसका रुपया लौटाते हुए कहा, "उक्ति तो ठीक ही थी, ज्यादा धन के पास धन आ गया।"

धोतो रै मांय से नागा ।

(कौन बुरा नहीं ।)

नागो कांई धोवे, कांई निचोवे।

(जब पास में कुछ न हो तो कोई क्या कर सकता है।)

नौकर मालक रा हां, बैंगण रा कोनी।

(हाँ में हाँ मिलाना।) इस पर एक कहानी है।" एक सेठ ने अपने नौकर से कहा, "बैंगन बहुत बुरा होता है। नौकर ने झट कहा, "जी हाँ इसमें क्या शक है। इसका नाम ही बे-गुन है।" फिर सेठ जी बोले, "यह तो बहुत बढ़िया सब्जी है।" नौकर तत्काल बोला, "आप बिलकुल ठीक फरमाते हैं। तभी तो इसके सिर पर मुकुट है।" सेठ जी ने हँसकर कहा, "दोनों ही बात ठीक कैसे बता रहे हो ?" नौकर बोला, हुजूर, मैं आपका नौकर हूँ, बैंगन का नहीं।"

बीन के मुंडे लार पड़ै तो जनेती के करे।

(जब मुखिया में ही दम नहीं है, तो सहायक क्या कर सकते हैं !)

पेट में ऊंदरा कूदे।

(भूख लगी है।)

पूतरा पग पालणो में पिछाणी जे।

(होनहार बिरवान के होत चीकने पात।)

पेट में छुरीकतरनी है (मन में कपट है।)

बकरी दूध तो देवे पण मींगणी रला रे देवे।

(दुष्ट आदमी काम तो कर देते हैं, किन्तु साथ में कुछ हानि भी कर देते हैं।)

बाई कहतां रांड आवे।

(जिसे बोलने का शऊर न हो।)

बांध्या बलद ही कोनी रेवेनी।

(बांध कर तो बैलों को भी नहीं रखा जा सकता।)

बाबो आवे न ताली बाजे।

(न ऐसा होगा, न यह काम होगा।)

बेठतो बाणियो, उठतो मालण।

(दूकान खोलते ही बनिया और बाजार से उठते समय मालिन सस्ता सौदा बेचती है।)

भण्या पण गुण्या कोनी।

(बिना गुण के पढ़ना व्यर्थ है।)

पण्यो न गुण्यो, नांव विद्याधर ।
(पढ़े न गुने, नाम विद्याधर ।)
इस सम्बन्ध में एक मजेदार कवित्त सुना था, वह यों है :
नाम तो लक्ष्मीबाई, छाणावीणे वन मांही,
रूपीबाई नाम, रूप कागथी सवायो है ।
नाम तो जड़ावबाई, पास न तांबे रो तार,
स्याणीबाई नाम जन्म राड़ में गंवायो है ।
नाम तो दयाबाई, जुआंलीखां मारे नित,
राजीबाई नाम, राखे थोबड़ो चढ़ायो है ।

(नाम तो है लक्ष्मी और जंगल में गोबर चुगती फिरती है। रूपीबाई का रूप कौए से सवाया है। नाम है जड़ावबाई (आभूषण) और पास में तांबे का तार भी नहीं है। नाम है सयानी और सारा जन्म बिता दिया लड़ाई में। दया नाम है और नित्य कीडे-मकोड़े मारती है। इसी प्रकार राजी अर्थात् खुश मिजाज नाम है, लेकिन हमेशा मुँह फुलाए यानी क्रुद्ध रहती है। आदि आदि।)

बींद मरो, बींदणी मरो, बामणरो टको त्यार ।
[दूसरे के नुकसान की परवा न करके अपना काम सिद्ध करने वालों को लक्ष्य कर यह कहावत अकसर कही जाती है ।

सलाम सट्टे मियां ने बराजी क्यूं कुरणो ।
[केवल सलाम के लिए मियांजी को नाराज नही करना चाहिए]

सस्तो रोवे बारबार, मूंघो रोवे एक बार ।
[सस्ती वस्तु टिकाऊ और अच्छी नहीं होती ।]

मँहगी वस्तु में एक बार तो अधिक दाम लगता है, पर वह अच्छी और टिकाऊ होती है ।

सांप के बचिए रो कांई छोटो ।
[दुश्मन को छोटा न समझिए]

जब सुखी रहने वाले परिवार या व्यक्ति पर दुःख पड़ता हैं, तब यह उक्ति कही जाती है :

समै करे नर क्या करे, समै समै की बात
केई समै रा दिन बड़ा, केई समय रो रात ।

समै वड़ो नर क्या बड़ो, समै वड़ो बलवान
का बां लूंटो गोपका वो अरजुण वै बाण।

[समय बलवान है। समय खराब हुआ तो अर्जुन भी अपनी शक्ति खो बैठा और स्त्रियों की रक्षा तक न कर सका।]

साख एक सुसिए की, अर्थात् गवाही चाहे खरगोश की ही हो। इस पर एक मजेदार कहानी है :

एक बनिया धन कमाने परदेश चला। मार्ग में कई ठग मिले। उनको देख कर बनिया पहले तो घबराया, पर फिर अपनी दरी बिछा कर जमीन पर बैठ गया और रुपयों की थैली खोल ली। ठग भी उसके पास आकर बैठ गए और बोले, "सेठजी, हमें रुपयों की जरूरत है, उधार दे दीजिए।" बनिया बोला—"हमारा तो काम ही यही है। आप किसी गवाह को ले आइए, ताकि लिखापढ़ी की रस्म पूरी हो जाए।" इतने मे एक खरगोश वहां से निकला। ठगों ने कहा, "सेठजी, इसीको साक्षी लिख लीलिए, अब जंगल में दूसरा गवाह कहां से लाएँ!" बनिए ने कहा, "ठीक है।"

उसने रुपए ठगों को गिन दिए और बही में उनके नाम धाम लिख कर नीचे लिख दिया। "साख एक सुसिए री" फिर वह दुःखी मन से घर लौट आया। इसके बाद वह बराबर उन ठगों का ध्यान रखने लगा। एक दिन वे गांव में दिखाई दिए। बनिए ने झट पुलिस को सूचना दी और ठग पकड़ कर राजा के सामने पेश किए गए। मामला चला। ठगों ने कहा, हुजूर, बनिया झूठ बोलता है, यदि रुपए हमने लिए होंगे तो कोई साक्षी होगा; क्योंकि बिना साक्षी ये उधार नही देते हैं।"

बनिए ने कहा, "हां, अन्नदाता, साक्षी है। मेरी बही में लिखा है—साख एक लूंकड़ी [लोमड़ी] की।"

यह सुनते ही उनमें से एक मूर्ख ठग बोला, "क्यों झूठ बोलते हो, वह लोमड़ी कहां थी। वह तो खरगोश था।"

बनिया बोला, "हां, सरकार, बेशक बोलने में भूल हो गयी, यह ठग ठीक कहता है। मेरी बही में खरगोश ही लिखा है।

राजा सब कुछ समझ गया। बनिए को उसका धन मिला और ठगों को जेल।

वैसे राजस्थानी भाषा में कहावतों का भण्डार है, पर मैं एकाध मजेदार कहावत का उल्लेख कर इस चर्चा को समाप्त करता हूं।

जब किसीकी इच्छा ससुराल में अधिक दिन रहने की होती तब उसके साथी कहते "तीन दिनां रा पांवणा, चौथे दिन अण खावणां।"

अभिमानी व्यक्ति के लिए कहा जाता है,
हम वड़ा, गली साँकड़ी। होती थोड़ी हुलेहुल घणी।
[थोड़ी बात पर बहुत होहल्ला करना।]
हाड़ री कांई लाड़।
[हड्डी का क्या लाड़ ?]

इसकी भी एक मजेदार गल्प है। एक बूढ़े मियाँ शादी करके बीवी लाए। मियाँ के दाँत एक था। उन्होंने कहा, "मर्द तो इक दत्ता ही भला।" उस समय तक बीवी परदे में थी। अभी तक मियाँ ने देखी नहीं थी। वह बोली, "हड्ड का क्या लड्ड।" [मुख तो सफासफा ही भला।] मियाँ ने समझ लिया कि बीवी मुझसे ज्यादा बुड्ढी है। ●

९

पुरजन-परिजन

अपने परिवार के लोग किसे प्रिय नहीं लगते ! बच्चों का बूढ़े लोगों से हेलमेल अधिक होता है। मुझे अपनी दादीजी और दादाजी की याद आज भी है। दादी जी का देहान्त ७० वर्ष की उम्र में सन् १९३३ में हो गया। वह जीवन भर घर के काम में जुटी रही। सुबह से शाम तक पीसना, रसोई बनाना, गाय को चारापानी देना और भजन ध्यान करना, यही उनकी दिनचर्या थी। मध्यम वर्ग के परिवार की गृहस्थी थी। हम भाई-बहन छोटे थे। हमारी देखभाल करतीं माता जी। दादी जी के जिम्मे था घर का काम। बिना किसी शिकवेशिकायत के वे घर का काम करती रहतीं। उनकी अपनी एक छोटी सी कोठरी थी। उसकी चाबी एक निश्चित जगह पर रखी रहती।

मैं अकसर ही उनकी कोठरी से दो-चार पैसे चुरा लेता था। उस समय के हिसाब से यह मेरे लिए बड़ी निधि थी। दादीजी के पास कुल जमा पूँजी सौ दो सौ रुपए थी। कभी-कभी अधिक आवश्यकता पड़ने पर यह सारी पूँजी वह पिता जी के हाथ में रख देतीं। उनकी इच्छा थी कि दादाजी के रहते उनका देहान्त हो। ऐसा ही हुआ भी। उनकी मृत्यु के बाद दादा जी सरदारशहर छोड़ कर काशीवास करने लगे।

दादा जी

पिता जी काम में व्यस्त रहते या कलकत्ता आते जाते रहते इसलिए हमारी ज्यादा देख-भाल दादाजी ने की। वह भजनीक और सात्विक पुरुष थे। सुबह छह बजे से नौ बजे तक और रात में सात से दस बजे तक राम नाम का जाप करते रहते। जाप के समय बोलते नहीं थे। कभी-कभी जरूरी काम हुआ तो जोर-जोर से राम नाम लेते। हम उनके पास जाते तो इशारों से बता देते। उनका विश्वास था कि वर्ष में एक करोड़ बार राम नाम लेने से मोक्ष हो जाता है। जब तक रहे, उन्होंने इस विश्वास को पूरी तरह से निभाया। सन् १९३६ के लगभग वह काशी चले गये और वहीं रहने लगे। उनके साथ मेरे माता-पिता और सभी घर वाले काशी आ गए।

हमारी स्थिति साधारण थी। जितना कमाते उसीसे कलकत्ता और

बनारस का खर्च किसी प्रकार चल पाता। एक दिन दादाजी अस्वस्थ हुए। उन्होंने माताजी पिताजी त्र को पास में बैठाकर कहा, "सूरजमल नागरमल की तरह अपनी ओर से भी बनारस में एक डिस्पेंसरी, सदाव्रत और विधवाओं को मासिक सहायता की व्यवस्था होनी चाहिए। सरदारशहर में मन्दिर, पाठशाला और कुएँ होने चाहिए और इसी प्रकार कलकत्ता में भी पाठशाला, धर्मशाला होनी चाहिए।"

उनकी बातें सुन कर पिताजी कुछ चिन्तित और कुछ आश्चर्यचकित होकर बोले, "काका जो, वह तो बहुत बड़े आदमी हैं, अपने यह सब कैसे बना पाएँगे?" उन्होंने उसी समय आशीर्वाद के रूप में कहा, "चिंता न करो! योजना बनाओ, एक दिन तुम लोग भी वैसे ही हो जाओगे।"

मेरे पिता जी का देहान्त सन् १९६५ में हुआ। वह बराबर दादाजी का यह शुभ आशीर्वाद दोहराते थे। वास्तव में हमारे दादा जी वचनसिद्ध महात्मा थे।

दादी जी

उन दिनों औसत मध्यम श्रेणी के घरों में काम स्त्रियाँ ही करती थीं। बच्चों के लिए भी आज कल की तरह दाई या आया नहीं रखी जाती थी। हम बहन-भाई छोटे थे। इसलिए घर का सारा काम हमारी दादी जी के जिम्मे रहता। सर्दी हो या गरमी, वे सुबह चार बजे उठ जाती और चार पाँच सेर अनाज पीस लेती। उसके बाद बिलौना करती। हम बच्चे बिलौने की आवाज से इतने परिचित हो गए थे कि तुरन्त उठ कर बिलौने के चारों तरफ बैठ जाते। दादी जी दही बिलौती जातीं और थोड़ा-थोड़ा चूंटियाँ (मक्खन) हम सबको देती जातीं। लीली गाय को भी वे ही दुहतीं, क्योंकि यदि कोई दूसरा दुहता तो लीली दूध कम देती। जैसे उसे दादी जी के हाथ सुहाते हों। उनके मन में भी लीली के लिए ममता तो थी ही।

रसोई वगैरा से निवृत्त होकर दादीजी चरखा कातने बैठ जातीं। उस समय खादी का प्रचलन नहीं था। परन्तु वे मितव्ययता के दृष्टिकोण से पुरानी रुई (लूगड़) को कातती और उस सूत से बिछाने के मोटे कपड़े बन जाते। इसके अलावा वे ऊन भी कातती। उनके काते हुए ऊन के कम्बल हमें बहुत अच्छे लगते, क्योंकि हम बच्चों का भी उसमें थोड़ा सहयोग रहता। हमे उन्हें बताते रहते कि इस लच्छी में यह काँटा रह गया और बीच-बीच में काँटे निकालते भी रहते।

अपना सारा जीवन उन्होंने घर के लोगों के लिए उत्सर्ग कर दिया। सीमित साधन थे, इसलिए अपने लिए उन्होंने कभी अच्छी चीजों की कामना नहीं की। वे अपना सारा स्नेह हम बच्चों पर उड़ेले रहतीं।

ऊपर दही बिलौने का उल्लेख कर आया हूँ। बिलौना प्रायः रोज ही होता। बहुत सी छाछ (मट्ठा) हो जाती। सुबह आठ बजे से छाछ लेने वाली पड़ोस की महिलाएँ और बच्चे हमारे यहाँ आ जाते। ऐसी मान्यता थी कि छाछ और बेटी माँगने में क्या संकोच? उस समय मध्यम श्रेणी के घरों में प्रायः घीणा (गोपालन) रहता और जिनके घर बिलौना होता, उनसे पड़ोस के लोग चाहे वह अच्छे खातेपीते हों या गरीब — छाछ लेने निस्संकोच पहुँच जाते। छाछ देने वाला भी स्नेह से देता और अनुभव करता कि मैं पड़ोसियों के कुछ काम आ रहा हूँ।

दादी जी ७० वर्ष की अवस्था में चल बसीं। उन्हें सन्तोष था कि उनके बेटे पोते अच्छी तरह खाने कमाने लगे हैं। वे दादा जी के सामने ही जाना चाहती थीं। उनकी यह इच्छा भी पूरी हुई। रघुनाथ जी के एक मन्दिर के निर्माण का सपना भी उनके जीवित रहते ही साकार हो गया था।

पिता जी

हम बच्चे किसी से डरते थे तो पिता जी से। उनका अनुशासन काफी कड़ा था, किन्तु हमें यह याद नहीं कि उन्होंने कभी हमें मारा हो। वह जरा जोर से बोलते तो हम डर जाते। दादा जी के देहान्त के बाद हमारा कारोबार तेजी से बढने लग गया था; पिता जी ने कभी उसमे खास हस्तक्षेप नही किया। उनके पूजा पाठ का समय बढ़ गया। दादा जी ने मृत्यु से पहले जो इच्छा जाहिर की थी वह उसी को निभाने एवं धार्मिक-सामाजिक कार्यों मे लगे रहे। पिता जो का देहान्त ८२ वर्ष की उम्र में सन् १९६५ मे हुआ।

घर वाले सभी काशी में इकट्ठे हुए। मृत्यु के कुछ दिन पहले उन्होंने मेरे और बृजलाल के पुत्रों को गोद में बैठाया और कहा, कि "बेटा, तुम तो आए हो और मैं तो जा रहा हूँ।" उनकी खुशी थी कि उनके सामने हमारे स्कूल, कालिज, धर्मशालाएं, मन्दिर और कुएँ बन चुके थे और भरा-पूरा सम्पन्न परिवार था। लेकिन वह मन में कभी दुःख भी करते, क्योंकि मेरे बड़े बहनोई और छोटी बहन का देहान्त उनके जीवित रहते ही गया था।

माता जी

वैसे तो अपने माता-पिता सभी को अच्छे लगते हैं, लेकिन मैं यह कहूँ तो अत्युक्ति न होगी कि मेरी माँ बहुत ही दयावान और धर्मनिष्ठ थीं। छुआछूत और खाने-पीने का बहुत परहेज रखतीं। उनका स्वास्थ्य अच्छा था, किन्तु पिता जी के देहान्त के बाद वह जीवन से उदास रहने लगी थीं। ६५ वर्ष का लम्बा वैवाहिक जीवन उन्होंने बिताया था। माता-पिता दीर्घकाल तक एक दूसरे के सुखदुःख के साथी रहे।

वह उदार थी। उनसे याचना करके शायद ही कोई निराश लौटा हो। कभी-कभी तो वह इतना दे देतीं कि हम लोग उनको समझाते कि आपको ठग लिया गया है। उनका कहना होता कि जो बेचारा ले गया, वह निश्चय ही गरीब होगा, नहीं तो ठगता क्यों! उनकी मृत्यु सन् १९६८ में ८१ वर्ष की उम्र में हुई। उनके पास जितने भी निजी नौकर-चाकर थे, उनके बच्चों की विवाह-शादी में तथा अन्य अवसरों पर वे जी खोल कर देती थीं। आज भी वे सब हमारे यहाँ हैं, एक प्रकार से पेंशनयाफ्ता। माता जी के अलावा, कुछ और व्यक्ति भी मुझे अब तक याद हैं।

साहजी सुखानन्द जी

मेरी बड़ी बहन के श्वसुर सुखानन्दजी सचमुच अजातशत्रु थे। जीवन में उन्होंने कभी न किसी का बुरा सोचा, न बुरा किया। उमर में बड़े थे, फिर भी हम बच्चों को अपने परिवार के बच्चों जैसा मानते थे। हम ही क्यों गाँव के सभी बच्चे उनसे हिलेमिले रहते थे। साधारण स्थिति होते हुए भी वह दूसरों के लिए जितना जो कुछ करते थे, उतना बिरले ही कर पाते हैं। जब मैं स्वर्गीय रफी अहमद किदवई के बारे में कुछ सुनता पढ़ता हूँ तो मुझे सुखानन्द जी की याद आ जाती है।

भानी बाबा

मैं तीन वर्ष का था। धुंधली सी याद है—भानी बाबा की। वह हमारे यहाँ कारिंदगी और उगाही का काम करते थे। जैसा कि ऊपर लिख चुका हूँ, उस समय चीजों के भाव सस्ते थे। फिर भी लोग खाने-पीने में मितव्ययता से काम लेते। भानी बाबा को बाजरे की बहुत सी खिचड़ी और उसके बीच में थोड़ा सा घी दिया जाता था। वह खुद रूखी खिचड़ी खाते और हम दोनों भाइयों को घी खिला देते थे। तकादे के लिए देहात जाते, तो वहाँ से लौटते वक्त ऊँट पर ककड़िएँ मतीरे लाद लाते। स्वयं पैदल

आ जाते। उनका वेतन था दो रुपया महीना। हमें गोद में लिए या अँगुली पकड़े बाजार ले जाते। अपने पास से दो-चार पैसे खर्च करके चीजें दिला देते।

कस्तूरी दादी

इसी तरह की याद है कस्तूरी दादी की। वे हमारे यहाँ पीसने पोने का काम करती थीं। पीसते-पीसते भजन गाती रहती। रात में हमें कहानियाँ सुनातीं। जब हम लक्ष्मणा महाराज के पास बैठने लगे थे, तब वह मर गई थीं।

वंशीधरजी पंसारी

एक और व्यक्तित्व की झलक आज भी आँखों के सामने है। राजा जनक के बारे में पढ़ा है कि वह राज्य करते हुए भी ऋषि-तुल्य जीवन जीते थे। इसीलिए उनका दूसरा नाम था विदेह। वंशीधर जी वास्तव में ऐसे ही पुरुष थे। पंसारी का काम करते थे। एक पैसे से लेकर रुपये तक का सौदा बेचते। मुंह में राम का नाम रहता और हाथों से काम करते रहते। बच्चों, बड़ों और बुड्ढों के साथ समान व्यवहार था। कभी डंडी मारने की बात उन्होंने सोची नहीं। साधु महात्मा उन्हें घेरे रहते। किसीको टोपी, किसीको कुरता और किसी को 'सीधा' देते रहते। पता नहीं कैसे उनके घर के खर्च और दानपुण्य दोनों की पूर्ति होती थी। उनकी छोटी बहन थी भूरी नानी, जिनके बारे में मैंने एक संस्मरण लिखा है। वह अपना तो देती हीं दूसरों के पास भी जो अनावश्यक चीजें होतीं, चुपके से उठा कर जरूरत-मन्दों को दे डालती थीं। कोई झगड़ा करता तो कहतीं, 'तुम्हारे पास तो फालतू थी; वे बेचारे क्या पहनते या ओढ़ते!' पता नहीं उन्होंने जैन धर्म का अपरिग्रह का सिद्धान्त या एंजिल्स की थ्योरी कहाँ सीखी थी!

जैसा कि मैंने पढ़ाई लिखाई प्रकरण में उल्लेख किया है, दादा जी ने हमारे घर में ही लछमणा गुरुजी की पाठशाला लगवा दी थी, हम उन्हीं के पास पढ़ते थे। आज भी लछमणा गुरु जीवित हैं। मैं जब भी गांव जाता हूँ, उनसे मिलता हूँ। अब वह बड़े अदब से मिलते हैं। लेकिन जब मैं हँस कर कहता हूँ कि 'गुरुजी उस समय तो आप हमें बहुत मारते थे,' तो वह गौरवान्वित से होकर कहते हैं—'हां, कभी-कभी तो आप पेशाब कर देते थे।'

लछमणा महाराज की बात ऊपर लिख आया हूँ। दोनों समय वह हमारे यहाँ पूजापाठ करता था, तनख्वाह थी पांच रुपया महीना। इसके

अलावा वह लोगों के घरों में जाकर विष्णु-सहस्रनाम और हनुमान चालीसे का पाठ भी करता था। एक रुपया हरेक घर से लेता। वह शाहपुरा (जयपुर) का था। सरदारशहर उसके लिए दिसावर के समान था, १२ महीनों की मुसाफिरी करता और 'देश' चला जाता। बड़ा ही सात्विक व्यक्ति था। हमे अच्छी अच्छी कहानियां सुनाता। इसलिए हम उससे बहुत खुश रहते और कभी-कभी नानीजी या माँ से माँग कर धोती या कुरते का कपड़ा ले जाते। लेकिन बगैर घर वालों को पूछे, उसने कभी इन चीजों को छुआ तक नहीं। १९६५ में उसकी मृत्यु हुई। इसके कुछ समय बाद मैं एक बार उसके गाँव भी गया था। दैन्यता का वातावरण था। टूटा मकान खण्डहर-सा। थोड़ी देर ठहरा। मेरे बचपन की यादों की परतें खुल गईं पता नहीं मन क्यों उदास हो गया।

इन व्यक्तियों के साथ-साथ दो एक और भी चरित्र उल्लेखनीय हैं, जो मेरे बचपन के अभिन्न साथी रह चुके है। चालिया ऊँट की स्मृति आज भी ताजा है। चीलिया नाम इसलिए पड़ा कि वह चील की तरह तेज दौड़ता था। इस ऊँट पर बैठ कर सरदारशहर के आसपास के टीलों में और यहाँ की बालू मे बहुत घूमा हूँ। कभी भानी बाबा के साथ, तो कभी किसी अन्य के साथ। दुर्योग ऐसा हुआ कि चीलिया जल्दी ही मर गया।

प्रेमसुखदास करवा

सन् १९०९ में उस मरुस्थली अंचल मे पब्लिक लायब्रेरी के संस्थापक श्री प्रेमसुखदास करवा थे। मेरी छोटी अवस्था में ही उनका देहान्त होगया था। किन्तु आज भी मुझे उनकी याद ताजा है। खानपान, कपड़े-लत्ते में वे जितने संयमी थे, उतने ही बोलने में वे मितभाषी थे। मेरा जो भी पढ़ना-लिखना हुआ, वह उन्हीके द्वारा संस्थापित उक्त पुस्तकालय से। उनके केवल एक पुत्री महादेवी बाई थी, जिनका विवाह प्रसिद्ध उद्योगपति श्री घनश्यामदास बिडला से हुआ था। ऐसा कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नही होगी कि सरदारशहर में हिन्दी के प्रति रुचि पैदा करने वालों में श्री करवा अग्रणी थे। वैसे उनका कोई स्मारक नहीं है, किन्तु हमारे कस्बे की पब्लिक लाइब्रेरी (जो कि राजस्थान के अच्छे पुस्तकालयों में है) ही उनका सबसे बड़ा स्मारक है, जिससे तीन लाख व्यक्ति प्रति वर्ष लाभ उठाते हैं।

मघराज जालान

८० वर्ष की अवस्था, परन्तु पूर्णरूप से स्वस्थ शरीर। हर समय ये

मन्दिर या गोशाला के लिए धन संग्रह में लगे रहते। चाहे सुदूर बंगाल जाना हो या असम, जालानजी सबसे आगे। कलकत्ता के बड़ा बाजार अंचल की ऊँची-ऊँची कोठियों में न तब लिफ्ट थी, न अब। हम लोग सीढ़ियाँ चढ़ते हिचकते, किन्तु मघराजजी दनादन बच्चों की तरह सीढ़ियाँ चढते तो हम युवकों को भी उनके पीछे-पीछे ही जाना पड़ता। सार्वजनिक कामों के लिए धन-संग्रह की लगन ऐसी कि दूरी और ऊँचाई उनके सामने किसी प्रकार बाधा नहीं थी। कंजूस से कंजूस व्यक्तियों की भावनाओं को प्रेरित करके उनसे रुपया निकलवाने की कला उनमें थी। किसीसे भगवान के भोग के नाम पर, तो किसीसे गाय की बच्छी के नाम पर रुपया माँग लेते। ८६ वर्ष की आयु में उनका देहान्त हुआ। आज तक उनके स्थान की पूर्ति हमारे यहाँ नही हो पाई है। सचमुच ही वे अपने आपमें एक संस्था थे।

बाबू शोभाचन्द जम्मड

जम्मड़जी शायद किसी समय गृहस्थी में रहे होंगे। पर पत्नी की अकाल मृत्यु से छोटी उम्र में ही गृहस्थी के जंजाल से मुक्त हो गये। कोई बालबच्चा भी न था। दादू पंथी रामरतनजी साधू के ताल के मन्दिर में रहते। संस्कृत के अद्भुत ज्ञाता थे। मनोरंजन नाट्य परिषद के माध्यम से इन्होंने हमारे कस्बे में बहुत से बच्चों और युवकों को अभिनयकला की शिक्षा दी। इन नाटकों से जो आय होती, विभिन्न संस्थानों को दे दी जाती। जम्मड़जी ने भजनों की और संगीत की बहुत अच्छी पुस्तकें भी लिखी। इनका लिखा जितना प्रकाशित हुआ, उससे कहीं ज्यादा अभी तक मित्रों के पास अप्रकाशित पड़ा हुआ है।

ओसवाल जैन होने पर भी वह परम वैष्णव थे। इनकी स्मृति में शोभाचन्द हाल नामक विशाल भवन कस्बे के ताल मे बना हुआ है।

धनराज बियाणी

मेरे बचपन का मित्र। उस समय हम दोनों की हालत खस्ता थी। एक दिन आलू की चाट खाने का मन हुआ। एक पैसे के आलू लिए उबाले, छीले और ऊपर स डाली इमली की मीठी चटनी और दही। खाए तो इतना स्वादिष्ट था कि जबान पर उसका जायका आज भी है। कई वर्ष हम दोनों ने एक साथ खेलकूद कर बिताए। धनराज के पिता मरते समय उसे एक पुरजा दे गए थे। इस पुरजे मे थी कर्जदारों की नामावली और उनसे ली गई रकमों का ब्यौरा।

छोटी उमर में ही धनराज राजस्थान से कलकत्ता चला गया। वहाँ उसने बड़ी मेहनत की और कर्जदारों की रकमें ब्याज-सहित चुकाना शुरू किया। कुछ कर्जदार राजस्थान के गाँवों में थे, उन्हें ढूंढ़ा। कोई तो मर गए थे; उनके बेटे-पोतों को कर्ज की रकमें चुका दीं। जब तक पूरी तरह कर्ज मुक्त नही हो गया, अपने रहने की जगह नहीं बनवाई। मेरी कहानी है 'पिता का कर्ज'; उसका चरित-नायक है मेरा मित्र धनराज बियाणी।

लीली गाय

लीले रंग की यह गाय बहुत ही 'सूधी' थी। डीलडौल में बड़ी थी। हम बच्चे निःसंकोच उसके पास चले जाते। दोनों समय सात-आठ सेर दूध देती थी। शायद हमारी पुरानी गाय की ही बछिया थी। दादी जो उसका सारा काम सँभालती थी।

लेकिन कुछ दिनों बाद, जब दादी जी अस्वस्थ रहने लगीं, गाय के काम के लिए नौकर रखने की जरूरत हुई। इसलिए गाय को बेच देना तय हुआ। दाम तय हुए शायद ६० रुपए, जो उस समय के हिसाब से अच्छी राशि थी। गाय अच्छे सम्पन्न घर में जा रही थी।

विदा का समय आया तो दादी जी और हम बच्चे बिसूर-बिसूर कर रोने लगे। मुझे आज भी याद है कि गाय के भी टपटप आँसू गिर रहे थे। ग्राहक को वापस भेज दिया गया। लीली के लिए एक 'हाली' नौकर रख लिया गया। लीली हमारे घर में ही बुड्ढी होकर मरी। दाह-क्रिया विधि-पूर्वक की गई। दो-तीन दिन सूतक-सा भी मनाया गया। ●

१०

लोकाचार

जनसंख्या के सिद्धांत से जमीन बहुत थी। इसलिए भरे-पूरे घरों को बहुत शुभ माना जाता था। लोग बड़े गर्व से कहते थे कि फलां व्यक्ति बहुत पुण्यवान है, उनके परिवार में ३०० सदस्य हैं।

जब कोई सुहागिनी महिला सास के या बड़ी स्त्रियों के पैर छूती तब आशीर्वाद मिलता, 'सिली हो, सपूती हो, सात पूतों की माँ हो'। हमारे गाँव में एक महिला के आठ पुत्र थे। इसलिए वह जब भी किसी के पैर छूती, पहले से ही कह देती कि 'माँजी मेरे आठ पुत्र हैं।' उसे डर था कि सात पुत्र का आशीर्वाद उसके लिए कहीं दुराशीष न बन जाए।

परिवार संयुक्त थे। अधिकांश लोग खेती करते थे, जिनमें सब मिलकर अपनी सामर्थ्य के अनुसार काम करते रहते या फिर दूकानदारी या घरेलू उद्योग थे। बनिए तो अपनी औकात भर लेनदेन का काम करते या दूकानें चलाते और दूसरी जातियों के लोग अपने पेशे के अनुसार धंधा करते रहते। इन धंधों में परिवार के सभी सदस्यों का योग रहता। धंधे के प्रति घृणा नहीं थी। काम को हीन नहीं माना जाता था। मैंने देखा कि बड़े-बड़े सेठ, सुनारों के यहाँ बैठ कर गहना बनवाते या जड़वाते रहते। बड़े घर की महिलाएँ भी छीपों और मनिहारों के यहाँ कपड़ा रंगवाने या चूड़े बनवाने खुद जाती थीं। मुझे याद है कि हम अपने घर की भंगिन को भूरी काकी कहते थे और जब वह रोटी लेने आती तो हमारी दादी जी उसको खुद ही रोटी देने जातीं। कभी-कभी साथ में तरकारी भी देतीं। उसके बच्चों की राजी खुशी का हाल पूछतीं। मैंने इस संदर्भ में अपनी पुस्तक 'कुछ घटनाएँ, कुछ संस्मरण' में फतेहपुर (शेखावटी) के एक सेठ की एक सच्ची घटना लिखी है।

हालांकि उस समय चीजों के दाम अधेलों या पैसों में लिये जाने लगे थे, फिर भी कई बार वस्तुओं का विनियम भी होता रहता था। बरतनों की खरीद पर पुराना गोटाकिनारी दिया जाता था। इसी प्रकार अनाज के बदले सब्जी और अन्य छोटी मोटी चीजें मिल जाती थीं। गरीब-अमीर उन दिनों

भी थे, पर विवाह शादी और सामाजिक अवसरों पर सब एक दूसरे का आदर मान करते थे। गरीब भाई की लड़की के विवाह के अवसर पर गाँव का बड़े से बड़ा सेठ खुद हाथ में मिठाई का थाल लिये बरातियों को परोसगारी करता। अगर कोई ऐसे अवसर पर नहीं जाता तो उसकी निंदा होती और लोग भी उसके यहाँ जाना आना बन्द कर देते। इस संदर्भ में एक घटना की चर्चा करूँगा।

एक धनी युवक था। बिरादरी में किसीके यहाँ काम पड़ता और बुलावा आता, तो कह देता कि चाय पीकर आ रहा हूँ और जाता नहीं। एक दिन उसका पिता मर गया। लोगों ने तो पहले से ही बात कर रखी थी कि उसके यहाँ नहीं जाना है। जब उसने बुलावा भेजा तब सब जगह से एक ही उत्तर आया कि छाछ (मट्ठा) पीकर आते हैं। आखिर उसके मुनीम ने आकर लोगों से वस्तु-स्थिति जाननी चाही तो जवाब मिला कि वह अमीर आदमी है, इसलिए चाय पीते हैं। उनकी चाय कभी समाप्त हुई नहीं, इसी तरह हमारी छाछ भी सदा चलती रहेगी। आखिर उसने स्वयं आकर हाथ जोड़े, माफी माँगी, तब लोग मुरदनी में गये।

इसी तरह विवाह शादी में परिवार के गरीब व्यक्ति भी जब तक जीमने को नहीं आ जाते, तब तक सजन गोठ चालू रहती। वैसे निमंत्रण देने नाई या ब्राह्मण जाते, लेकिन भाई बिरादरी के घर, चाहे गरीब हो या धनवान, लोगों को खुद ही जाना पड़ता।

इस संदर्भ में एक सच्ची घटना उल्लेखनीय है। शेखावटी के फतेहपुर गाँव के एक सेठ का व्यवसाय बम्बई में था। ज्यादातर वे वहीं रहते थे। वर्ष में एकाध बार ही गाँव आते। छोटे बडे सभी से प्रेम-पूर्वक मिलते और कुशल-मंगल पूछते। मनसे बहुत उदार थे। जरूरतमन्दों को यथोचित सहायता देते। कभी हनुमान जी के प्रसाद और कभी भगवान सत्यनारायण की कथा का आयोजन करके गाँव के लोगों को भोजन पर भी बुलाते रहते।

उनके इकलौते पुत्र का विवाह देश में ही निश्चित हुआ। उन दिनों छपे हुए निमन्त्रण पत्र भेजने का रिवाज नहीं था। नाई या ब्राह्मण गाँव के सब घरों में जाकर न्योता-बुलावा देते थे। पर जो गोत्र भाई थे, उनको न्योता देने स्वयं जाना पड़ता। सेठ जी भी अपने जाति-भाइयों को निमंत्रण देने स्वयं गये।

संयोग से उनकी बिरादरी में एक गरीब घर ऐसा भी था, जिनके भुने

हुये चने मुरमुरे की दूकान थी। बहुत वर्षों से किसी कारण वश इन दोनों परिवारों में परस्पर आना-जाना बन्द था। लेकिन सेठ जी तो इस माँगलिक अवसर पर अपने आँगन में सभी का सत्कार करना चाहते थे। वे उस गरीब भाई की दूकान पर गये और बिना किसी संकोच के वहाँ रखी हुई मूँज की खाट पर बैठ गये।

दो तीन बार निमन्त्रण की याद दिलाने पर भी सामने वाला व्यक्ति चुप रहा। सेठ जी उसकी चुप्पी का मतलब समझ गये। उन्होंने कहा, "भाई, सुबह से घर छोड़कर निकला हुआ हूँ, भूख-प्यास लग रही है, थोड़ा सा गुड़, चना और पानी मंगा दो।"

उसने सहमते हुए ये दोनों चीजें लाकर दीं, जिन्हें सेठ जी ने बड़े चाव से खाया। पास खड़े लोगों ने देखा कि उस गरीब की आँखों से हर्ष की अश्रुधारा बह चली। उसने गद्‌गद् होकर कहा, "पूज्यवर, भोज में शामिल होने का मन तो नहीं था, पर आपने पुराना बंद लेनदेन खोलने में पहल करके मुझे लज्जित कर दिया है। हम सपरिवार भोजन के लिये आएंगे।"

आजकल की तरह स्कूल, अस्पताल तो नहीं थे। पर कुआँ, कुण्ड, प्याऊ, धर्मशाला और मन्दिर बनवाने में लोग बहुत पुण्य मानते और जो कोई ऐसा सत्कार्य कर पाता, उसका जन्म सफल माना जाता; गाँव में वह बहुत पुण्यवान समझा जाता।

उस समय संतानोत्पत्ति देश की समृद्धि के लिए बहुत आवश्यक थी। इसलिए लड़कियों के विवाह कराने में लोग बहुत बड़ा पुण्य मानते थे। यदि किसी महिला के संतान न होती, तो उसका मुँह देखना या नाम लेना भी अपशकुन माना जाता। ऐसी महिलाएँ शुभ अवसरों पर स्वयं ही दूर हो जातीं। वे अपने को अभिशापित समझती थीं।

गरीब घरों की लड़कियों की शादियाँ तो लोग गुप्त सहयोग से करवाते, पर ब्राह्मणों की लड़कियों का विवाह धनी वैश्य और राजपूत धूमधाम से कराते और खुद कन्यादान करते। उन लड़कियों को वह सदा के लिए अपनी पुत्री के समान ही समझते और उन्हें वार-त्योहारों पर घर बुलाते और रीतिरिवाज, नेगाचार आदि करते।

लड़कियों का बिवाह उस समय भी व्यय-साध्य था। हमारे यहाँ कहावत थी कि 'लहणो भलो न बाप बो, बेटी भली न एक; पैंड़ों भलो न कोस को, साहब राखै टेक।' अर्थात कर्ज, कन्या और यात्रा भगवान के भरोसे ही पार होती है।

सवर्ण अर्थात बनियों, ब्राह्मणों और राजपूतों आदि की स्त्रियों में कड़ा परदा चलता था, यहाँ तक कि बहू सास आदि बड़ी औरतों से घूंघट रखती थीं, पर दूसरी जातियों मे परदा इतना कड़ा नहीं था, क्योंकि उनकी स्त्रियों को पुरुषों के साथ खेतखलिहान, वाड़ीकुआँ, आदि पर काम के लिए जाना पड़ता था।

घर में आधिपत्य सास का रहता। गहने भी सब सास के पास रहते। जिस बहू को अपने पीहर या कहीं शादी आदि शुभ कार्यों में जाना होता, वह गहने सास से माँग कर ले जाती। ऐसी परम्परा थी कि बहुओं को सास के कठोर शासन में रहना पड़ता, इसलिए जब वे स्वयं सास बनतीं, तब उसी तरह अपनी बहुओं पर शासन चलातीं। इसी भाँति ननद भी पीहर में भावजों पर रोबदाब रखती, क्योंकि उसे माँ की शह रहती।

जैसा कि लिख चुका हूँ—जादूटोने का बड़ा प्रचार था। हमारे यहाँ एक महिला आती थी। जब उससे बच्चे के रोग के बारे में पूछा जाता तो कहती, "म्हारो ही है।" अर्थात् वह अपने को देवी सिद्ध करती हुई कहती कि यह रोग मेरा ही दिया हुआ है। एक दिन एक नटखट बच्चे ने अपनी झोली में कुत्ते के तीन-चार पिल्ले रख दिए और बीमारी का बहाना करके सो गया। जब उस औरत को बुला कर पूछा गया, तब उसने वही बात दोहराई। इस पर बच्चे ने वे तीनों पिल्ले उसकी गोद में फेंक दिए और कहा कि 'थारा ही है तो ले ज्याओ।' उसके बाद कई दिनों तक उस बेचारी का झाड़फूंक बन्द रहा। सारे गाँव में खूब हँसी हुई।

नोटों का प्रचलन राजस्थान के उस हिस्से में उस समय तक नहीं हुआ था। सौ दो सौ रुपये भी कहीं दूर गाँव से लाने होते तो कपड़े की एक लम्बी नौली (थैली) रखते। उसमें रुपये डाल कर कमर में बाँध लेते। बहुत जरूरत होने पर भी रुपये को नहीं भुनाते। ज्यादा प्रचलित सिक्का टका, पैसा, अधेला और पाई थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक कौड़ियों का भी प्रचलन था।

रास्ते सुनसान थे। यातायात के साधन धीमे थे। ऊँट, ऊँट की गाड़ी या रथ चलते थे, इसलिए चोरडाकुओं का भय बना रहता था। दूसरी रियासतों में आये दिन इस प्रकार की वारदातें सुनते रहते थे, पर बीकानेर रियासत में महाराज गंगासिंह का कड़ा शासन होने से ऐसी घटनाएँ नहीं सुनी गईं।

इन धाड़ेवियों में बलजी-भूरजी की बड़ी चर्चा सुनते रहते। वह शेखावटी अंचल में डाका डालते थे। उनके बारे में कई प्रकार की जनश्रुतियाँ प्रचलित थीं, जो शायद उनके अपने आदमियों द्वारा ही फैलाई गई थीं। पर इतना अवश्य था कि उन्होंने कभी ब्राह्मण, अछूत और गाँव की बहन-बेटियों को नहीं लूटा। आज कल के भिंड मुरेना के डाकुओं की तरह नर-हत्या को वह प्रोत्साहन नहीं देते थे। उनके नाम के आतंक से ही लोग आत्म-समर्पण कर देते और जमा पूँजी सौंप देते।

एक बार उन्हें जंगल में एक बुढ़िया ब्राह्मणी रोती हुई मिली। ब्राह्मणी बलजी-भूरजी को कोस रही थी और कह रही थी कि वह उसकी लड़की को उठा कर ले गये। यह सुनकर बलजी भूरजी ने खुद ही उससे पूछा कि वह 'किधर गये, कैसे थे; कितनी देर हुई ?' उन्होंने उसे कुछ धन दिया, सान्त्वना दी और पताठिकाना लेकर उसी दम वे लड़की की खोज में चल पड़े। दूसरे दिन वे उसकी लड़की को सहीसलामत उसके पास पहुँचा गये और कहा, "माँजी, भूरजी मेरा ही नाम है। इस लड़की के विवाह पर मैं भात भरने आऊँगा। किसी से कहना नहीं। मुझे फलां जगह सूचना दे देना।"

शादी के दिन वह बहुत सा कपड़ा और गहना आदि लेकर आये। पुलिस को शायद कुछ भनक पड़ गई, इसलिये जैसे ही उस ब्राह्मणी ने उनको टीका किया, चुनरी ओढ़ा कर वह साँड़ों पर चढ़ कर वापस चले गये।

उस समय सोने का भाव २० रुपये तोले के लगभग था और चाँदी का आठ आना तोला। अधिकांश महिलाएँ गले या कान में सोने का जेवर अवश्य पहनतीं। ऐसी मान्यता थी कि सोने से छूकर पानी पवित्र हो जाता है। इस संदर्भ में दो एक बातें आज भी याद हैं, जब कोई व्यक्ति मातम से लौट कर घर आता, घर की कोई महिला दरवाजे पर आकर अपने सोने के किसी आभूषण से पानी छुआ कर उसके शरीर पर फेंकती और तब उसे स्नान के लिए लोटा-बाल्टी दिया जाता। इसी प्रकार कभी भूल से यदि कोई चमार या भंगी से छू जाता तो उस पर सोने से छुआ पानी डाल कर कहा जाता, 'सोना वाली किलकिटिया।' और इस अभिमन्त्र के साथ ही वह शुद्ध मान लिया जाता। हम बच्चों को इसमें बड़ा मजा आता। कोई भंगी या भंगिन राह से गुजरती तो पास खड़े किसी साथी को धक्का देकर छुआ देते। फिर सभी बच्चे उसे भंगी कह कर चिढ़ाते और उससे दूर भागते। काफी तंग करके उसे सोना वाली 'किलकिटिया' मन्त्र से शुद्ध कर देते।

शायद सोने को महत्व देने के लिए ही यह सब मान्यताएँ थीं। विधवा स्त्रियाँ भी गले में सोने की 'लड़', जिसमें हनुमानजी या पीतरजी की मूरत होती, रखती थी। धनाढ्य घरों की स्त्रियों के तन पर सिर के बोर से लेकर तागड़ी (करधनी) तक सोने के दो-तीन सेर वजन के विविध प्रकार के गहने लदे रहते। हीरों का प्रचलन कम था; अधिकांश गहनों में मोती या पुखराज लगे रहते। अधिक धनवान घरों में हीरे और पन्ने के गहने भी पाए जाते थे। जिन महिलाओं के पास सोने की तागड़ी होती वे अपने को बड़ी भाग्यवान समझती थी। किसी लड़की की सगाई में ससुराल से दूसरे गहनों के साथ सोने की तागड़ी आती, तो पास पड़ोस में चर्चा होती कि फलां बड़ी भाग्यवाली है, सगाई में सोने की तागड़ी आई है।

सोने से ज्यादा प्रचलन था चांदी का। यह सोने से बहुत सस्ती थी, इसलिए मध्यमवर्ग और साधारण लोगों के आभूषण इसीसे बनते थे। महिलाएँ मोटे-मोटे गहने गले और हाथों में पहने रहती थी। उस समय चाँदी के बरतन बहुत कम घरों मे पाये जाते थे। हमारे यहाँ चांदी की एक छन्नी (तश्तरी) थी। ऐसी छन्नियाँ सेठ संपतरामजी के पुत्र बुद्धमल जी के विवाह में गाँव भर में बाँटी गई थी। बाहर से कोई मेहमान आते तो हम इसी छन्नी में सौंफ, सुपारी आदि रख कर उनका सम्मान करते।

हम ऐसा सुनते थे कि गाँव में दो-चार घरों में ठोस सोने की थाली; गिलास और कटोरियाँ भी थीं, पर उस समय मुझे इन सब चीजों को देखने का मौका नहीं मिला।

स्त्रियों के शरीर पर तागड़ी और कण्ठी के अलावा दूसरे आभूषण भी रहते। सिर पर बोर, चाँद सूरज, माथे पर सोने की या मोतियों की पट्टी, कानों में लौंग या सुरलिए (झुमके), गले में गलसरी या गलपटिया और नौसरहार; हाथों मे कड़े, बंगड़ी, चूड़ियाँ, गट्टों की मौगरी, हथसांकले और पूँचा आदि; बाजुओं मे बाजूबन्द चोथ आदि; उँगलियों में नाना प्रकार की अँगूठियाँ। अपनी अपनी आर्थिक अवस्था के अनुरूप गहने रहते। कुछ ऐसी बीमार, कमजोर या नाजुक स्त्रियाँ भी थीं, जो वजन तो एक सेर भी नहीं उठा पाती थी, पर गले, हाथों और पैरों मे सोने-चाँदी के दो तीन सेर वजन के गहने पहने रहती थी। पता नहीं क्यों, सोने-चाँदी के प्रति युगों से एक मोह चला आया है। धर्मशास्त्रों में तो सोने में कलयुग का वास कहा है। लेकिन यह शायद ऐसे पण्डित महोदय की उक्ति है, जिन्हें सोना मिल नहीं पाया और खीझ कर वह ऐसा लिख गये।

पैरों में सोने के कड़े या पाजेब दो-चार घरों में पहने जाते, जिन्हें इसकी इजाजत राज्य से मिली होती, अन्यथा बिना राज्य की आज्ञा के पैरों में कोई भी सोना नहीं पहन सकता था। जिन्हें राजा द्वारा सोना बख्शा जाता, वे बड़े आदमी माने जाते। उन्हें अन्य सुविधाएँ भी मिलतीं, इसका जिक्र अन्यत्र हो चुका है। आम लोगों के घरों की स्त्रियाँ पैरों में चाँदी के कड़े या पाजेब पहनती थीं। इनका वज़न दो-तीन सेर तक होता था और जिनसे कभी कभी टखनों मे घाव हो जाते थे।

मेरे ससुराल वाले कलकत्ता रहते थे। वहाँ कुछ नया फैशन आ गया था। मेरी पत्नी, जब सन् १९२३ में गौना लेकर आई, उसने पैरों में चाँदी के भारी कड़ों की जगह हलकी छड़े पहने ली। सारे मुहल्ले और बिरादरी में चर्चा हो गई। उसे फिर से वही भारी कड़े पहनने पड़े।

सधवा युवती स्त्रियों की पोशाक थी—आँगी, ओढ़नी और घाघरा। आँगी पौराणिक काल की कंचुकी का ही रूप था। बड़े परदे के उस युग में वक्ष से नाभि तक का हिस्सा खुला रहने पर भी बुरा नहीं माना जाता था। किशोरी और युवा स्त्रियाँ इस परिधान में अपूर्व सुन्दर और आकर्षक लगती थीं। कमर से पैर तक रहता घेरदार घाघरा, वक्ष पर आँगी और सिर पर ओढ़नी। इन सब कपड़ों पर गोटा-किनारी का काम रहता। विविध प्रकार के रंगीन चित्र (छापे) भी मोढ़ी द्वारा इन वस्त्रों पर बनाये हुए रहते थे।

प्रत्येक सुहागन स्त्री के हाथों में लाख की सात-सात या दस-दस चूड़ियाँ रहती थीं। इन पर सोने या चाँदी के पत्तर जड़े रहते थे। ये लोग चूड़े का नाप लेने घरों में भी आते रहते और स्त्रियाँ उनकी दूकानों पर भी नाप देने जाती थीं। पर कभी ऐसा नहीं सुना गया कि किसी के साथ कोई दुर्व्यवहार की घटना हुई हो। उस समय पेशे और गाँव की अक्षुण्ण पवित्रता का ध्यान रखने की यह एक बेजोड़ मिसाल थी।

अधिक उम्र वाली स्त्रियों की पोशाक थी सादी या लाल ओढ़नी, बदन पर लम्बी बाहों की सादी फतुई और कम घेर का घाघरा। विधवा स्त्रियों को भी यही पोशाक थी। ओढ़नी काले या गहरे कत्थई रंग की होती थी।

बच्चों की पोशाक थी—सिर पर सलमेसितारों के काम की मखमल की गोल टोपी, बदन पर मलमल या रेशम की कमीज या कुरता और किनारीदार धोतियाँ। गोट लगे हुए कुरते-कोट भी पहने जाते थे।

लड़की-लड़कों, दोनों की यही पोशाक थी। आज की तरह फ्राक या सलवार कुरती का प्रचलन नहीं था उस समय।

बच्चों को गहने पहनाने का बड़ा रिवाज था। कानों में मोती की बाली, मोती चोपड़े (कुण्डल), गले में गोप या कण्ठी, हाथों में कड़े और बाहों मे चौथ। कमर मे करधनी भी किसी-किसी लड़की को पहनाई जाती। ये गहने कमोवेश रूप में बड़े भी पहनते थे। ढलती उम्र में इनका शौक कम हो जाता। ●

११

मारू म्हारा थे चाल्या परदेश

बचपन की हर घड़ी गाँव के साथ जुड़ी थी। कल्पना और वास्तव गाँव ही था, सुख-दुख का पैमाना भी। जीवन का अर्थ था, मेरा बचपन, मेरा गाँव।

बचपन मुझे छोड़ता जा रहा था, अनजाने में। मैं न तो इसे समझता था और न जानने की इच्छा थी। मगर महसूस करने लगा कि कभी-कभी मुझे अपने बड़ों की तरह गाँव छोड़ना पड़ेगा। घर की समस्याएँ, 'कर्ज का बोझ' परदेश ग ए बिना कमाई का रास्ता बनता नहीं आदि, तरह-तरह की चर्चा होती रहती।

सन् १९२५ का जुलाई मास। घर में तय हुआ कि परदेश का सफर करना है। एक दिन पिताजी और बड़े भाई शिवप्रताप जी के साथ असम के धुबड़ी कस्बे के लिए रवाना हुआ। यात्रा के लिए पहले ही से मुहूर्त निकलवा लिया गया था। रात के तीन बजे पूजन करके हम घर से विदा हुए। 'सगुन' अच्छा बने इसलिए एक सधवा स्त्री को पानी से भरा घड़ा देकर निकासी के रास्ते पर खड़ा कर दिया गया।

राजस्थान से बाहर की यह मेरी पहली यात्रा थी। पन्द्रह वर्ष की अवस्था साधारण शिक्षा और जीवन के उतार-चढ़ाव से अनभिज्ञता। बाहर की दुनिया क्या है और मुझे क्या करना है, इस पर गहराई से कभी सोचा न था।

बिना किसी संबल के हम सुदूर परदेश के लिए चल पड़े। दादाजी, दादीजी, माताजी, और छोटे भाई-बहनों से भरा-पूरा परिवार था। विदा के समय हमारे और घर वालों के मन में एक अजीब-सी बेचैनी थी। लंबी राह, अनजान मंजिल, पूंजी और न कोई जमा-जमाया काम। मेरा किशोर मन नाना प्रकार के तर्क-वितर्क में उलझ रहा था। कभी परदेश की यात्रा का उत्साह भर आता तो दूसरे ही क्षण आत्मीय-स्वजनों के विछोह की कल्पना से मन भारी हो जाता। सोचता, गाँव ही में क्यों न कुछ कर लें, आखिर इतनी दूर क्यों? न जाने कब वापिस आयेंगे! पर चुप ही रहा, पूछने का

साहस नहीं हुआ। अनुशासन में पला मन ओठों के बाहर न आ सका। इतना जरूर समझ पाया कि क़र्जदारों के रोज़-रोज़ के तक़ाजों ने हमें घर से बाहर निकलने के लिए विवश कर दिया है।

पत्नी घर पर ही थी। हम दोनों की उम्र छोटी थी। प्रेम या सेक्स के गूढ़ अर्थ नहीं जानते थे। फिर भी एक ऐसी अनजानी डोर थी जिससे हमारे मन परस्पर बंध गये थे। फ्रायड या युंग इसे भले ही अवचेतन मस्तिष्क की 'सेक्सीय' भूख परिभाषित करें, किंतु आज तक मैं केवल इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि सग-साथ से स्नेह उपजना स्वाभाविक है। इसी कारण, बच्चे या किशोर संपर्क में आए घनिष्ठ व्यक्ति के प्रति विशेष रुझान रखते हैं, चाहे वह किसी भी उम्र का हो, पुरुष या स्त्री।

ज्यों-ज्यो विदा के दिन नजदीक आते, हम दोनों का मन भारी होता। इस विषय पर उदासी भरे वातावरण में हमारी आपस में चर्चा होती परन्तु विरह-बिछुड़न आदि की गंभीरता समझने लायक हमारी भावनाएँ परिपक्व नहीं थीं। हां, दोनों यदि वयस्क होते तो शायद राजस्थान के बहु प्रचलित लोकगीत में वह गुनगुनाती :—

मारु म्हारा थे चाल्या परदेश,
घर कद आओला म्हारा राज।
सासरिये में जीमै देवर जेठ, पियाजी चित आवे म्हारा राज।
मारू म्हारा, तरसैली घर नार, पीहर उठ ज्यावाँलाजो राज।
महलों में सूनी-सूनी सेज,
मारू जी चित्त आवे म्हारा राज।
पिया, म्हाने डस ज्योजी कालो नाग,
पिंड तो छूट ज्यावे म्हारा राज।

—पिया परदेश जा रहे हैं, न जाने कब लौटेंगे। ससुराल में जब भी देवर-जेठ को भोजन करते देखेंगी, आपकी याद आयेगी, मन तरसेगा। ऐसे में विरह-वेदना उठेगी, इसलिए मैं पीहर चली जाऊंगी परंतु वहां भी शयन-कक्ष में सूनी शैय्या पीर उभारेगी। इससे तो कहीं अच्छा कि मुझे काला नाग डस लेता। विरह-वेदना से सदैव के लिये मुक्ति तो मिलेगी।

आज सोचता हूँ, अच्छा हुआ विरह का अहसास हम दोनों में से किसी को न हुआ, वरना संघर्षों में कैसे उतरता, जूझता और पार पाता?

हमारी सामाजिक व्यवस्या कुछ इस ढंग की थी कि दंपति को परस्पर

मिलने-बोलने का अवसर बहुत ही कम मिल पाता। भोर अँधेरे से घर की बड़ी-बूढ़ी के साथ रहना और घरेलू कामों में हाथ बंटाना, यही परिपाटी थी बहुओं के लिए। इसी में उनकी सामाजिक, धार्मिक और पारिवारिक शिक्षा-दीक्षा चलती रहती। ऐसे वातावरण में पत्नी तो क्या माँ भी बड़े-बूढ़ों के सामने नहीं आती थीं।

माता जी ने कब पिता जी से बातें की, हमें मालूम नहीं। फिर भी ऐसा लगता है कि उन्होंने हमारे लिए चुपके से कहा होगा "टाबर छोटा है, सम्हाल राखोगा। मन नहीं लागे तो फिरती भेज देयो।"

दादा-दादी और माँ के चरण स्पर्श कर और छोटे बहन-भाइयों को प्यार कर जब हमने विदा ली, सबकी आँखें गीली थीं।

मुहूर्त निकला था, भोर के चार बजे का और ट्रेन का समय था सुबह नौ बजे। इसलिए घर से प्रस्थान कर हम पाँच घंटे के लिए पास के बाबा रामरतन जी के दादू द्वारे में ठहर गए। स्टेशन पर आत्मीय स्वजन पहुँचाने आए। अधिकांश ने एक-एक रुपया विदाई का दिया। पुराने समय से यह प्रथा थी। सभवतः पाथेय अथवा यात्रा के लिए संबल देने की भावना इसमें रही हो, या फिर उसमें अपने हृदय का स्नेह उँड़ेला गया हो!

ट्रेन सुबह नौ बजे चली। केवल उनतीस मील की दूरी तय करने में तीन घंटे लगे। सरदारशहर और रतनगढ़ के इस छोटे से फसले में सात स्टेशन थे। दूलरासर में पानी की एक टंकी थी, ईंटों की मीनार पर। बीस फुट ऊँची यह टंकी उन दिनों हमारे लिए एक अजूबा थी, शायद वैसी ही चमत्कारपूर्ण जैसी आज भिलाई या दुर्गापुर के इस्पात के कारखानों की टंकी।

रतनगढ़ से रात नौ बजे दूसरी ट्रेन पकड़नी थी जो हमें दिल्ली पहुँचाती। इसलिए सारे दिन स्टेशन के पास की धर्मशाला में ठहरे। अच्छे घी की पूरियाँ छह आने और बूंदियाँ आठ आने सेर मिलते थे। पूरियों के साथ लौंजी और सब्जी मुफ्त। तीन-चार आने में अच्छी तरह पूरी-मिठाई से पेट भर जाता। आज भी वह दुकान वहीं है और उसी तरह पूरी मिठाइयाँ भी बनती हैं, पर अब शुद्ध घी की जगह है वनस्पति तेल और दाम हो गये हैं आठ रुपये किलो।

रतनगढ़ से दिल्ली आने के लिये उन दिनों सीधी ट्रेन नहीं थी। हिसार में गाड़ी बदलनी पड़ती। इस तरह दो दिन के सफर के बाद कहीं दिल्ली पहुँचते। हिसार में धर्मशाला स्टेशन के पास ही थी। हम वहीं रुके।

तो छोटे भाई बहनों के लिए तरह-तरह की पेंसिलें, कापियाँ और खिलौने जरूर लेता जाऊँगा।

तीसरे दर्जे में हम दिल्ली से धुबड़ी के लिए रवाना हुए। उन दिनों तीसरे दर्जे की यात्रा क्या थी और कैसी थी, इसके बारे में केवल इतना कहा जा सकता है कि जीवट एवं सहिष्णुता का काम था। भेड़-बकरियों की तरह लोग भरे रहते। ट्रेनें बहुत कम थीं। बैठने के लिए डिब्बों में एक सिरे से दूसरे सिरे तक सँकरी बेंचों की तीन कतारें। बीच वाली कतार में एक दूसरे की तरफ पीठ करके लोग बैठते। ऊपर सामान रखने के लिए बर्थें भी सँकरी होती थीं। पंखों की व्यवस्था थी नहीं, यात्री पसीने से तर हो जाते। गर्द गंदगी और दुर्गन्ध से भरा लंबा सफर, कंपार्टमेंट के दरवाजे सँकरे और बाहर खुलने वाले थे। डर बना रहता कि कहीं खुल न जाये और भीतर बैठा यात्री बाहर गिर पड़े। खिड़कियों पर सीखचे नहीं। मरम्मत पर ध्यान कम था। टूटी खिड़कियों की राह गर्मी में लू और बरसात में पानी की बौछारें भीतर आती। पाखाने में नल नहीं थे।

रिजर्वेशन या आरक्षण की व्यवस्था भी नहीं थी। स्टेशन पर कुली चार आने लेता। मुसाफिर को उकड़ूँ बैठाता और खिड़की की राह डिब्बे के अंदर किसी को चोट लगे, न लगे सब विधि के विधान पर निर्भर था। इसलिए इस मामले में जोरदार तकरार नहीं होती, हल्की झड़प के बाद सब शांत। गाड़ी चली कि आपस में परिचय का सिलसिला चल पड़ता। अंदर के मुसाफिर डिब्बे का दरवाजा खोलते नहीं थे। बाहर आने-जाने के लिये खिड़की ही थी खुदा की राह। इस मार्ग से भीतर पहुँच सके तो भाग्यशाली, वरना स्टेशन पर बैठे-बैठे बारह-चौबीस घंटे बाद फिर अगली गाड़ी के लिए किस्मत आजमायी जाय।

लम्बी यात्रा पर आने वाले 'रास्ते का खाना प्रायः घर से बाँध कर लाते। टीन के डिब्बों में पराठे, मोठ-बाजरे की रोटियाँ और केर-सांगर का अचार, नास्ते के लिये पेठे, लड्डू और मठड़ी या नमकीन, सुवाली (मठरी)। आज की तरह न 'रिफ्रेशमेंट कार' थी और न ही थे वरदीधारी बेयरे। चाय का प्रचलन नहीं था। कहीं-कहीं बिकती। पान-बीड़ी वाले जरूर हर स्टेशन पर होते।

बड़े-बड़े महाजन व्यापारी भी तीसरे दर्जे में सफर करते। सेकेंड या इंटर में अंग्रेजी पढ़े लिखे, जमींदार, कंपनियों के मुलाजिम और छोटे-बड़े

निकट ही एक ढावा था जहाँ हमने भोजन किया। प्रसंगवश एक रोचक घटना याद आती है। हमारे लिछमणा महाराज अपने भतीजे और भाई के साथ यात्रा पर थे और इसी ढावे में भोजन के लिए वैठे। ठाकुर ने प्रति-व्यक्ति चार आने पहले ही ले लिए। अभी आधा पेट ही खाया होगा कि उसने कहा, 'महाराज गाड़ी ने सीटी दे दी, टाइम हो गया'। विचारे फौरन खाना छोड़ ट्रेन की ओर दौड़े। ट्रेन में अभी डेढ़ घंटे की देर थी। किसी दूसरी गाड़ी की सीटी थी। पर अव क्या हो सकता था? वे इसे भूले नहीं। दुवारा वापस लौटते समय वहीं भोजन के लिये आये। इस बार वे गाड़ी का समय पूछ कर आये थे। खाने के समय ठाकुर ने पहले की तरह फिर दांव फेंका, "महाराज, गाड़ी की सीटी हो गयी"। लिक्ष्मणा महाराज ने और भी जमकर बैठते हुए, कहा, "होने दो, पहले खा तो लें। न होगा, कल जायेंगे। परसों भी भूखे रह गये थे"। तीनों आदमियों ने डटकर भोजन किया, बीस जनों की खूराक साफ कर गये। ठाकुर देखता ही रह गया।

हिसार से गाड़ी बदलकर रेवाड़ी होते हुए दिल्ली पहुँचे। आगे के सफर के लिए रात की गाड़ी थी। सारे दिन दिल्ली में रुके रहे। उन दिनों आज की तरह न तो इतने होटल थे और न लोगों मे खर्च करने की प्रवृत्ति। कुली के सिर पर सामान उठवा कर स्टेशन के पास की लक्ष्मीनारायण धर्मशाला में चले गये। पिछले वर्ष मैट्रिक परीक्षा देने के लिये मैं दिल्ली आ चुका था। लाल किला, कुतुबमीनार और हुमायूँ का मकबरा आदि दर्शनीय स्थल देख लिये थे। नयी दिल्ली उन दिनों राजधानी के लिए चुन ली गयी थी। गांव खाली कराये जा रहे थे। दैत्याकार वड़ी-बड़ी मशीनों से पत्थर तोड़े जा रहे थे। रायसिना तो विल्कुल उजाड़ जंगल-सा था। घूमते हुए हम वहीं से गुजरे। ऊबड़-खाबड़ पथरीली सी जगह, कभी सोचा भी नहीं जा सकता था कि पैंतीस-चालीस वर्ष बाद यह भारत का सबसे सुन्दर और विश्वविख्यात नगर हो जायेगा और छह आने प्रतिगज जमीन की कीमत बढ़कर हो जायगी ढाई सौ रुपये।

शाम के समय चाँदनी चौक गये। अलिफ-लैला की किसी एक नगरी की तरह चमत्कारपूर्ण लगा। दूकानों में रंग-विरंगे सामान सजे थे। लोगों की भीड़, खरीद-फरोख्त, बाहर पटरियों पर भी छोटी-छोटी दूकानें। हमारे यहाँ गाँव में तो भूधरजी पंसारी की दूकान में दवाई, स्टेशनरी से लेकर किराने, कपड़े तक सब सामान एक ही जगह मिलते जबकि यहाँ हरएक वस्तु के लिए अलग-अलग दूकानें थीं। मन में सोचता, परदेश से कमाकर लौटूंगा

तो छोटे भाई बहनों के लिए तरह-तरह की पेंसिलें, कापियाँ और खिलौने जरूर लेता जाऊंगा।

तीसरे दर्जे में हम दिल्ली से घुबड़ी के लिए रवाना हुए। उन दिनों तीसरे दर्जे की यात्रा क्या थी और कैसी थी, इसके बारे में केवल इतना कहा जा सकता है कि जीवट एवं सहिष्णुता का काम था। भेड़-बकरियों की तरह लोग भरे रहते। ट्रेनें बहुत कम थीं। बैठने के लिए डिब्बों में एक सिरे से दूसरे सिरे तक सँकरी बेंचों की तीन कतारें। बीच वाली कतार में एक दूसरे की तरफ पीठ करके लोग बैठते। ऊपर सामान रखने के लिए बर्थें भी सँकरी होती थी। पंखों की व्यवस्था थी नहीं, यात्री पसीने से तर हो जाते। गर्द गंदगी और दुर्गन्ध से भरा लंबा सफर, कंपार्टमेंट के दरवाजे सँकरे और बाहर खुलने वाले थे। डर बना रहता कि कहीं खुल न जाये और भीतर बैठा यात्री बाहर गिर पड़े। खिड़कियों पर सीखंचे नहीं। मरम्मत पर ध्यान कम था। टूटी खिड़कियों की राह गर्मी में लू और बरसात में पानी की बौछारें भीतर आतीं। पाखाने में नल नहीं थे।

रिजर्वेशन या आरक्षण की व्यवस्था भी नहीं थी। स्टेशन पर कुली चार आने लेता। मुसाफिर को उकडूं बैठाता और खिड़की की राह डिब्बे के अंदर किसी को चोट लगे, न लगे सब विधि के विधान पर निर्भर था। इसलिए इस मामले में जोरदार तकरार नही होती, हल्की झड़प के बाद सब शांत। गाड़ी चली कि आपस में परिचय का सिलसिला चल पड़ता। अंदर के मुसाफिर डिब्बे का दरवाजा खोलते नही थे। बाहर आने-जाने के लिये खिड़की ही थी खुदा की राह। इस मार्ग से भीतर पहुँच सके तो भाग्यशाली, वरना स्टेशन पर बैठे-बैठे बारह-चौबीस घंटे बाद फिर अगली गाड़ी के लिए किस्मत आजमायी जाय।

लम्बी यात्रा पर आने वाले 'रास्ते का खाना प्राय: घर से बाँध कर लाते। टीन के डिब्बों में पराठे, मोठ-बाजरे की रोटियां और केर-सांगर का अचार, नास्ते के लिये पेठे, लड्डू और मठड़ी या नमकीन, सुवाली (मठरी)। आज की तरह न 'रिफ्रेशमेंट कार' थी और न ही थे वरदीधारी बेयरे। चाय का प्रचलन नहीं था। कहीं-कहीं बिकती। पान-बीड़ी वाले जरूर हर स्टेशन पर होते।

बड़े-बड़े महाजन व्यापारी भी तीसरे दर्जे में सफर करते। सेकेंड या इंटर में अंग्रेजी पढ़े लिखे, जमींदार, कंपनियों के मुलाजिम और छोटे-बड़े

सरकारी अफसर-वर्ग के यात्री रहा करते थे। फर्स्ट क्लास में बहुत ऊँचे तबके के जज, बैरिस्टर, सिविलसर्जन और मिलेट्री के कर्नल आदि। आज भी साफ याद आता है, यूरोपियनों के लिये डिब्बे अलग रहते थे।

हमारे लिये थर्ड क्लास में बैठने का मौका पा लेना ही बड़ी नियामत थी। बहुत दूर तक बैठने को जगह नहीं मिली। खड़े-खड़े जाना पड़ा। हमारी तरह और भी बहुत से थे। गरमी का मौसम, पंखे थे नहीं। पानी के लिये स्टेशन पर जा नहीं सकते, कहीं कोई अन्य मुसाफिर जगह पर कब्जा न कर ले। शायद ऐसी ही पृष्ठभूमि पर राजस्थान में कहावत चली :—

"लहणो भलो न बाप को, बेटी भली न एक।
पैंडो भलो न कोस को, साहब राखे टेक॥

कर्ज चाहे पिता का ही हो, बेटी चाहे एक ही हो, घर के बाहर की यात्रा चाहे कोस भर की ही हो, ये सब कष्टदायक हैं। इनसे भगवान् बचाये।

चार दिन की लंबी और कष्टप्रद यात्रा के बाद गोरखपुर, छपरा और कटिहार होते हुए हम धुबड़ी पहुँचे। रास्ते में कई जगह ट्रेन बदलनी पड़ी, खाने-पीने की असुविधाएँ तो थीं ही। कलकत्ता होकर जाते तो ये तकलीफें कम रहती, मगर उस हालत में प्रति-टिकट दो रुपये ज्यादा लगते। इसलिए छः रुपये बचाने के खयाल से हमने उपर्युक्त रास्ता चुना।

बंगाल की सीमा पर धुबड़ी उन दिनों एक साधारण कस्बा था। बाद में पाट और गल्ले के व्यापार का बड़ा केंद्र बन गया। मैं पहली बार परदेश आया था। सब कुछ अजीब-सा लगा। टीन के छप्पर की दुकानें थीं, इन्हें गोला कहते। इनके पिछवाड़े उसी ढंग के आवास। कीचड और सीलन भरे आँगन। मुझे सब कुछ अटपटा और दुखदायी लगा। राजस्थान की सूखी हवा, खुला वातावरण, पक्के मकान और सुनहरी बालू को छोड़कर कहाँ आ गया! टीन के छाजन के गोलों और कच्चे मकानों को देखकर जो अजीब-सी सिहरन हुई उसे आज भी नहीं भूला हूँ।

धुबड़ी में हमारे चाचा और ताऊ का थोड़ा बहुत कारोबार था। इसलिए हमे ठहरने की असुविधा नहीं हुई। राजस्थानी व्यापारी आमतौर पर पाट, कपड़े और गल्ले का धंधा करते थे। आपसी सलाह-मशविरे के बाद हमने भी पाट और कपड़े के व्यापार को चुना। इसके लिए कम-से-कम पन्द्रह-बीस हजार की पूंजी चाहिए थी। हमारे पास तो कुछ भी न था।

वहाँ एक महाजन थे, नेतरामजी बजाज। बाहर से आए हुए व्यापारियों को रुपये उधार देते। इनकी दुकान के सामने से मैं कई बार गुजरा। हमेशा इन्हें अपने वही-खातों में व्यस्त पाया। ऊँची धोती, मैली-सी गंजी पहने वहियों के पन्नों को उलटते-पुलटते। मैं सोचता, इनका मन बैठे बैठे ऊबता क्यों नहीं। शायद रुपयों का लोभ बहुत है। यह भी सुना कि उनके पास लाखों की सम्पत्ति है।

मेरे जैसे अभाव में पले किशोर के लिए अचंभे की बात थी। सोचता वह कौन सी तरकीब है जिससे इन्होंने इतना धन पैदा कर लिया, काश, मैं भी सीख पाता।

कभी-कभी विश्लेषण करता कि अपने समस्त सुखों की उपेक्षा कर एक-एक पैसे की कंजूसी ने शायद इन्हें धनी बनाया है।

एक दिन उन्होंने हनुमानजी का प्रसाद किया। बहुत से लोग आमंत्रित थे। इस प्रकार के आयोजन हमारे यहाँ की तरह उन सुदूर-प्रांतों में भी हुआ करते। इससे व्यस्त जीवन में परस्पर मिलने-जुलने का अवसर मिल जाता। हम भी नेतरामजी के यहाँ गये। मुझे उन्हें पास से देखने का अवसर मिला। बात-चीत में संयत और व्यवहार-कुशल लगे।

पिताजी ने उनसे बात की। कारबार के लिए उनकी गद्दी से पच्चीस सौ रुपये उधार मिले। मगर हमें तो ज्यादा की आवश्यकता थी। अतएव, पिताजी और भाई जी रकम का बन्दोबस्त करने यहाँ से चार सौ मील पूर्व जोरहाट गये। हमारे फूफाजी वहाँ रहते थे। चार-पाँच दिन बाद वे दोनों दस हजार रुपये लेकर लौटे। हमें जितनी पूँजी चाहिए थी, उसकी आधी ही जुटा पाये फिर भी हिम्मत नहीं हारी। एक पुरानी कहावत है, मारवाड़ी लोटा-डोर लेकर घर से निकलता है और शीघ्र ही लखपति हो जाता है। इसका कारण एक ओर जहाँ आत्मविश्वास, अपने अध्यवसाय में निष्ठा, सादा जीवन और कठोर परिश्रम है, वहीं दूसरी ओर राजस्थानियों का पारस्परिक सहयोग भी। राजस्थान से सहस्रों मील दूर विभिन्न उद्योगों और व्यवसायों मे आज उन्नति के शिखर पर पहुँचे ये लोग घर से पूँजी लेकर नहीं चले थे।

हमने पांच सौ रुपये सालाना किराये पर एक गोदाम लिया और पाट के काम का श्रीगणेश किया। इसके अलावा कपडे की एक छोटी-सी दूकान भी कर ली। रोज सौ सवा-सौ का कपड़ा बिक जाता। आठ-दस रुपयों की आमदनी हो जाती। पिताजी और भाईजी काम देखते। कभी तो

सरकारी अफसर-वर्ग के यात्री रहा करते थे। फर्स्ट क्लास में बहुत ऊँचे तबके के जज, बैरिस्टर, सिविलसर्जन और मिलेट्री के कर्नल आदि। आज भी साफ याद आता है, यूरोपियनों के लिये डिब्बे अलग रहते थे।

हमारे लिये थर्ड क्लास में बैठने का मौका पा लेना ही बड़ी नियामत थी। बहुत दूर तक बैठने को जगह नहीं मिली। खड़े-खड़े जाना पड़ा। हमारी तरह और भी बहुत से थे। गरमी का मौसम, पंखे थे नहीं। पानी के लिये स्टेशन पर जा नही सकते, कही कोई अन्य मुसाफिर जगह पर कब्जा न कर ले। शायद ऐसी ही पृष्ठभूमि पर राजस्थान में कहावत चली :—

"लहणो भलों न बाप को, बेटी भली न एक।
पैंडो भलों न कोस को, साहब राखे टेक॥

कर्ज चाहे पिता का ही हो, बेटी चाहे एक ही हो, घर के बाहर की यात्रा चाहे कोस भर की ही हो, ये सब कष्टदायक हैं। इनसे भगवान् बचाये।

चार दिन की लंबी और कष्टप्रद यात्रा के बाद गोरखपुर, छपरा और कटिहार होते हुए हम धुबड़ी पहुँचे। रास्ते में कई जगह ट्रेन बंदलनी पड़ी, खाने-पीने की असुविधाएँ तो थी ही। कलकत्ता होकर जाते तो ये तकलीफें कम रहती, मगर उस हालत में प्रति-टिकट दो रुपये ज्यादा लगते। इसलिए छः रुपये बचाने के खयाल से हमने उपर्युक्त रास्ता चुना।

बंगाल की सीमा पर धुबड़ी उन दिनों एक साधारण कस्बा था। बाद में पाट और गल्ले के व्यापार का बड़ा केंद्र बन गया। मैं पहली बार परदेश आया था। सब कुछ अजीब-सा लगा। टीन के छप्पर की दुकानें थीं, इन्हें गोला कहते। इनके पिछवाड़े उसी ढंग के आवास। कीचड और सीलन भरे आँगन। मुझे सब कुछ अटपटा और दुखदायी लगा। राजस्थान की सूखी हवा, खुला वातावरण, पक्के मकान और सुनहरी बालू को छोड़कर कहाँ आ गया! टीन के छाजन के गोलों और कच्चे मकानों को देखकर जो अजीब-सी सिहरन हुई उसे आज भी नहीं भूला हूँ।

धुबड़ी में हमारे चाचा और ताऊ का थोड़ा बहुत कारोबार था। इसलिए हमें ठहरने की असुविधा नहीं हुई। राजस्थानी व्यापारी आमतौर पर पाट, कपड़े और गल्ले का धंधा करते थे। आपसी सलाह-मशविरे के बाद हमने भी पाट और कपड़े के व्यापार को चुना। इसके लिए कम-से-कम पन्द्रह-बीस हजार की पूंजी चाहिए थी। हमारे पास तो कुछ भी न था।

वहाँ एक महाजन थे, नेतरामजी बजाज। बाहर से आए हुए व्यापारियों को रुपये उधार देते। इनकी दुकान के सामने से मै कई बार गुजरा। हमेशा इन्हें अपने बही-खातों में व्यस्त पाया। ऊँची धोती, मैली-सी गंजी पहने बहियों के पन्नों को उलटते-पुलटते। मैं सोचता, इनका मन बैठे बैठे ऊबता क्यों नहीं। शायद रुपयों का लोभ बहुत है। यह भी सुना कि उनके पास लाखों की सम्पत्ति है।

मेरे जैसे अभाव में पले किशोर के लिए अचंमे की बात थी। सोचता वह कौन सी तरकीब है जिससे इन्होंने इतना धन पैदा कर लिया, काश, मैं भी सीख पाता।

कभी-कभी विश्लेषण करता कि अपने समस्त सुखों की उपेक्षा कर एक-एक पैसे को कंजूसी ने शायद इन्हें धनी बनाया है।

एक दिन उन्होंने हनुमानजी का प्रसाद किया। बहुत से लोग आमंत्रित थे। इस प्रकार के आयोजन हमारे यहाँ की तरह उन सुदूर-प्रांतों में भी हुआ करते। इससे व्यस्त जीवन में परस्पर मिलने-जुलने का अवसर मिल जाता। हम भी नेतरामजी के यहाँ गये। मुझे उन्हें पास से देखने का अवसर मिला। बात-चीत में संयत और व्यवहार-कुशल लगे।

पिताजी ने उनसे बात की। कारबार के लिए उनकी गद्दी से पच्चीस सौ रुपये उधार मिले। मगर हमें तो ज्यादा की आवश्यकता थी। अतएव, पिताजी और भाई जी रकम का बन्दोबस्त करने यहाँ से चार सौ मील पूर्व जोरहाट गये। हमारे फूफाजी वहाँ रहते थे। चार-पांच दिन बाद वे दोनों दस हजार रुपये लेकर लौटे। हमें जितनी पूँजी चाहिए थी, उसकी आधी ही जुटा पाये फिर भी हिम्मत नहीं हारी। एक पुरानी कहावत है, मारवाड़ी लोटा-डोर लेकर घर से निकलता है और शीघ्र ही लखपति हो जाता है। इसका कारण एक ओर जहाँ आत्मविश्वास, अपने अध्यवसाय मे निष्ठा, सादा जीवन और कठोर परिश्रम है, वही दूसरी ओर राजस्थानियों का पारस्परिक सहयोग भी। राजस्थान से सहस्रों मील दूर विभिन्न उद्योगों और व्यवसायों मे आज उन्नति के शिखर पर पहुँचे ये लोग घर से पूँजी लेकर नहीं चले थे।

हमने पांच सौ रुपये सालाना किराये पर एक गोदाम लिया और पाट के काम का श्रीगणेश किया। इसके अलावा कपडे की एक छोटी-सी दूकान भी कर ली। रोज सौ सवा-सौ का कपड़ा बिक जाता। आठ-दस रुपयों की आमदनी हो जाती। पिताजी और भाईजी काम देखते। कभी तो

में दुकान में बैठता और कभी पाट के गोदाम में। ग्राहकों को कपड़े दिखाता, धीरे-धीरे दाम बताना भी सीख गया। पाट के गोदाम में कितना माल है, किस मुकाम का है, क्या क्वालिटी है, देखता और समझने की कोशिश करता। फिर भी, अकेलेपन में किशोर मन बार-बार गांव की ओर दौड़ जाता। वे टीले, हमारी हवेली, लीली गाय, लिछमणा महाराज, दादीजी की मनुहार, दोस्तों की चुहलें आदि याद आने लगतीं। कभी-कभी आंखें गीली हो जातीं। विषाद और कल्पना की ऊंचाइयों और गहराइयों में खो जाता। अपने आप में ये भाव अटपटे शब्दों में फूट पड़ते।

जन्म-भूमि की माटी में, मैं खेलूं गाऊं,
जीवन की प्रत्येक घड़ी को सुखी बनाऊं।

मैं खुश हो उठता कि कवि बन गया। परंतु दूसरे ही क्षण जब यह सोचता कि मुझे तो किसी तरह धन कमाना है, इसीलिए तो अपने यहां की सर्वं-हितकारिणी सभा, पब्लिक लायब्रेरी और पढ़ाई छोड़कर इतनी दूर आया हूं।

पाट से लदी नौकाएँ विभिन्न गांवों से आकर नदी के घाट पर लग जातीं। व्यापारियों को गोदामों में माल चला जाता। मुझे यह जगह बहुत सुहावनी लगती। बरसात का मौसम था, नदी का पाट, कई मील चौड़ा फैल गया; जिधर देखो लहराता जल। उस पार तुग की पहाड़ियां। सुबह जब सूर्य की पहली किरणें उन पर पड़ती तो लगता मानों कृपा कुंकुम बिखेर रही हो। अथाह जलराशि में उठती लहरें अरुणाभ हो जाती। (वर्षों बाद स्कॉट-लैंड और स्विट्जरलैंड की झीलों और पहाड़ों पर सूर्योदय की सिंदूरी आभा देखने का सुयोग मिला, किंतु ब्रह्मपुत्र की यह दिव्य नैसर्गिक छवि आज भी अतुलनीय लगती है।)

नेतराम की तरह और भी कई महाजन थे जो असम-बंगाल के प्राय: हर छोटे-बड़े गांव में कारोबार में लगे थे। व्यापार की इच्छा से आये हुए नये लोगों को आर्थिक सहायता देते। यही नही, उन्हें सलाह भी देते कि कौन सा काम अधिक सुविधा-जनक या लाभप्रद रहेगा। इनमें प्रमुख थे, बंगाल के मुर्शिदाबाद से आये हुए ओसवाल महाजन। इन्हीं में से एक प्रसिद्ध फर्म थी, महासिंह मेघराज। इनकी कोठियां पूर्वी असम के प्राय: हर शहर और कस्बे में थीं। कोई भी नवागंतुक जब तक अपनी व्यवस्था जमा नहीं लेता, इनके यहां ठहरता और इन्हीं के ढ़ाबे मे खाना खाता। यह एक आम बात थी। इसमें कोई संकोच नहीं माना जाता। इनकी कोठियां या ` ` 'बड़ गोला' कहलाते।
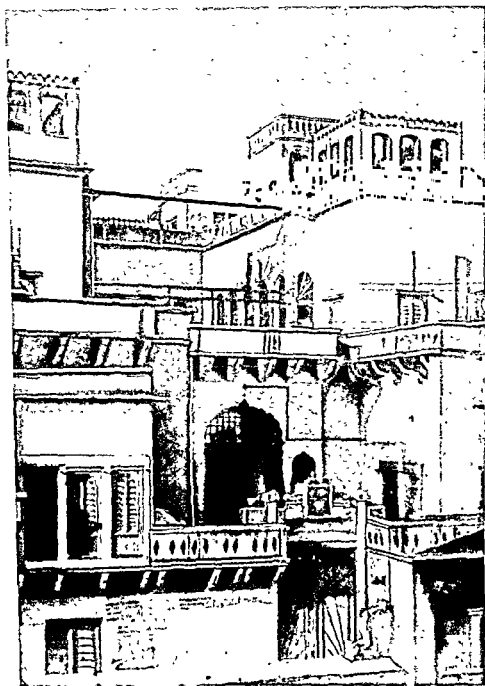
टाँटियों की हवेली, सरदारशहर
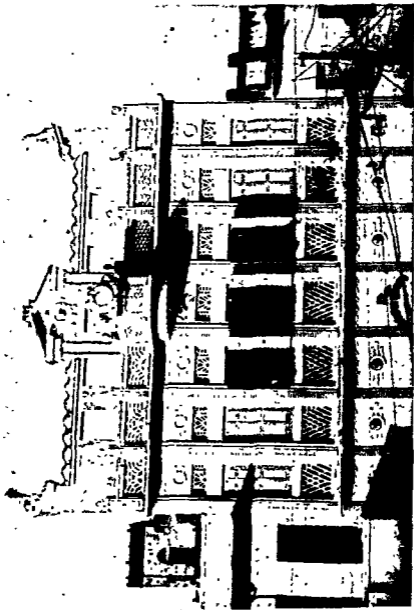
पब्लिक लाइब्रेरी सरदारशहर

गाँव के तालाब पर पानी के लिए जाती महिलाएँ ↑

गर्मी मे कुँओ से पानी भर कर घर-घर पहुँचाती पनिहारिने ↓

गणगोर : कुमारी कन्या माथे पर घट रखें पूजन को चलो
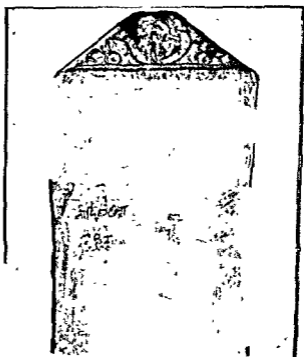
टाँटिया चित्रालय सरदारशहर

मोहिलो के शासन-काल का शिलालेख

राजस्थान की सवारी ↓

राजस्थान के नृत्य ↑
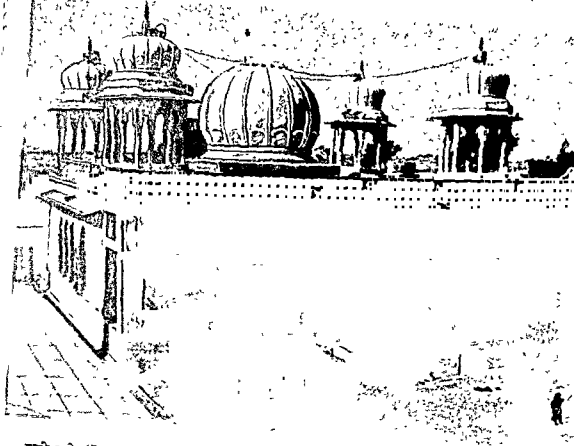
रानी सती मंदिर, झूंझनू ↓

मंदिर तोलियासर भैरव सरदारशहर ↑
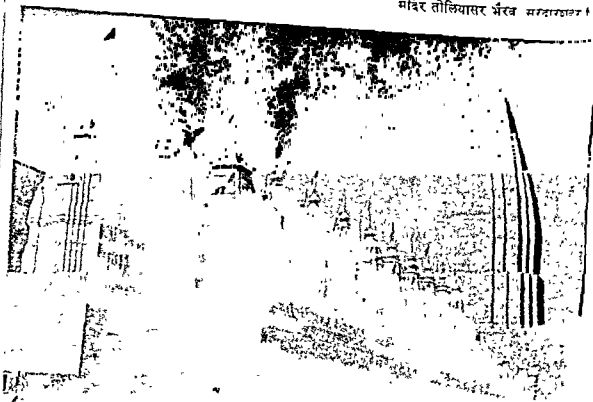
पुराना हावडापुल, नावों पर बना हुआ

"इसी रास्ते प्रतिदिन जे० टॉमस के कार्यालय नीलहट जाता था, आज उसके स्थान
पर नीलहट हाउस बन गया है किन्तु यह मिशन चर्च आज भी
उसकी याद दिला रहा है।" रामेश्वर टांटिया

स्टॉक एक्सचेंज, ७ लियन्स रेंज ↑

स्टॉक एक्सचेंज के भीतर का दृश्य ↓

कुछ वर्षों पहले इस फर्म के भागीदार श्री खड़गसिंह कोठारी से मेरी बात हुई। उनका कहना था कि सैकड़ों नये आये हुए भाइयों को फर्म से व्यापार के लिए रुपये उधार दिये गये परंतु कभी ऐसा मौका नहीं आया कि रकम डूबी हो। मालिक ज्यादातर मुर्शिदाबाद में रहते और दिसावरों का सब कारोबार मुनीम लोग सँभालते हैं। मैंने एक बार उनके तेजपुर के गोले में पुरानी बहियाँ देखी। शायद सन् १८३३-३५ की थीं। हेड मैनेजर यानी बड़े मुनीम का वेतन था, दस रुपया महीना। चावलों का भाव था, एक रुपये का सवा मन, दाल पैंतालीस सेर और सरसों का तेल था एक रुपये का आठ सेर। ये बहियाँ इनके यहाँ आज भी सुरक्षित हैं। मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि उन दिनों न तो आज की तरह उन्नत कृषि थी और न परिवहन के उत्तम साधन, सदियों तक देश में मुस्लिम प्रशासन की अव्यवस्था और बाद में अंग्रेजों द्वारा शोषण की सुदीर्घ अवधि। फिर भी, गल्ले या जिंसों की कीमतें इतनी कम कैसे थीं? जनसंख्या की वृद्धि कुछ अंशों में कारण बन सकती है, पर आज के भाव इसके अनुपात में बहुत ऊँचे हैं। निःसन्देह उन दिनों चीजों का मूल्य सर्वसाधारण की क्रयशक्ति के अंतर्गत था।

श्री कोठारी ने मुझे बताया कि उनके परदादा मुर्शिदाबाद से एक बड़ी नौका में ग्वालंदों (बंगला देश) होते हुए तीन महीने में यहाँ पहुँचते थे। रास्ते में जलदस्युओं का भय रहता, इसलिए साथ में दस-बारह शस्त्रधारी सिपाही और चार-पाँच मुनीम-गुमाश्ते रहते। राजस्थान के और भी व्यक्ति अच्छे साथ के कारण ऐसे यात्रीदल में शामिल हो जाते।

धुबड़ी में रहते समय मुझे सबसे ज्यादा उबा देने वाली बात थी स्थानीय बाजारों की गंदगी। यूँ मैं बिना कहे या पूछे कहीं बाहर नहीं निकलता। उम्र में छोटा था, हमेशा पिताजी या भाई जी किसी को साथ कर देते। एक दिन हमारा कयाल (तुलवदार) कासिम अली मुझे स्थानीय मछली बाजार में ले गया। चारों ओर घोंघें और मछलियाँ, छोटी-बड़ी टोकरियों में भरी थीं। कुछेक बिना पानी के पूँछ पटक-पटक दम तोड़ रही थीं। नजर घुमाई तो मांस की दूकानें। उतारे हुए पूरे के पूरे बकरे-भेड़ औंधे लटकाये हुए। कटी गर्दनें फर्श पर रखी थीं, खून से लथपथ। मैं काँप गया, सड़ांध और बदबू से परेशान हो उठा। पैर लड़खड़ाने लगे। जीवन में पहली बार ऐसा वीभत्स दृश्य देखा था। हमारे गाँव में कसाई बकरे काटते थे, परंतु एकांत स्थान पर। हिंदू मुहल्लों में मांस खुले तौर पर नहीं आता। पड़ोस

में रंगरेजों के घर थे। अपने पर्व-त्योहार पर वे मांस पकाते, मगर हमसे छुपाकर। इसलिए आँखों के सामने अँतड़ियों के ढेर, कटे सिर और मांस के लोथड़ों का दिखायी पड़ना मेरे संस्कारों ने अंगीकार नहीं किया। पाँच-सात रात मुझे नींद में कटे भेड़-बकरे दिखायी देते रहे। पिताजी को जब इस बात का पता चला तो उन्होंने कासिम को बहुत डाँटा कि ऐसी जगह उसे क्यों ले गया।

लगभग दो महीने धुबड़ी में रहा, पर मेरा मन नहीं लगा। कभी-कभी अकेले में रोने लग जाता। गाँव के लोग, भाई-बहन, मित्र, पत्नी सभी की याद ताजा हो जाती। सावन का महीना था, देश में बहनें वृक्षों की डालों में झूले डाल कर हीड (झूल) रही होंगी। मित्र बरसात के पानी में नहा रहे होंगे, टीलों पर खेल-कूद रहे होंगे। मन होता उड़ कर वहाँ पहुँचूँ। गुल्ली-डंडा लिये अथवा हरदड़ा और कबड्डी के लिए वे मेरी राह देखते होंगे।

बरसात तो धुबड़ी में भी थी। राजस्थान में वर्षा कम होती है, इसलिए सुहावनी लगती है, जबकि यहाँ अत्यधिक होने के कारण डरावनी। यहाँ तो पानी बरसता है, पीट-पीट कर थमता ही नहीं। चारों तरफ कीचड़ और पानी-ही-पानी। इस कस्बे में तो इतना चढ़ जाता कि लोग बाजार-हाट भी नावों पर ही करते। जब पानी उतरता तो सब तरफ दल-दल, मच्छरों और साँपों की भरमार। ऐसे में भला बरसात का आनंद क्या लेता।

रात को सोते तो गद्दे पर एक बड़ी मसहरी तान दी जाती। पूरी कनात-सी लगती। इसके भीतर पाँच-छह जने सो जाते। बाहर मच्छर शोर मचाते, भीतर लोगों की नाक बजती। कभी हँसी आती तो कभी गुस्सा। मसहरी के चारों तरफ जुगनुओं की टोली देखते-देखते नींद को बुलाने की कोशिश करता।

मेरे मन का भारीपन व्यक्त न हो, इसकी पूरी सावधानी रखता। सोचता कि बड़ा हो रहा हूँ, मेरी भी कुछ जिम्मेदारी है। मुझे काम-काज में हाथ बँटाना चाहिए, इसीलिए तो पिताजी और भाईजी साथ लाये हैं।

पिताजी की अनुभवी आँखों से मेरा अंतर्द्वंद्व छिपा न रहा। एक दिन पूछा, "कैसी लग रही है यह जगह?" ··· "जी, ठीक है"····मेरा संक्षिप्त-सा उत्तर था। विषय बदलते हुए उन्होंने कहा····"काम तो कुछ-कुछ सीख रहे हो, यह अच्छी बात है।"

वे एकटक मेरी ओर देख रहे थे, उनकी आँखों में प्यार भरा था। मेरा मन भर आया। पुचकारते हुए वे कहने लगे, "देस जाओगे, जाना चाहते हो ?" मैं आँखें नीचे किए था। रुलाई आ गई, अपनी दुर्बलता पर ग्लानि-सी हुई। पिताजी ने पास खींच कर सिर पर हाथ फेरा।

पाँच-सात दिन बाद देश जाने वाले किसी परिचित के साथ उन्होंने मुझे सरदारशहर भेज दिया। ●

मत ना सिधारो पूरब री चाकरी जी

परदेस से लौटने वाला पत्नी और भाई बहिनों के लिए कुछ सौगात लाता है। घरवाले भी इसकी आशा लगाये रहते हैं। परन्तु जब दो-तीन महीने बाद सरदारशहर पहुँचा तो साथ में टीन की एक छोटी-सी संदूक और दरी के बिस्तर के सिवाय कुछ भी नही था। पत्नी अभी बालिका ही थी, परंतु हमारी आर्थिक स्थिति को समझती थी। उसने कोई शिकवा-शिकायत नही की। दादी जी और माता जी ने यह महसूस किया कि मैं कुछ उदास और दुबला हो गया हूँ।

उस समय असम मुझे जरा भी अच्छा नही लगा। बाद में सैकड़ों बार विभिन्न कार्यों से वहाँ गया—अपने चाय बगीचों और कोयले की खानों की सँभाल के लिए या सार्वजनिक उत्सवों सम्मेलनों के काम से। भारतीय संसद् के प्रतिनिधि- मंडल के सदस्य के रूप में सुदूर अरुणाचल (नेफा) के बोमडीला तक की यात्रा कर चुका हूँ। काजीरंगा के प्रसिद्ध राष्ट्रीय वन में भी दो-तीन बार हो आया। वहाँ जंगली हाथियों, खूँखार शेरों और गैंडो को स्वच्छंद विचरते देखा। कभी-कभी तो मुझे ऐसा लगता कि असम मुझे बुला रहा है। ऋषि वंकिम की 'शस्यश्यामलां मातरम्' यही तो है।

असम सचमुच असम है। प्राकृतिक छटा यहाँ के समान अन्यत्र मिलती नही। वन-प्रांतर सम्पदाओं से भरे पड़े हैं। धरती अपनी गोद से वन बिखेरती है। गारो खसिया और जयन्तिया की पहाड़ियाँ बंगाल की खाड़ी से आनेवाली नम हवाओं को रोक कर मानो कहती हैं—'ये बादल लेकर दूर पार मत जाओ, तुम यहीं बरस इस धरती को सरसाओ' और बादल सचमुच रुक कर असम की धरती को सरसा देते हैं। तभी यहाँ के अनन्नास, संतरे और मधु में अनुपम माधुर्य है। अपनी मातृभूमि को असमिया 'अहम' कहते है। चाहे किसी भी ऐतिहासिक अर्थ के साथ यह शब्द संबंधित हो, पर यह मानना पड़ेगा कि इस धरती की कामिनियों की शालीनता और सौंदर्य के सन्दर्भ में 'अहम' का भाव सार्थक ही कहा जायगा।

शायद इसीलिए असम को 'कामरूप' भी कहा जाता है। धनुर्धर अर्जुन का गांडीव धरा रह गया यही चित्रांगदा के प्रेम मे। यही तो रूपसी उर्वशी हुई थी। कामरूप की रानी मृणावती ने गोरखनाथ के गुरु परम योगी

मछिन्दरनाथ को अपने रूप जाल में ऐसा लपेटा कि उसके बाहुपाश में गुरुवर ज्ञान-ध्यान, जप-तप सभी कुछ भूल बैठे। कई बार 'जाग मछिन्दर गोरख आया' कह कर बड़ी मुश्किल से शिष्य ने गुरु को प्रेमभाव से मुक्त किया। कोई आश्चर्य नहीं कि राजस्थान के अभाव-अकालों से त्रस्त युवक इस प्रदेश में आकर यहाँ की उर्वरा धरती और चपल कामिनियों के आकर्षण में अपने परिवार और पत्नी तक को भूल बैठते। प्रसिद्ध था कि कामरूप की स्त्रियाँ 'कामण' जानती हैं, वे पुरुष को दिन भेड़ और रात में आदमी बना कर रखती हैं। उन दिनों मेरा अविकसित मस्तिष्क इसके गूढ अर्थ नहीं समझ पाया। बाद में राज खुला कि मर्द दिन भर भेड की तरह स्त्री के इशारे पर चुपचाप बैठा रहता और रात में कैसे मर्द बन जाता।

आज यह भी सोचता हूँ कि उस समय इस सुदूर पूर्वांचल में आत्मीय स्वजनों को छोड़कर लोग अनेक कष्टों के बावजूद क्यों आते थे? क्यों यहाँ के दलदल, मच्छर, साँपों और वन्य पशुओं से त्रस्त रहते हुए भी दस-दस, बारह-बारह वर्ष तक जम कर रहते। कस्बे और गाँव भी आज की तरह विकसित नहीं थे। मलेरिया, कालाज्वर और पेचिस का प्रकोप आये दिन की बात थी। शायद महत्वाकांक्षा और आवश्यकता उन्हें इतनी लम्बी अवधि की मुसाफिरी के लिए बाध्य करती, दस-पन्द्रह वर्ष के बाद चार-छह माह के लिये अपने गाँव में लौट आते और फिर इस बीहड़ यात्रा पर चल देते। साथ में रहता लोटा, बिस्तर और हाथ में लाठी।

अपने उन पूर्वजों की कष्टभरी यात्रा और संघर्षों के बारे में जब सोचता हूँ तो श्रद्धा से नतमस्तक हो जाता हूँ क्योंकि वे ही वर्तमान समृद्ध और उन्नत समाज की नींव के पत्थर थे।

राजस्थान वापस आकर अपने घर की स्थिति देखता तो मन में एक कसक-सी उठती। उम्र कम होने पर भी मुझे यह तो मालूम था कि निर्वाह के लिये व्यवस्था करनी जरूरी है। आय का साधन नगण्य था। अतएव कर्ज और खर्च के दोनों पाटों के बीच परिवार पड़ गया था। यह महसूस करता कि मुझे भी घर का बोझा हल्का करने में हाथ बँटाना चाहिए।

हमारे पड़ोस में ओसवाल महाजनों के दो-तीन परिवार थे। उनसे हमारा अच्छा मेल था। असम और कलकत्ता में उनका व्यापार था। वे राजस्थान लौटते तो महिलाओं और बच्चों के लिए कई प्रकार के बेहतरीन कपड़े, गहनें और सुगन्धित द्रव्य लाते, घर वाले इन चीजों की बड़ाई करते

रहते। मैं मन-ही-मन दुखी हो जाता। सोचता, परदेश तो मैं भी गया परंतु छोटे बहन-भाइयों के लिए सौगात लाने की प्रबल इच्छा पूरी न कर सका। शायद माताजी, नानीजी और दादीजी भी सोचती होंगी कि उनके लिए भी कुछ लाऊँगा। कुछ भी न हो पाया। उलटे, सौ-पचास रुपये जाने-आने में खर्च हो गये।

उन्हीं दिनों एक बार दादाजी बीकानेर जाते हुए रास्ते के एक कस्बे में ठहरे। एक निकट संबंधी बीमार थे, उनसे मिलने गये। उन्होंने समझा कि कुछ माँगने आये है। उन्होंने कहा—आपको इस समय हम तो कर्ज नहीं दे सकेंगे वैसे भी बिना आपस मे सलाह किये हम संबंधियों को उधार नहीं देते। दादीजी बहुत ही मितभासी, स्वाभिमानी और धर्मपरायण थे। यह बात सुनकर वे बहुत दुखी हुए। उन्होंने कहा कि "साहजी, मैं तो आपकी तबीयत का हाल पूछने आया था। कर्ज लेने का तो मेरे मन में कोई विचार ही नहीं था।" लौटकर दादीजी और पिताजी को उन्होंने जब यह बतायी तो उन सबकी आँखें गीली हो गयी थीं। वहाँ जाने का पश्चाताप उन्हें बहुत दिनों तक रहा।

इस बीच मैने कलकत्ते के कई फर्मों में नौकरी के लिए आवेदन-पत्र भेजे परंतु किसी का भी संतोषजनक उत्तर नहीं आया। पद्रह-सोलह वर्ष के मैट्रिक पास लड़के को काम देने की गरज किसे पड़ी थी?

मेरे श्वसुर हरचंदराय जी सराफ का कलकत्ते में अच्छा कारोबार था। मेरी पत्नी उनकी इकलौती पुत्री थी। हमारे घर की स्थिति का उन्हें पता था। वे हम लोगों के लिए कुछ करना चाहते थे परंतु उनका सम्मिलित परिवार था, इसलिए संयोग नहीं बैठ रहा था। एक दिन उनका पत्र आया कि कलकत्ते चले आओ। पत्र पाकर मैं उलझन में पड़ गया। दादीजी और माताजी पहली यात्रा की मेरी इतनी जल्दी उदासी और निराशा से परिचित थी, मुझे अनमना भी देखतीं। इसलिए इतनी जल्दी परदेश भेजना नही चाहती थीं। पत्नी की सलाह का तो सवाल ही उस समय नहीं था। अपनी पहली यात्रा की असफलता से हताश-सा था। किन्तु मन को कड़ा कर कलकत्ते के लिए रवाना हो गया।

ग्यारह वर्ष पहले चार साल की उम्र में एक बार कलकत्ता आ चुका था। उस वक्त की धुँधली-सी याद थी। समझ आने पर यहाँ आने का पहला मौका था। हवड़ा स्टेशन पर उतरा। बड़े-बड़े प्लेटफार्म और भीड़ देखकर

भौंचक रह गया। हमारे गाँव में तो बड़े-से-बड़े मेले में भी इतनी बड़ी भीड़ नहीं होती। लाल कमीजें पहने कुलियों की जमात और नाना प्रकार की वेपभूषा वाले मुसाफिरों का शोर। स्टेशन पर मुझे लेने के लिए ममेरे भाई दौलतराम जी आये। हम दोनों एक रिक्शे पर सवार हुए। रिक्शा चला तो मुझे डर लगा कि कहीं उलट न जाये। पहली बार देखा कि घोडे या ऊँट की तरह इंसान बहुत से समान के साथ दो आदमियों को लादे खुद गाड़ी में जुता है। मन में ग्लानि का भाव आया। रिक्शा पुल की ओर बढ़ा। सामने गंगा बह रही थीं।

पुल भी अपने ही ढंग का था, लोहे की नावों पर बना हुआ। बड़े-बड़े जहाज जब आ जाते तो बीच से नावें हटा ली जाती ताकि वे दूसरी ओर निकल जायें। पुल पर से हरोसन रोड होते हुए हम मालपाड़ा आये। रास्ते में जिधर नजर जाती लोगों का हुजूम उमड़ता दिखता। ऊँचे मकान, दूकान, दौड़ती मोटरें, बग्घियाँ-सब कुछ देखकर लगा कि किसी जादुई नगरी में आ पहुँचा हूँ।

बहुत दिनों बाद मैंने फ्रांसीसी उपन्यासकार अलेक्जेन्डर ड्युमा की 'थ्री मस्केटियर्स' पढ़ी। उसमे आर्तेजन के प्रथमबार अपने गाँव छोड़ते समय की बात पढ़कर मुझे भी कलकत्ते की अपनी इस यात्रा की याद आ गयी। आर्तेजन के पिता ने अपने बेटे को बिदा करते हुए कहा था, 'बेटा, मेरे पास तुम्हें देने के लिए सिवाय इस पुश्तैनी तलवार और मेरे मित्र ट्रेभले के नाम लिखे गये परिचय पत्र के और कुछ नहीं है। मगर, मुझे भरोसा है कि पेरिस जाकर तुम अपने खानदान का नाम रोशन करोगे', कुछ ऐसे ही भावपूर्ण वाक्य दादाजी ने गाँव से विदा होते समय मुझसे कहे थे। उनका आशीर्वाद लेकर मैं पूरे विश्वास के साथ उस छोटी अवस्था में, जो आमतौर से खेलने, कूदने और पढ़ने की मानी जाती है, कलकत्ता जैसी महानगरी मे रोजगार के लिए आया।

कुछ ही पहले पिताजी और भाईजी भी असम से यहाँ आ गए थे, क्योंकि वहाँ हमारा काम जम नहीं पाया। उन्होंने आरमेनियन स्ट्रीट में एक जगह किराए पर ले ली। एक कमरे के आधे हिस्से का किराया था पच्चीस रुपया महीना। छोटे रूप में आढतदारी का काम शुरू कर दिया। मैं भी वहीं रहने लगा। कुछ दिनों बाद दादाजी की अस्वस्थता का समाचार पाकर, पिताजी को गाँव वापस जाना पड़ा। हम दोनों भाई वहीं रह गए। पूँजी के अभाव में व्यापार बहुत कम कर पाते, अतएव आय भी कम थी।

उन दिनों बंगाल-असम में व्यवसाय, व्यापार अथवा नौकरी पेशे में लगे अधिकांश मध्यम श्रेणी के राजस्थानियों के स्त्री-बच्चे साथ नहीं, बल्कि अपने-अपने गाँवों में रहते थे। मुनीम गुमाश्ते जहाँ काम करते उन्हीं गद्दियों में रहते या कई जने मिलकर कोठरियाँ किराए पर लेकर गुजारा करते। ढाबे में भोजन करते और रात को निश्चित स्थान पर सो जाते। आज की अपेक्षा जीवन कष्टमय जरूर था। पर अन्य कोई सुविधाजनक विकल्प नहीं था। हम भी रात में अपनी गद्दी में सोते। बहुत तड़के उठकर स्नान कर लेते। वहीं ऊपर ढाबे में भोजन करते। खर्च था, दस रुपया मासिक। आज की सी मँहगाई थी नहीं। इसलिए इतने खर्च में शुद्ध घी से बना भोजन दोनों समय पेट भर मिल जाता था। महीने में दो बार खीर-पूरी या हलुआ भी बनता जो उन्हीं दस रुपयों मे शामिल था। ढाबे के नौकर गद्दी की झाड़ू-बुहारी तथा पानी पिलाने का काम कर देते। जाड़ों में गरम पानी की व्यवस्था भी वहीं हो जाती।

कलकत्ते का बड़ा-बाजार अंचल सदा जन-संकुल रहा है। ऊँची ऊँची विशाल अट्टालिकाएँ बनती जा रही हैं, आज भी यही क्रम है। एक-एक मकान क्या है गाँव के गाँव समा जायें। उस समय की तुलना में आज के मकान कुछ सुविधापूर्ण अवश्य बने हैं पर इस अंचल के अधिकांश मकान उसी जमाने के बने हुए हैं। उनकी व्यवस्था भी पुराने ढर्रे की है। बड़े बाजार मे न तब आदमी इंसानकी तरह जिंदगी बसर करता और न आज ही करता है। अधिकांशतः एक छोटी सी कोठरी में पूरा परिवार गुजर करता। उसी में रहना, रसोई पकाना और रात को एक दूसरे पर गिर-पड़ कर सो जाना। अगर पुत्र का विवाह हो जाता तो कमरे में पर्दा डालकर एक तरफ माँ बाप बच्चों को लेकर सोते, दूसरी तरफ पुत्र और उसकी पत्नी। इसी तरह गद्दियों में जहाँ केवल चार-पाँच व्यक्तियो के लिए जगह होती, वहाँ रहते आठ-दस। कभी-कभी आए-गए इससे भी ज्यादा हो जाते। भीड़ का यह सिलसिला बराबर चलता रहता। इस वजह से सुबह शौच के लिए पाखानों के सामने लंबी कतारें लगतीं। खड़े-खड़े गंदगी और बदबू से सिर भन्ना उठता। एक ओर संडास की दुर्गन्ध ऊपर से बीड़ी पीनेवालों का धुआँ उगलते रहना, खाँसी और खँखार का ताँता। जी घबरा उठाता, मगर दूसरा उपाय भी न था। मैं सोचता, यह कैसी जिंदगी है! हमारे गाँव मे गरीबी तो है मगर जीते हैं इंसान की तरह। ये सब भी तो वहीं से आए हैं फिर शुचिता के इनके संस्कार कहाँ चले गए।

सन् १९६९ में मड़हौरा (बिहार) में अपनी चीनी मिल देखने गया। पहले यह अंग्रेजों की थी। वहाँ उस जमाने के बने आफिसरों के बँगले देखे। प्रत्येक शयन के साथ दो-दो बड़े बाथरूम। पूछने पर पता चला, पति पत्नी की सुविधा के लिए इन्हें अलग-अलग बनवाया गया था। याद आ गयी, सन् १९२७-२८ में वड़ा बाजार मे बिताए गए अपने जीवन की बातें। बाथ-रूम की तो बात ही क्या, क्यू लगा कर निबटना और छोटी-सी बाल्टी लेकर अपने ऊपर उड़ेल लेना पर्याप्त था।

उन दिनों हलवाइयों के यहाँ गरम दूध तीन-चार आने सेर मिलता था। हम दोनों भाई एक-एक पाव दूध लेते। सुबह दस बजे भोजन कर लेते। दिन मे सामने की दुकान से दो आने का जलपान मँगा लेते। फल और सूखे मेवे आज के अनुपात में बहुत सस्ते थे, परंतु हमने शायद ही इनका उपयोग किया हो। आमतौर पर फल रईस और संपन्न व्यक्ति ही खाया करते, जन-साधारण के लिए तो ये दुर्लभ थे।

शुरुआत के दिन तो यों ही गुजरते गए। किसी तरह खींचतान कर गुजारा करते, मगर दो-तीन महीने में हमने यह महसूस किया कि आय बढ़ाए बिना काम नहीं चलेगा। समस्या थी कि इतनी थोड़ी सी आय से कलकत्ते का और गाँव का खर्च किस तरह चलायें और कर्ज कैसे उतारें। व्यापार में तत्काल आमदनी बढ़ाने का साधन पूँजी होती है। हमारे पास इसका अभाव था। इसलिए तय हुआ कि भाईजी गद्दी का काम सम्हालें और मैं कहीं नौकरी में लग जाऊँ।

उन दिनों नौकरी कठिनाई से मिलती थी, आज भी। योग्यता, प्रतिभा और अनुभव के आधार पर प्रार्थी की उपयोगिता का मूल्यांकन नहीं होता है। इसके लिए आवश्यकता है परिचय या सिफारिश की। गाँव में रहते मैंने काफी आवेदन-पत्र भेजे किंतु कोई फल नहीं निकला, अतएव निराश होकर कभी-कभी सोचता कि मुझ जैसे अल्प-शिक्षित अनुभव-हीन और अपरिचित को कौन नौकरी देगा? किंतु दूसरे ही क्षण अंदर से मानों कोई कहता, हिम्मत मत हारो, परमात्मा मदद करेगा।

मैं कोशिश में लगा रहा। मेरा मित्र दीपचंद चाण्डक कलकत्ते में था। हम दोनों साथ पढ़े, साथ खेले थे। स्वभाव और रुचि में भी साम्य था। वह अपने किसी संबंधी की सिफारिश से बिड़लाजी की केशोराम काटन मिल में पचहत्तर रुपये मासिक पर काम कर रहा था। एक दिन मुझे देवीप्रसादजी

खेतान के पास ले गया। वे विड़ला वंधुओं की उक्त मिल का संचालन कर रहे थे। खेतान जी का परिवार मारवाड़ी समाज में सुसंस्कृत और शिक्षित माना जाता था। उनका प्रभाव और सम्मान भी बहुत था। उन्हें उस सस्ती के जमाने मे पाँच हजार रुपये मासिक वेतन मिलता था जो आज के करीब पचास हजार के बराबर है। इतनी ऊँची तनख्वाह लाट साहब के अलावा और किसी को नहीं मिलती थी।

मैं कुछ सहमा-सा श्री खेतान के चेंबर में गया। उनका व्यक्तित्व और वातावरण मुझ जैसों को अभिभूत करने के लिए काफी था। 'तुम क्या करना चाहोगे ?' उनकी आवाज में सरलता थी। मुझे हिम्मत बँधी, मैंने कहा, "जिस प्रकार का काम देंगे सीखने की कोशिश करूंगा, आपको मेरे परिश्रम से संतोष होगा।" मैंने उन्हें यह भी बता दिया कि राजस्थान से पहले-पहल आया हूँ और कभी किसी जगह पर काम नहीं किया है।

ऐसा लगा कि मेरी स्पष्टवादिता उन्हें अच्छी लगी। उन्होने प्रारंभ में पचास रुपये मासिक वेतन देने को कहा।

गद्दी वापस आकर भाई जी से बात की, पर उन्होंने अन्तिम निर्णय मेरे ऊपर छोड़ दिया। सोचने लगा, नौकरी तो मिल रही है, बड़ी कम्पनी है, बड़े लोग है, सब कुछ ठीक है, मगर इन पचास रुपयों में कितना तो स्वयं खर्च कर पाऊंगा और क्या घर वालों को भेज सकूँगा। सोचा, कोई स्वतन्त्र धन्धा क्यों न करूँ। पूंजी न होने पर दलाली करके भी लोग यहाँ आमदनी कर लेते हैं, नौकरी अच्छी मिली तो कर लूंगा।

हमारे गाँव के श्री मोतीलाल नाहटा एक ग्रीक फर्म में दलाल थे। उनकी आय थी, हजार-बारह सौ रुपये मासिक। इसी से अनुप्रेरित होकर बिना वेतन के मै उनके साथ पाट की दलाली का काम सीखने लगा। उन दिनों यूरोपियन फर्म में काम करना या उससे सबंधित रहना एक इज्जत की बात समझी जाती थी। दो महीने बाद जब नाहटा जी से वेतन के लिए कहा तो मुझे कार्यमुक्त कर दिया गया।

असमजस में पड़ गया। अब तक जो भी कदम उठाये, सब असफल रहे। मन को धीरज देता 'असफलता ही सफलता की कुंजी है।' सोलह वर्ष की अवस्था, पढाई साधारण सी और न सिफारिश का जोर। इधर अभाव और आवश्यकताएँ। हाथ धरे बैठना सुहाता न था। दो महीने तक फिनिक्स नाम की एक ब्रिटिश इंश्योरेंस कंपनी के कागजात के लिए बड़ा बाजार

के आफिसों और गद्दियों के चक्कर लगाता रहा। मगर नये आदमी से बीमा कराता कौन ? इस अर्से में कमीशन के बने सत्तर रुपये। कुछ उदार सज्जनों ने दूसरे एजेंटों से थोड़ा-सा कमीशन दिलाना चाहा, किंतु बिना कमायी का रुपया लेना मुझे स्वीकार नही था। हार कर यह काम भी छोड़ देना पड़ा।

मैं सुबह-शाम ईडन-गार्डन घूमने जाया करता। अपनी उम्र के स्वस्थ किशोरों को फुटबाल, वालीबाल खेलते, उछलते-कूदते देखकर सोचता, कितने सुखी हैं ये, कितने भाग्यशाली ? मैं क्यों नहीं हो पाता ? दादाजी की बातें याद कर मन को समझाता कि भगवान् परीक्षा लेता है। जिसे पहले दुख देता है, बाद में सुख भी देता है। कभी-कभी नजर गड़ाये यह देखता चलता कि कहीं कोई कीमती हीरा मिल जाये तो उसे बेचकर देस के खर्च और कर्ज की समस्या से मुक्त हुआ जाय।

आज कल के किशोरों को देखता हूँ तो लगता है, उनकी मौज-शौक का अंत नहीं। न तो संयम और न तो परिवार के लिए कर्तव्य-बोध। ऊल-जलूल खर्च, लिखाई-पढ़ाई के प्रति उदासीनता, सिनेमा, क्लब या कैबरों के प्रति जबरदस्त रुझान—आज की पीढी इसी को सर्वस्व समझे बैठी हैं। पहले न तो पढ़ने-पढ़ाने के इतने साधन थे और न खेल-कूद के। परिवार के कठोर अनुशासन में दायित्व का बोध स्वतः होता। किसी-न-किसी प्रकार आय का साधन जुटाया जाय, चाहे पढ़-लिख कर या नौकरी-व्यापार करके। बाद में मैंने चार्ल्स डिकेंस की जीवनी पढ़ी। ऐसा लगा कि अपनी ही जीवनी पढ़ रहा हूँ। एक बालक पर गरीबी और संघर्ष जनित प्रतिक्रियाओं का इतना स्वाभाविक वर्णन डिकेंस की कलम से ही संभव हो सका। सयोग से जिस प्रकार उसे अपनी बूढ़ी दादी का सहारा मिला मुझे भी जे० टामस के श्री मानव मित्र का।

बीमा का काम छोड़ने के बाद फिर से पाट की दलाली मे घूमने लगा। मन में विश्वास था और हिम्मत भी। उन दिनों अंग्रेजों से आमतौर पर हिन्दुस्तानी मिलने में झिझकते। मगर मै बड़ी-बड़ी फर्मों के साहबों के पास चला जाता। उनमे से किसी-किसी ने दिलचस्पी ली और कुछ सौदा भी दिया। किन्तु भला बेचवाल किसी नये आदमी पर भरोसा क्यों करते ? दूसरे-तीसरे दिन जब पता चला कि मेरा बताया हुआ काम अन्य दलालों की मार्फत हो गया है तो मन में आक्रोश होता और निराशा भी। चार महीनों मे मेरी कुल दलाली हुई करीब ३०० रुपये।

इस अवधि की स्थिति बहुत ही अखरी। बारंबार प्रयास करता, मगर सफलता तो दूर, जरा भी आगे बढ़ नहीं पा रहा था। हिम्मत थी और चेष्टा भी, पर लगता जैसे ऊँची-ऊँची लहरें बलात् वापस किनारे ला पटकती हैं। मै उदास-सा रहने लगा। गाँव से पिताजी के पत्र आते। घर की कठिनाइयों का जिक्र रहता। यहाँ आढ़तदारी का काम भी इतना भर था कि हम किसी प्रकार गुजारा करते।

एक दिन मेरे श्वशुर मुझे सूरजमल फर्म के वरिष्ठ भागीदार सेठ वंशीधर जालान के पास ले गये। उनसे किसी जूट के फर्म में दलाली का काम दिलाने की सिफारिश की। उन्होंने मुझसे पाट के भाव और कहाँ काम किया है, इसके बारे में संक्षेप में कुछ बातें कीं। जब फिर मिलने को कहा तब मेरे मन में आशा बँधी। कलकत्ते के चोटी के व्यापारी और उद्योगपतियों में उनकी गिनती थी। बचपन में मेरी ही तरह बहुत ही साधारण और कष्टपूर्ण स्थिति में थे। शायद इसीलिये उन्होंने दिलचस्पी ली। दो तीन बार उनसे मिला। प्रणाम कर गद्दी में एक ओर बैठ जाता। वे एक बार मेरी ओर देखते फिर आने वाले व्यापारियों से बातें करने लग जाते। चुपचाप सुनता रहता। घण्टे-आध घण्टे बाद मुझ से कह देते फिर आना, काम बतायेंगे। मैं ऊबा नहीं, उनके पास जाता रहा। कभी-कभी बीच-बीच में पाट के भावों की जानकारी मुझसे लेते। मै आश्चर्य करता कि दलालों और व्यापारियों को स्वयं भाव बताने वाले, इतने बडे व्यापारी मुझसे पूछते हैं। मन को समझाता, शायद वे जानना चाहते है कि काम में रुचि रखता हूँ या नहीं और मुझे कितनी जानकारी है।

एक दिन उन्होंने मुझसे पाट की किस्मों के बारे में पूछा। ग्रीक फर्म में की गयी मेरी मेहनत काम आयी। ऐसा लगा, मेरे उत्तर से उन्हें संतोष हुआ क्योंकि मेरे श्वशुर से उन्होंने कहा कि लड़का होनहार मालूम देता है, तरक्की कर जायगा। जूट की एक बहुत बड़ी कंपनी जे० टामस से उनका संबंध था। उन्होंने मुझे फर्म के बेनियन श्री मानव मित्र के पास दो-सौ रुपये मासिक वेतन पर रखवा दिया।

आज न मेरे श्वशुर हैं, न सेठ वंशीधर जालान और न मानव मित्र महोदय। परंतु इनके किये गये उपकार ने निःसंदेह मेरे जीवन को एक नयी दिशा दी। उसे कैसे भुला सकता हूँ? उपकारी चला जाता है पर उपकार रह जाता है। आज की पीढ़ी में ऐसे हमदर्द कहाँ मिलेंगे? इन्हीं की याद मुझे सदैव प्रेरित करती है कि किसी काम की खोज मे आये नवयुवक की

कुछ सहायता कर सकूं। मुझे अपनी वर्षों पहले की सूरत उस युवक में नजर आती है और तब मानों अंतर में कोई अदृश्य संकेत कह उठता है कि इसे काम दो। बहुतों को काम दिलाया। इनमें से कुछ तो अच्छे ओहदों पर पहुँच गये हैं।

उन दिनों एक मामूली पढ़े-लिखे सोलह सत्रह वर्ष के किशोर के लिए दो-सौ की नौकरी बहुत बड़ी बात थी। जब यह खबर हमारे गांव पहुँची तो घर वालों को बड़ी खुशी हुई। हनुमानजी का प्रसाद बाँटा गया। दादीजी ने कहा, "भगवान ने संकट के दिन काट दिये, अब आराम से रहेंगे।"

थोड़े दिनों बाद पत्नी देस से अपने पीहर (कलकत्ता) आ गयी। भाई दौलतरामजी सूतापट्टी में रहने लगे थे। हमारी गद्दी के पास ही यह जगह थी। उनके यहाँ एक कोठरी खाली थी। उन्होने यह हमें दे दी। हम वहीं आकर रहने लगे। चार-छः महीने तक उनके साथ ही भोजन किया। उनकी कपड़े की एक साधारण-सी दूकान थी। पर, मन बहुत उदार था। सूतापट्टी के जिस मकान में हम रहते थे, उसके मालिक बिलासरायजी चौधरी हमारे दूर के रिश्तेदार थे। उन्होने पुरानी फिटननुमा मोटर खरीदी। एक दिन मुझे भी उसमें बैठकर कालीघाट जाने का मौका मिला। अब तक इसकी सवारी की कल्पना ही करता था। इतने दिनों तक जिस चीज को अँगलियों से छू पाया, उसमें बैठकर जब चला तो गुदगुदी-सी मालूम हुई।

जे० टामस के काम में लग गया था। अंग्रेजी फर्म में काम करना इज्जत की बात थी। उनका जमाना था, पूरा रोबदाब भी। राजनीति से सरोकार नहीं था और न उस ओर मेरी रुचि पनप पायी थी। केवल इतना जानता था कार्यकुशल और ईमानदार व्यक्तियों की 'साहब' लोग बहुत कद्र करते हैं और उन्हें स्नेह पूर्वक आगे बढ़ने का मौका देते हैं।

कलकत्ते में आने के बाद इस समय तक मैं कमाई ही नहीं कर पाया किन्तु बाजार के भाव-माल की आमद-खपत, व्यापारियों की साख, उनके तौर-तरीके, इनका सूक्ष्म अध्ययन करने में प्रयत्नशील रहा। इससे भविष्य में लाभ पहुँचा। श्री मित्र के निर्देशानुसार दत्तचित्त होकर कार्य करता था। परिश्रम और समय को आड़े नहीं आने देता। सामने एक ही लक्ष्य था, काम करना है, जैसे भी हो। हमेशा इस बात ख्याल रखता कि मानव बाबू का दिया काम अधूरा न रहे। अगर उन्हे कुछ कहने का मौका मिला तो यह मेरे लिए अत्यन्त ग्लानि की बात होगी। वे बहुत ही उदार और भले थे। लगन

से मुझे काम सिखाते। कभी-कदाच गलती भी हो जाती तो नाराज न होते बल्कि धीरे से समझा देते। इस स्नेह पूर्ण व्यवहार से मेरा उत्साह और कर्त्तव्य बोध बढ़ जाता। उमंग में अपनी पिछली असफलताओं को भूलता नहीं, बल्कि उनके कारण अधिक सजग और सचेत रहता कि कहीं चूक न जाऊँ, जीवन में अवसर बार-बार नहीं आते। सवेरे से शाम हो जाती, रात दस बज जाते फिर भी सौदा पक्का करने के लिए दौड़ता रहता। उन दिनों न तो टेलीफोन की इतनी सुविधा थी और न मेरे पास कोई सवारी। चितपुर-काशीपुर की पाट की गोदामों से डलहौजी तक के कई चक्कर ट्राम-बस से रोज लगा लेता। थकान नहीं महसूस होती। मेरी भाग-दौड़ पर लोग मजाक करते, फब्तियाँ कसते, मगर इन सबका मुझ पर कोई असर नहीं होता।

बहते मनुष्य को प्रवाह दिखता नहीं, उसे केवल वेग का अनुभव होता है। किन्तु जब किसी जगह पैर टिकते हैं तो रुककर साँस लेता है, देखता है, कहाँ खड़ा है, प्रवाह कैसा है और किनारा किधर है। ठीक यही दशा मेरी थी। काम का सिलसिला ज्यों-ज्यों जमता गया अपने परिवेश को देखने समझने लगा। फुरसत के समय जूट एक्सचेंज में बैठकर समाचार-पत्र पढ़ता रहता, बाजार की घट बढ़ या व्यापार की स्थिति पर देश-विदेश की घटनाओं का प्रभाव तेजी से पड़ता है। अतएव खबरों से बेखबर रहना व्यापारी के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध होता है। इसे मैं व्यापार का गुर समझता हूँ।

उन दिनों कलकत्ते में हिन्दी के दैनिक निकलते थे—'भारतमित्र', 'विश्वमित्र' एवं 'लोकमान्य'। 'भारतमित्र' सबसे पुराना था। अब तो इसका और 'लोकमान्य' का प्रकाशन बन्द हो गया है। 'विश्वमित्र' में बाजार के भाव और थोड़ी बहुत व्यापारिक समीक्षाएँ कभी-कभी रहती थी। इन्हें गौर से पढ़ता और इसका ख्याल भी रखता कि समीक्षक का अनुमान सही उतरता है या मेरा निजी। अंग्रेजी पत्रों में 'स्टेट्समैन', 'इंग्लिश मैन' और 'अमृत बाजार पत्रिका' प्रमुख थे। अंग्रेजी का अभ्यास तब तक काम चलाऊ नहीं हो पाया, फिर भी 'स्टेट्समैन' अवश्य पढ़ता। इसमें विदेशी खबरें और व्यापारिक सूचनाएँ अपेक्षाकृत अधिक रहती। चूँकि पाट व्यवसाय से मेरा संबंध था और इसकी खपत विदेशों में विशेषतः ब्रिटेन व अमरीका में होती, अतएव इस अखबार का महत्व मेरे लिए अधिक रहता। धीरे-धीरे अंग्रेजी का अभ्यास चढ़ता गया।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज के प्रति उदासीनता या उपेक्षा अधिक काल के लिए सम्भव नही। सवेदनशील मानस का घटनाओं के घात-प्रतिघात से प्रभावित होना स्वाभाविक है। बड़ाबाजार में रहता था। पाट के अधिकांश दलाल और व्यापारी राजस्थानी थे और वहीं रहते थे। आपस में सामाजिक और कभी-कभी राजनीतिक गतिविधियों की चर्चाएँ होतीं। बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, पर्दा-प्रथा, अस्पृश्यता और गान्धीजी के आन्दोलनों पर पक्ष-विपक्ष में टीका-टिप्पणियां चलती। इन्ही लोगों के बीच रोज का उठना-बैठना, कभी-कभी तो मुझसे भी पूछ बैठते। मैं मुस्कुराकर चुप रह जाता। फिर भी, अकेले में इस पर विचार करता, स्वयं मे तर्क-वितर्क भी, मन को समझाता कि ये बातें बड़े और समर्थ लोगों की हैं, मुझे तो काम करना है। पहले घर की समस्या का समाधान कर लूँ, फिर समाज और तब देश की।

हाँ, इतना जरूर था कि राजस्थानी समाज मे प्रचलित रूढ़िवाद और आधुनिक शिक्षा का अभाव अखरता। कभी-कदाच भाई जी से प्रसगवश चर्चा करता किन्तु उनमें भी इनके प्रति दिलचस्पी नही पाता। शायद इसीलिए इस दिशा मे बढ़ने का साहस नहीं हुआ और मेरा संघर्ष अपनी आर्थिक अवस्था को सुधारने तक सीमित रहा।

जे० टामस में काम करते हुए एक वर्ष हो गया। एक दिन मानव बाबू ने मुझसे कहा, "तुम चाहो तो कुछ दिनों के लिए छुट्टी ले सकते हो।" काम से फुर्सत! इसकी तो कल्पना भी मैंने नही की थी और न मुझे इसकी आवश्यकता महसूस हुई। श्री मित्र ने समझाया कि रोजमर्रा के काम से कुछ समय के लिए अवकाश लेना तन और मन के लिए स्वास्थ्यकर है। उन्होंने मुझे पन्द्रह दिनों की छुट्टी दिला दी। शुरू में तो तय ही नहीं कर पाया कि क्या करूँगा, कैसे बिताऊँगा पूरा एक पखवारा। देस आने-जाने और रहने के लिए इतना अल्प समय यथेष्ट नहीं था। अतएव मै भाई दौलतराम जी के साथ जसीडीह चला गया। कलकत्ते से दो सौ मील दूर बिहार के सन्थाल परगना में स्वास्थ्य लाभ के लिए यह अच्छी जगह है। उन दिनों मारवाड़ी आरोग्य भवन बन चुका था, किंतु वह आज की तरह विस्तृत और सुसज्जित नहीं था। स्वास्थ्य लाभ के लिए यहाँ काफी लोग आया करते। खाद्य-पदार्थ इतने शुद्ध और सस्ते थे कि आनेवालों को अतिरिक्त खर्च नही करना पड़ता। भवन के फाटक पर ही एक रुपये का सोलह सेर दूध और एक आना सेर ताजी सब्जी मिल जाती थी। चार मील पर ही प्रसिद्ध तीर्थ वैद्यनाथ धाम

होने के कारण स्वास्थ्य लाभ के साथ पुण्यलाभ भी एक आकर्षण था। प्राकृतिक शोभा यहाँ मनोरम है। छोटी-छोटी पहाड़ियाँ, कन्दराएँ प्राचीन मन्दिर और सीधा सादा जीवन। शान्त परिवेश में आकर बड़ी राहत मिलती।

कुछ महीनों पहले कलकत्ते में साम्प्रदायिक दंगा हो चुका था। हरीसन रोड में दीना मियाँ की मस्जिद के सामने बाजे के प्रश्न को लेकर राजराजेश्वरी के जुलूस पर पथराव किया गया, कुछ हिन्दू घायल हुए। दो-तीन दिन बाद जकरिया स्ट्रीट के शिव मन्दिर को अपवित्र किये जाने पर धैर्य का बाँध टूट गया। हिन्दू-मुस्लिम विवाद का भीपण रूप उठ खड़ा हुआ। सूतापट्टी के जिस मकान में हम रहते थे, वह हिन्दू मुहल्ले मे होने के कारण सुरक्षित तो था। किन्तु इससे थोड़ी दूर आरमेनियन स्ट्रीट और लोअर चितपुर के चौराहे के आस-पास मुसलमानों की बहुतायत थी। छुरेबाजी, आगजनी लूट की वारदातें खुलकर होतीं। मैंने इस ढंग की घटनाएँ न कभी सुनी थी और न कभी देखीं। राजस्थान में हमारे गाँव में हिन्दू-मुस्लिम थे। साथ-साथ रहते पर्व त्योहार मनाते, आपस में मर्यादा रखते हुए भाई-चारे का सम्बन्ध था। वहाँ ऐसी स्थिति के बारे में सोचा नहीं जा सकता था। यहाँ पास-पड़ोस में आग की लपटें दीखतीं, धुएं के अम्बार के साथ-साथ चीख पुकार। मुस्लिम मुहल्लों में रहनेवाले हिन्दुओं के प्राण संकट में पड़ गये। ऐसे कठिन समय में घनश्यामदास जी बिड़ला दंगा पीड़ितों के लिए आगे बढ़े। जान की जोखिम उठाकर अपने कुछ कर्मठ साथियों के साथ दंगा क्षेत्रों में जाते और दंगाइयो से घिरे परिवारों को निकालते। दंगे के बाद कलकत्ते में जितने दिन रहा, ये बीभत्स दृश्य याद आते रहे। जसीडीह के बदले हुए वातावरण ने इन सब पर विस्मृति का एक आवरण-सा डाल दिया। जब यहाँ से लौटा तो निश्चित रूप से ताजगी और प्रसन्नता थी, तन और मन मे।

आढ़तदारी के व्यवसाय में लगन, मेहनत और पूँजी के समन्वय की आवश्यकता रहती है। हमारी आढ़त का काम चलता था पर आगे नही बढ़ पाता। मन में बात उठती, हमारी तरह और भी बहुत से लोग राजस्थान से आये, आढ़तदारी का काम किया। वे तरक्की कर गये, हम क्यों नहीं ? अनुशीलन और विश्लेपण का क्रम लगा रहता। रात को अक्सर भाई जी के साथ बातें होतीं। हम तरकीबें सोचते, कम पूँजी में रुपयो की लौट-फेरी किस तरह ज्यादा से ज्यादा की जाय। कोई सूरत नजर नही आती। हम नये थे।

और अनुभव भी कम। साख भी इतनी न जमी थी कि व्यापारी हम पर ज्यादा माल छोड़ दें। फलतः पूंजी का अभाव खटकता। लगी हुई पूंजी का एक अंश जहाँ कहीं रुकावट पाता, पहिये को जाम कर देता। सन् १९२८ तक हमारा आढ़त का कारोबार एक प्रकार से बन्द हो गया। जो थोड़ी पूंजी लगी थी देसावरों के आढ़तियों (व्यापारियों) में बाकी रह गयी।

घूम फिर कर फिर हमारे सामने परिस्थिति लगभग उसी विकट रूप में आ गयी जिसके कारण हम कलकत्ते आये थे। परिवार का खर्च और कर्ज तो मुँह बाये ही था। अन्तर केवल इतना ही था कि मैं नौकरी में लग गया। हमने परेशानी महसूस की पर हिम्मत नहीं हारी। व्यापार न सही हम दोनों नौकरी कर लेंगे। लिहाजा, भाई जी बिड़ला ब्रदर्स (जूट गनी ब्रोकर्स) में ढाई सौ रुपये मासिक पर नौकरी करने लगे।

आय का सिलसिला जमा। रोज-रोज की दिक्कत और परेशानियों से बचकर हम कुछ साँस ले सके। पाट की दलाली के काम में हम दोनों भाई लगे थे। प्रायः रोज अपने-अपने अनुभव बताते और विवेचना करते। इससे परोक्ष लाभ यह हुआ कि हमारा दृष्टिकोण व्यापारिक बना रहा, नौकरी तक सीमित नहीं।

थोड़े दिनों बाद, सरदारशहर से माता जी, पिताजी और छोटे भाई-बहन सभी कलकत्ता आ गये। उन दिनों कलकत्ते में आवास की आज जैसी दिक्कत नहीं थी। कमरे या फ्लैट आसानी से मिल जाते। हमने साठ रुपये मासिक किराये पर तीन कमरों का एक फ्लैट मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट मे ले लिया और वहीं रहने लगे।

माताजी को कलकत्ते का वातावरण अनुकूल नहीं लगा। सरदारशहर में अपने मकान में खुली जगह थी। सुबह-शाम रघुनाथजी के मन्दिर आते-जाते हुए नानीजी के यहाँ भी हो आतीं। यहाँ वह सब कहाँ? पर्दे की प्रथा कड़े रूप मे थी। प्रत्येक परिवार की चेष्टा रहती कि परम्पराओं का पालन हो। कुल की मर्यादा और प्रतिष्ठा का यह भी एक मापदण्ड था। हमलोग तो दिन भर घर के बाहर रहते, अतएव फ्लैट में बँधे जीवन की घुटन का अनुभव नहीं होता था। परन्तु स्त्रियों के लिए स्थिति सर्वथा विपरीत थी, बाहर जाएँ तो कहाँ? जान-पहचान और न आस-पास में मन्दिर देवालय या बाग-बगीचे। गाँव में वक्त जरूरत बाहर निकलना होता रहता था इसलिए तबीयत बहल जाती। वैसे तो मारवाड़ियों की एक बड़ी संख्या कलकत्ते में थी और हमारे गाँव के लोग भी थे। किंतु वे दूर और अलग मुहल्लों में रहते।

अपने पास यान-वाहन का साधन भी था नही, इसलिए आपस में मिलते-जुलते रहना आसान नही था।

इन सबके अलावा एक बड़ी कठिनाई यह भी थी कि माताजी को शुचिता का बड़ा ध्यान था। युगों से प्रचलित छुआछूत की मान्यताओं को वे निष्ठा से मानतीं। कई बार जब हम बाहर से आते और एक दूसरे की प्रायः झूठी शिकायत करते कि यह भंगी या धोरी से छू गया तो बहुत आरजू मिन्नत करने पर भी हमें बख्शा नहीं जाता और कड़ी सर्दी में नहाना पडता। यहाँ तो छोटा सा-फ्लैट था, उसी में शौच और स्नान की व्यवस्था, मेहतर सामने से गुजरता, माताजी उसके जाने के बाद कई बाल्टी पानी से बरामदा धोतीं। प्रवास में रहते हुए छुआछूत तथा ऐसी अन्य रूढ़ियों के प्रति हम पुरुषों की मान्यताएँ शिथिल हो गयी किन्तु माताजी के संस्कारों की जड़ बहुत मजबूत थी। वे अपने को बदल न सकीं। हम उन्हें इसके लिए बाध्य भी नहीं कर सकते थे। कभी-कभी तो वे कह देतीं कि यह भी कोई जगह है जहाँ मिट्टी के दाम लगते हैं। मेहतर कमरों के सामने से जाता रहता है? हम निरुत्तर रहते।

छोटे भाई-बहनों को भी बहुत प्रकार की असुविधाएँ थी। उन्हें भी फ्लैट में ही सीमित रहना पड़ता। गाँव में वे मुहल्ले के बच्चों के साथ खेलते-कूदते रहते, कभी-कभी अपने गुड्डे-गुड्डियों का ब्याह रचाते और कई दिनों तक जलसा मनाते। पर यहाँ बाहर निकलना सम्भव नहीं, मोटरों और घोड़ा-गाड़ियों का खतरा था, पड़ोसियों की सुविधा के ख्याल से घर में ज्यादा उछलकूद सम्भव नहीं। पढ़ाई भी महँगी। स्कूल जो भी थे हमारे मोहल्ले से दूर। उन दिनों बच्चों को लाने ले जाने वाली बसों की व्यवस्था हिन्दी स्कूलों में नहीं थी। चार महीने ऐसी हालत में गुजरे। आखिर माताजी और बच्चों को सरदार-शहर वापस भेज दिया गया।

अब हमें चोर बगान (मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट) के फ्लैट की जरूरत न रही। साठ रुपए हर महीने, केवल हम दोनों भाइयों के लिए देते रहना, फिजूलखर्ची थी। हम सुविधाजनक नया आवास ढूंढने लगे। थोड़े-दिनों बाद २६, ताराचन्द दत्त स्ट्रीट में दो कमरे तीस रुपये मासिक किराए पर ले लिए। मकान था, श्री वासुदेव घेलिया का। चाँदी के वायदे बाजार के अच्छे व्यवसायी थे। स्वभाव और व्यवहार मधुर। इस मकान में आने पर घेलिया परिवार तथा पास-पड़ोस से सम्पर्क बढ़ा। आज भी वह स्नेह उसी प्रकार अक्षुण्ण है।

हमारी आय इस समय तक पहले से बढ़ गयी थी। जे० टामस एण्ड कम्पनी से मुझे चार सौ रुपये मासिक मिलने लगे। भाई जी भी बिड़ला ब्रदर्स मे काम कर रहे थे। परन्तु मुझे मानों अन्दर से कोई बराबर कहता कि सफलता को बड़ा मान बैठना उतना ही खतरनाक है जितना कि असफलता को। लिहाजा, किसी भी सौदे में नाकामयाब न रहूँ, इसका पूरा ध्यान रखता। इस प्रकार मेरी कोशिशें बेकार नहीं जातीं। पिछले दो वर्षों की मेहनत से मानव बाबू काफी सन्तुष्ट थे। सारे दिन भाग-दौड़ करता रहता। अंग्रेजी समझने लग गया था पर सफाई से बोल नहीं पाता। आफिस के साहब मेरी हड़बड़ी, भाग-दौड़ और अटपटी अंग्रेजी के कारण हँस दिया करते। वे मुझे चार्ली कहने लगे। एक प्रकार से यह मेरा उपनाम बन गया। यह नाम उन्होंने क्यों मेरे लिए चुना इसे पहले नहीं समझ पाया। बाद में पता चला कि उन दिनों अंग्रेजी फिल्मों में चार्ली चेपलिन अपनी हरकतों की हड़बड़ी, परेशानी और अटपटी भाषा से दर्शकों को खूब हँसाता था। मेरा मजाक कुछ दूसरे लोग भी बनाया करते। पाट की किस्मों से अनभिज्ञ था, लोग मुझे 'सोल ब्रोकर' (थोक दलाल) कहते। कुछ झेंप सी जरूर महसूस करता मगर बाद में हँस देता। इस प्रकार के मजाक, ताने अथवा हँसी से मै विचलित नहीं होता।

जे० टामस जैसी बड़ी कम्पनी से सम्बन्धित होने के कारण एक-दो वर्षों में पाट बाजार के बहुत से प्रतिष्ठित व्यापारियों से जान-पहचान हो गयी। व्यक्तिगत स्नेह-सौहार्द भी पाने लगा। हम दोनों भाई फुर्सत के समय प्रायः अपनी वर्तमान स्थिति पर विचार करते। यद्यपि आय बढ़ गयी थी फिर भी परिवार पर कर्ज का भार तो था ही। भाई-बहन बड़े हो रहे थे, उनकी शिक्षा-दीक्षा, विवाहादि की चिन्ता भी थी, इसका निदान निकालना आवश्यक था। आपसी विचार के दौरान यह तय पाया कि कुछ निजी काम भी शुरू कर देना चाहिए। अतः हम लोगों ने ईस्ट इण्डिया जूट एसोशिएसन (पाट का वायदा बाजार) में शिवप्रताप टाँटिया के नाम से अपनी एक फर्म चालू की। नौकरी के साथ पाट के वायदे के सौदे की दलाली करने लगे। हमारा यह नया काम धीरे-धीरे जमने लगा।

उस समय हरिसन रोड (अब महात्मा गांधी रोड) और चितपुर रोड (रवीन्द्र सरणी) के चौराहे पर बांगड़ बिल्डिंग नाम की बहुत बड़ी इमारत बन चुकी थी। बड़ाबाजार के मकानों में यह बेजोड़ थी। दक्षिण खुला, चौराहे की महत्वपूर्ण स्थिति, नीचे ही ट्राम, बस, बाजार—सभी करीब

सफाई का पूरा इन्तजाम था। शौचालय साफ सुथरे, पानी की व्यवस्था रात-दिन की। हमारे लिए यह और भी सुविधाजनक इसलिए थी कि ताराचन्द दत्त स्ट्रीट का निवास-स्थान इसके नजदीक था। हमने तीस रुपये महीने में एक कमरा किराए पर ले लिया और आरमेनियन स्ट्रीट की अपनी गद्दी यहाँ ले आये। सन् १९२९ में हमारी आय लगभग हजार बारह सौ रुपये मासिक हो गई। दोनों भाइयों के वेतन और वायदे के फर्म की दलाली का यह सम्मिलित फल था। आमदनी बढ़ी जरूर पर हमने मितव्ययिता बनाये रखी। बड़ी सावधानी रखते, कहीं फिजूलखर्च न हो जाय। एक दिन मानव बाबू ने कहा कि पाट के बेचवालों के आफिसों में पैदल या ट्राम बस में जाने में समय अधिक लग जाता है। अतएव दो घंटे के लिए इस काम के निमित्त तुम्हें गाड़ी मिलेगी। बहुत दिनों से मेरे मन में मोटरकार की साध थी। उसकी आंशिक पूर्ति हुई। शाम को ६.३० बजे से ८.३० बजे तक के लिए बेबी आस्टिन गाड़ी मिली। कभी ऐसा मौका आता कि आफिस का काम जल्द पूरा हो जाता और गाड़ी रखने का समय हाथ मे रह जाता बहुधा गाड़ी वापस भेज देता। किन्तु कभी-कभी उसमें पत्नी के साथ बैठकर विक्टोरिया मेमोरियल, कालीघाट या किले के मैदान में घूमने जाता तो मन प्रफुल्लित हो उठता। कोई जान-पहचान का व्यक्ति दिखाई देता तो यह प्रयत्न रहता कि वह मुझे गाड़ी में बैठा देख ले। उन दिनों कलकत्ते में मोटरों की आज जैसी भरमार नहीं थी, केवल थोड़े से सम्पन्न लोग ही रखते थे। बहादुर नाम का एक नेपाली युवक ड्राइवर था, उससे मैने मोटर चलाना सीख लिया। पत्नी के साथ खुली सड़क पर गाड़ी में हवा खाते समय कभी-कभी मेरे मन में हल्का सा गौरव बोध होता। परन्तु वह मुझे सदैव कर्तव्य-बोध कराती रहती। परिवार के प्रति दायित्व का उसे बहुत ख्याल रहता। मैं सोचता कि इतनी गम्भीर और गूढ़ बातों का ज्ञान इसे कैसे हुआ। स्कूल-कालेज में कभी गयी नहीं, ऐसा लगता है कि कर्तव्य-बोध और दायित्व-ज्ञान, माता-पिता के आचार-विचार से आता है। इसलिए हमारी संस्कृति में इसके अनुकूल परिवेश बनाने पर अधिक ध्यान दिया गया है। दादीजी का स्वास्थ्य खराब रहने लगा था, हमें देस से आये कई वर्ष हो गये। वे मुझे देखना चाहती थीं, इसलिए देस जाने का निश्चय कर लिया।

१३

मरुधर म्हारो देस, म्हाने प्यारा लागे जी

सन् १९२५ में सरदारशहर छोड़ा और अब अक्टूबर १९२९ में छुट्टी पर अपने गांव जा रहा था। इन चार वर्षों की अवधि कैसे बीती, क्या-क्या तकलीफें आई, यह सब लिखने की बातें नहीं, अनुभव की हैं। देस जाने की खुशी में वह सब मैं भूल गया था। असम से जैसे खाली हाथ हारा-मांदा लौटा था, वैसा इस बार नहीं। छोटे भाई-बहनों के लिए थोड़ी चीजें साथ में थीं। अपनी पहली कमाई से खरीदे उन साधारण से उपहारों से जो हर्ष हुआ वह आज बड़ी-से-बड़ी भेंट देकर भी नहीं होता। पत्नी उन दिनों देस में थी। उसके लिए एक इत्रदान ले गया। बहुत वर्षों बाद सन् १९७० में संयोग से एक बार अपने कमरे की आलमारी में उसे वैसा ही रखा पाया। इत्र था नहीं। खोलकर शीशियाँ सूंघी। इत्र की सुगन्ध तो एक प्रकार से मिट चुकी थी, परन्तु इसके पीछे मधुर स्मृति का जो सौरभ था, वह मन में व्याप्त हो गया।

सोलह वर्ष की अवस्था में गांव से विदा हुआ, बीस वर्ष का होकर लौट रहा था। ट्रेन जब सरदारशहर के पास पहुँची, अपनी जन्म-भूमि की हवा का स्पर्श कर नैसर्गिक आनन्द का अनुभव हुआ। कवि के स्वर में गुन-गुना उठा :—

मरुधर म्हारो देस, म्हाने प्यारा लागेजी

बालू के सुहावने टीले और बाजरे के लहलहाते खेतों के बीच से ट्रेन गुजर रही थी। मेरी धरती का सौन्दर्य, कवि के शब्दों में सजीव और मुखरित हो उठा :—

धोला-धोला टीबड़ाजी, उजलो निरमल रेत,
चमचम, चमके चांदनी में, ज्यूं चांदी रा खेत,
म्हाने प्यारो लागे जो....
काचर बोर मतीरा मीठा फोफलियाँ फलियाँ
घणे चाव सूं रल मिल खांवा मिसरी री डलियाँ
म्हाने प्यारा लागे जो....

स्टेशन पर मुझे लेने के लिए कुछ पुराने मित्र और परिवार वाले आए। दोस्तों ने गले लगाया, बुजुर्गों ने प्यार से पीठ पर थपकियाँ दीं, आशीर्वाद दिया। घर आकर देखा कि दादीजी, माताजी, बहन-भाई सभी खुश थे। एक क्षण के लिए वह दृश्य भी याद आया, जब मैं घुवड़ी से खाली हाथ लौटा था, कितनी उदासी और मायूसी थी घर में, घरवालों में। आज कितना परिवर्तन हो गया है। बच्चों के चेहरे और कपड़ों से पता चला कि पहले जैसा अभाव नहीं रहा। चीजें सस्ती थीं—आठ-दस लोगों का परिवार, डेढ़ सौ रुपये मासिक में आसानी से घर का खर्च चल रहा था। ऐसा लगा, हम भाइयों की मेहनत सार्थक हुई।

पास-पड़ोस में मिलने गया। यही परिपाटी थी। ऊँच-नीच, धनी-दरिद्र का भेद-भाव शहरों मे भले ही हो, गाँवों में नहीं था। मुझे देखकर सभी प्रसन्न थे—मैं अंग्रेजी कम्पनी में काम करता हूँ।... मोटर की सवारी मिली है। ये बातें पहले से ही गाँव में पहुँच गई थी। पड़ोस की एक वृद्धा ने बड़ी गम्भीरता से पूछा कि कलकत्ते में रहकर मैंने लाट साहब की बोली-सीखी या नहीं। मुझे हँसी आ गयी; पर मैंने बड़े शाइस्ता ढंग से बताया 'थोड़ी बहुत'। उसने मुझे सलाह दी "जल्दी-जल्दी सीख ले, तेरे बड़े काम आयगी।"

कभी-कभी सोचता हूँ, राजस्थान के उस उपेक्षित अंचल की अपढ़ बुढ़िया की बात राजभाषा, राष्ट्रभाषा या अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के पचड़ों के दाँव-पेंच से जिसका कोई सम्बन्ध नहीं, कैसे कह गयी यह पते की बात। सचमुच आगे जाकर अंग्रेजी की जानकारी मेरे बहुत काम आयी—व्यवसाय के क्षेत्र के अलावा, अध्ययन मे मुझे इससे बहुत बड़ी सहायता मिली।

लंबी छुट्टी लेकर आया था। दो महीने आश्विन और कार्तिक राजस्थान में रहा। यहाँ इसे ही सर्वोत्तम मौसम मानते हैं। न गरमी सताती है, न जाड़ा। फसल तैयार रहती है। खेतों और गाँवों मे ककड़ी और मतीरे ढेरों दिखाई देते हैं। बाजरे के सिट्टे सर उठाए झूमते रहते हैं। किसान अपनी मेहनत फली देखकर फूला नही समाता। लोग टोलियाँ बाँध कर खेतों या आस-पास के जोहड़ों—तालाबों में 'गोठ' (पिकनिक) मनाने जाते हैं। मैंने देखा, कुछ भी तो नहीं बदला इन चार वर्षों में। हम जहाँ भी गये, किसानों ने हमारी आव-भगत की। अपने खेत से अच्छे-से-अच्छे मतीरे और सिट्टों (भुट्टा) के ढेर लाकर रख दिये। उन दिनों खेत पर आये लोगों से

किसान कुछ भी नहीं लेते थे। कोई उनके यहाँ आया है, यही क्या कम गौरव की बात थी ? लोग छककर खाते और शाम को घर लौटते। मगर किसान भला कैसे खाली हाथ वापस जाने दे ? साथ में बहुत से सिट्टे और मतीरे ककड़ियाँ आदि घर वालों के लिये बाँध कर दे देता। घरों में भी इन दिनों बड़े-बूढ़े और और इन्हीं का नाश्ता करतीं। यह क्रम कार्तिक से पौष तक चलता रहता। इसे हमारे यहाँ 'कातीसरा' कहते हैं। बहुत दिनों बाद गाँव वापस आया था। उपज अच्छी हुई थी। बड़े-बूढ़े किसान प्यार से मुझसे कहते—"देख कितना अच्छा जमाना (फसल) तू लेकर आया। हर साल आया कर।" कभी कोई कलकत्ते के बारे में पूछता, "कैसा शहर है ? कोई बंगाल के जादू के बारे मे जानकारी चाहता तो कोई पूछता गंगासागर कितनी दूर है, वहाँ से जब अपने परिचितों के बारे में लोग पूछते तो बड़ी मुसीबत होती। कठिनाई से समझा पाता कि बहुत बड़ा शहर है, बहुत ही व्यस्त जीवन। मिलना-जुलना आसान नहीं—फुरसत ही नहीं मिलती। इस प्रकार के उत्तर से उनके भोले-भाले चेहरों पर आश्चर्य की लकीरें उभर आतीं।

उन्हीं दिनों की एक घटना है। हमारे गाँव के एक बड़े सेठ बीमार पड़े। झाड़-फूँक, दवा-दारु काफी करायी, स्वस्थ नहीं हो पा रहे थे, सम्पन्न थे ही, कलकत्ते से एक डॉक्टर को बुलाया गया। डॉक्टर साहब भारी भरकम बंगाली थे। हिन्दी साफ नहीं बोल पाते थे। राजस्थानी का सवाल ही क्या ? हम अक्सर घूमने-फिरने दूर खेतों की तरफ ऊँटों पर निकल जाया करते। मैं बंगला बोल लेता था। इसलिए मुझसे उनकी आत्मीयता बढ़ गयी। एक दिन उन्होंने कहा कि वे भी हमारे साथ ऊँट पर सवार होकर खेतों को तरफ जायेंगे। मैंने समझाया कि ऊँट की सवारी बडी कष्टदायक होती है, इसके लिए अभ्यास चाहिए। वे माने नहीं। कहने लगे, "बांगलाये थेकेओ तुमी बांगाली के चिनले ना जे कोतो कष्ट-सहिष्णु।" अब मैं क्या कहता ?

खैर, हम चल पड़े। ऊँट वाले को मैंने समझा दिया कि सम्हाल रखे। डॉक्टर को सावधानी से बैठाया गया। ऊँट के हर हचकोले के साथ डॉक्टर की शक्ल बदलती। मगर हमसे आँख मिलते ही ऐसे बन जाते मानों कोई असुविधा या कष्ट नहीं। खेत पर पहुँचे ऊँट अगली टाँगों पर बैठने के बाद जब पिछली टाँगों पर बैठा तो डॉक्टर साहब गठरी की तरह लुढ़क पड़े। गनीमत यही थी कि बालू-रेत थी, इसीलिए साधारण-सी चोट लगी। धूल भरी शक्ल लिये देखकर कहने लगे "ओरे बाबा आमि कि जानि ऐटा जे दूबार बोसे ?" (अरे बापरे ! मैं क्या जानता था कि यह दो बार बैठता है)। गाँव मे

इसकी चर्चा बहुत दिनों तक रही। खूब हँसी-कहकहे के साथ डॉक्टर के वाक्यों को दुहराया जाता।

इन्हीं दिनों दालबाटी की गोठें भी होतीं। यद्यपि दालबाटी आज देश के अन्य भागों में भी लोकप्रिय हो गई है पर मूलतः यह राजस्थान का अपना विशेष व्यंजन है। वहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की बाटियाँ आज भी बनती हैं, जैसे मिस्सी (गेहूँ-चना मिलाकर) बाफला (भाप से बनी) और मसाले की। आटे में शहद-घी का मोयण डालकर पेपरवेट की शक्ल की बाटियाँ कंडों के भोभर (गरम राख) में सेंकी जाती हैं। सिक जाने पर घी से भरे बरतन में इन्हें तब तक डुबोये रखते हैं जब तक कि वह पूरा घी न पी लें।

बाटी के साथ खाने की जो दाल बनती उसे 'पंचमेल' दाल कहते। यानी, इसमें कई प्रकार की दालें मिला दी जातीं। विभिन्न प्रकार के छौंक दिये जाते, जिनकी सुगन्ध बहुत ही लुभावनी होती।

दरअसल, दालबाटी का आरम्भ बहुत पहले तब हुआ था, जब अधिकतर यात्राएँ पैदल ही होती थीं। यात्री किसी जोहड़ या तालाब में स्नान करके कपड़े सूखने को डाल देते। छतरी के नीचे चबूतरे पर बैठ कर यात्रा की थकान मिटाते। बरतनों के अभाव में किसी कपड़े या धुले पत्थर पर आटा गूँथ लिया जाता। पास के गाँव से एक हांड़ी और कुछ सामान लाकर वहीं गोबर के कंडों को जलाकर दालबाटी बना ली जाती।

राजस्थान के प्रिय भोजनों में हैं खीर, जलेबी और दालबाटी। बाटी में घी खाने की होड़ लग जाती। भूरा महाराज नाम का एक ब्राह्मण युवक था। वह एक बार मे आधासेर घी खा जाता। ये गोठें शाम को होतीं। खाने से पहले दूधिया छनती। युवक सिल-लोढ़ा लेकर भंग पीसते रहते और मस्ती में गाते :—

"जय शंकर, काँटा लगे न कंकर,

जो पीवे उसका भला, जो न पीवे उसका कटे गला।

जिसने नहीं ली भंग की डली, उस लड़के से लड़की भली।"

दूध-बादाम की ठंढाई पीसी जाती। प्रायः लोग भंग मिली हुई ठंढाई पीते। नशेबाज कोरी भंग की गोलियाँ 'डाम' जाते।

चार वर्ष पहले जिस पब्लिक लाइब्रेरी को बुरी स्थिति में छोड़ गया था। वह अब उन्नति कर रही थी। मैंने इसके लिए कलकत्ते से कुछ रुपये

इकट्ठे करके भिजवाये थे। मेरा अधिकांश समय यहीं बीतता। कलकत्ते के प्रवास में मुझे हिंदी, बंगला और अंग्रेजी पढ़ने का अभ्यास हो गया था, यहाँ आकर भी यह क्रम चालू रहा। मैंने उस समय इस लाइब्रेरी के माध्यम से हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, प्रेमचंद और भगवतीचरण वर्मा आदि की अनेक रचनाएँ पढीं। शेक्सपियर के नाटकों तथा बंकिम, रवीन्द्र और शरत् बाबू के उपन्यासों के हिंदी अनुवाद पढ़े। हिंदी की अपेक्षा विषय-वस्तु और दृष्टिकोण की नवीनता इनमें मिली। मैंने बंगला और अग्रेजी में अधिक रुचि ली। परिणामस्वरूप पिछले चालीस वर्षों में बंगला के पुराने और नये लेखकों की अनेक कृतियाँ पढ चुका हूँ। अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखकों में मुझे चार्ल्स डिकेंस, अलेक्जेंडर ड्यूमा, अप्टन सिंकलेयर, स्टीफन ज्विग, बर्नार्ड शा और पर्ल बक की रचनाएँ बहुत ही उत्तम लगीं। आन्द्रे जीद और सार्त्र विश्व-प्रसिद्ध होने पर भी अपील नहीं कर पाए। नाटककारों में इब्सन के कुछ नाटक पढ़े। उसका 'एनिमी आफ दी पीपुल' मेरी दृष्टि में विश्व-साहित्य की श्रेष्ठतम कृतियों में एक है। कुछ साहित्यिक मित्रों की भी यही राय है।

अंग्रेजी के बड़े कवियों की रचनाएँ मेरे लिए दुर्बोध थी। इसलिए मैं उनकी गहराई में नहीं जा सका।

घूमना, खाना और पढ़ना बस यही कार्यक्रम था, सरदारशहर में। कभी-कभी पड़ोस के बालकों को बुला लेता। उन्हें 'गुलीवर ट्रेवेल्स' या 'राबिन्सन क्रूसो' को कहानियाँ सुनाया करता। वे सब बड़े खुश रहते क्योंकि रामायण, महाभारत एवं विभिन्न पौराणिक कहानियों से इनमे नवीनता मिलती। मुझे इस प्रकार की बैठकों से लाभ ही हुआ। मेरा समय बेकार नहीं बीतता और अनजाने मे ही अभिव्यंजना की शैली मँजती जाती थी।

दो महीने कितनी जल्दी बीत गये पता ही नही चला। एक दिन अचानक भाई जी का तार मुझे बुलाने के लिए आया। पड़ोसी मित्र श्री राधाकृष्ण मुरारका के साथ रवाना हो गया। साथ मे छोटे भाई सत्यनारायण को ले लिया। उस समय वह आठवीं कक्षा में पढ़ रहा था, उम्र थी तेरह साल। तय हुआ कलकत्ते में पढाई की व्यवस्था कर दी जाय ताकि अंग्रेजी का अच्छा अभ्यास और कालेज की पढाई हो सके।

रास्ते में हम दो दिन बनारस रुके। यहाँ मैं प्रथम बार आया था। गाँव-घर के बड़े-बूढ़ों से काशी के माहात्म्य की बातें बचपन से सुनता आ रहा था। एक उत्सुकता थी इसे देखने की। हम दशाश्वमेध घाट की एक

धर्मशाला में ठहरे। अस्सी से वरुणा तक नाव में घूमे। गंगा के घाट और किनारे पर बने मकान व मंदिर बड़े आकर्षक लगे। मन्दिरों के कलशों पर पड़ती सूर्य की किरणों की छटा बहुत ही निराली थी। घाटों पर स्त्री, पुरुष, बच्चे, साधु-संन्यासी स्नान-ध्यान, पूजन कर रहे थे। घण्टों की ध्वनि बीच-बीच में सुनाई पड़ जाती थी। गंगा मद्धिम गति से बह रही थीं। हजारों वर्षों से हिमालय की यह अलबेली बेटी भारत की संस्कृति का स्रोत रही है। इसके निर्मल और पवित्र जल की महिमा को संतों और कवियों ने मुग्ध होकर गाया है। हमने श्रद्धा से गंगाजल का आचमन किया। मुझे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रसिद्ध कविता 'गंगावर्णन' की ये पंक्तियां याद हो आईं—

"नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच-बिच छहरति बूंद मध्य मुक्तामनि पोहति॥

❀ ❀ ❀ ❀

लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नरगन मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥

❀ ❀ ❀ ❀

मधुरी नौबत बजत कहूँ नारी नर गावत।
बेद पढ़त कहुँ द्विज कहूँ जोगी ध्यान लगावत॥
दीठि जहाँ जँह जात रहत तितही ठहराई।
गंगा छबि 'हरिश्चंद' कछू बरनी नहि जाई॥"

अस्सीघाट पर वह पावन स्थली देखी जहां तुलसीदासजी प्रतिदिन मानस का पाठ करते थे। उनकी पादुकाएँ रखी थी। जिस नाव में वे गंगा पार प्रतिदिन जाया करते थे, उसका एक अंश देखा। इन्हें देखते समय मैं मानो खो-सा गया। कितने महान विचारक थे तुलसी! मानस की रचना कर उन्होंने एक ऐसा नायक जनता के सामने रखा जिसने अपने समय की सबसे बड़ी शक्ति से टक्कर ली। क्या था राम के पास? अस्त्र-शस्त्र, सुसज्जित सेना, रथादि कुछ भी तो नहीं। उनकी सेना वानरों और भालुओं की थी, जो उस समय के नर की कोटि में थे या नहीं, यह भी संदिग्ध था। उनके आचरण, तौर-तरीके देखकर लोग उन्हें 'वानर', भल्लुक आदि कहते। ऐसे असंस्कृत और अशिक्षित साथी थे, फिर भी राम विजयी हुए। संगठन, स्नेह, विश्वास, मैत्री और साहस का सुन्दर समन्वय था इस जननायक में। निःसन्देह, तुलसी

ने रावण के शासन जैसे अत्याचारपूर्ण मुगल शासन से पीड़ित निराश जनता में राम के चरित्र द्वारा आशा, उत्साह और साहस का मन्त्र फूंककर जन-जीवन में क्रांति का संचार किया था। भारतीय जनता मे आत्मविश्वास जगाया था।

इसके बाद कुछ समय तक हरिश्चन्द्र घाट पर हम खड़े रहे। राजा हरिश्चन्द्र को खरीदनेवाले डोम के वंशधरों का मकान अब भी इस घाट पर है। हजारों वर्षों से आस-पास और दूर-दूर के शव दाह-संस्कार के लिए यहाँ लाये जाते हैं। काशी में शरीर का गति पा लेना मोक्ष-प्राप्ति माना जाता है। उसी डोम के वंशज आज भी शुल्क के अधिकारी हैं। हमारे देश में सत्य और कर्तव्य पालन के लिए कितना कठोर त्याग राजा से रंक तक सभी करते थे। यही घाट है, जहाँ सत्यवादी हरिश्चन्द्र ने चाण्डाल के दास के रूप में रानी तारामती से अपने लाड़ले पुत्र रोहिताश्व की दाह-क्रिया के लिए शुल्क माँगा। महारानी के पास कानी-कौड़ी भी न थी। उसे अपनी साड़ी का आधा हिस्सा फाड़ कर शुल्क रूप मे देना पड़ा। बचपन में इसे पढ़कर और नाटकों में देखकर कितनी बार रोया था, आज भी आँखें भर आईं।

मणिकर्णिका घाट पर हमने स्नान किया। पण्डों ने वहाँ खड़ी एक गाय की पूंछ पकड़ा दी और गोदान के लिए कहने लगे। इनके बारे में काफी सुन रखा था। इसीलिए उसके चक्कर में नहीं आये। वहाँ से विश्वनाथजी दर्शन के लिए चल पड़े।

बहुत ही सीलभरी और संकरी गलियों से गुजर कर मन्दिर जाना पड़ता है। चारों ओर बदबू और कीचड़। बीच-बीच में कहीं सांड़ बैठे मिल जाते हैं तो कही गायें सीग हिलाती नजर आ जाती है। भिखमंगों की कतार दोनों ओर बैठी रहती हैं। पण्डों से पिंड छुड़ाना कठिन हो जाता है। किसी तरह हम पहुँचे मन्दिर में। इसका गर्भगृह बहुत ही छोटा है। शिवलिंग पर दूध, बिल्वपत्र और फूलों का ढेर लगा हुआ था। इधर-उधर फर्श पर कीचड़ और फूल-पत्ते। जो यात्री पण्डों को साथ ले आते, वे किसी प्रकार ठेलम-ठेल करके भीतर घुस जाते। मुझे तो डर लगता था कि कहीं फिसल न जाऊँ, कहीं छोटा भाई छूट न जाये। बचपन में विश्वनाथ जी की महिमा सुनी थी। यहाँ आकर ऐसा लगा कि या तो वे सब बातें गलत थीं या हम किसी दूसरी जगह पर आ गये है। फिर भी, संस्कार वश मैंने माथा टेक दिया। मन्दिर के पास एक कुँआँ है। नाम ज्ञानवापी, ज्ञान का कुआँ। हमने यह सुना कि

पुराने समय में मोक्ष-प्राप्ति के लिये भक्त लोग इसमें कूद कर प्राण देते थे। मेरी समझ में नहीं आया कि आत्महत्या से कैसे ज्ञान मिल सकता है। मृत्यु वापी भले ही यह कुँआ हो पर ज्ञानवापी तो नहीं हो सकता। इसे 'काशी करवट' भी कहते है।

इसी से सटे दूसरे आँगन में एक बहुत बड़ी मस्जिद देखी। नीचे के हिस्से की बनावट सर्वथा भारतीय स्थापत्य शैली की है। पहले यही मूलतः विश्वनाथ का मन्दिर था। औरंगजेब ने इसे तुड़वाकर मस्जिद बनवा दी। आज भी इसकी पिछली दीवालों पर हिन्दू कलाकृतियाँ हैं। मुझे यह बताया गया कि औरंगजेब ने जब मन्दिर को तुड़वाना शुरु किया तो शंकरजी ज्ञानवापी में समा गए ताकि उन्हें म्लेच्छ अपवित्र न कर सकें। बात कुछ भी हो, पंडों ने जरूर शिवलिंग को ज्ञानवापी में डुबा दिया होगा। सोचने लगा कि मन्दिर को गिराने में मुसलमान थे पर मस्जिद खड़ी करने में तो हिन्दू कारीगर-मजदूर जरूर लगे होंगे। काशी हिंदुओं की संस्कृति और सभ्यता का केन्द्र चिरकाल से रही है। कहाँ गए सैकड़ों-हजारों पडे, राजे-रजवाड़े, राजपूतवीर, त्यागी ब्राह्मण और धनी वैश्य ? सबके सब इस परम पवित्र मन्दिर को नहीं बचा सके ? योरोप में तो ईसाइयों ने कई सदियों तक धर्मयुद्ध (क्रुसेड) कर हजारों मील की दूरी पर स्थित यरुशलम के अपने महातीर्थ को दुर्धर्ष मुसलमानों से मुक्त करा लिया था। इसके लिए उन्हें तीन सौ वर्षों के लम्बे अर्से तक लाखों व्यक्तियों का बलिदान करना पड़ा। हम हिंदू अपने ही देश में खड़े-खड़े सर्वनाश का तमाशा देखते रहे। मुहम्मद गजनवी ने सन् १०२४ में सोमनाथ को लूटा। बाद के सात सौ वर्षों की लम्बी अवधि तक हिंदू जाति न चेत पायी और न संगठित हो सकी। कितने साधु, सन्त और महात्मा हो गए। भजन-पूजन का पाठ पढ़ाया, पर संगठन और धर्म की रक्षा का उपाय नही बताया। हमें यही सिखाया गया कि कुंए में कूदकर धर्म की प्राप्ति होती है। बड़ी ग्लानि हुई। आजतक उसे भूल नही पाया।

होता है। मुझे अच्छी तरह याद है, सब कुछ भूल गया था। आँखों से आँसू वह रहे थे, और मैं 'राम राम' कह रहा था। इसके बाद कभी मैंने उतने भक्तिभाव से 'राम' कहा है कि नहीं, मुझे याद नहीं। घबराए हुए वापस बनारस कैंट स्टेशन पर आये; देखा, सत्यनारायण एक बेंच पर गहरी नीद सोया है। हम टिकट लेने को जल्दबाजी में थे, उसे नीद आ गयी थी। गाड़ी आयी और हम बैठ गए। हमने समझा कि वह भी बैठ गया है। उसे उठाकर छाती से लगाया, अगली ट्रेन से रवाना हो गए।

कलकत्ते पहुँच कर सत्यनारायण को सारस्वत क्षत्रिय विद्यालय में दाखिल करा दिया। मैं अपने काम में लग गया।

देश में राजनीतिक परिस्थितियों का नया दौर था। उन दिनों आमतौर पर राजस्थानी राजनीति से अपने को विरत रखते। सम्भवतः कारण यह रहा होगा कि राजस्थान के अधिकांश क्षेत्र में देशी रियासतें थीं। इनके शासक ब्रिटिश राज के प्रति भक्त थे और उनके विरुद्ध आचरण को राजद्रोह मानते। प्रवासी राजस्थानियों में अधिकतर व्यापारी वर्ग के थे जो अपने घर और व्यापार की दृष्टि से खुलेतौर पर राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लेने में हिचकते। फिर भी सहानुभूति थी और मौके पर वे आर्थिक सहायता दिया करते। हमारे देश में राजनीतिक चेतना के साथ-साथ गांधीजी ने सामाजिक क्रान्ति का अभूतपूर्व तरीका अपनाया। इससे पहले भारतीय चिन्तकों ने विशेषतया धर्मपक्ष में क्रांति प्रस्तुत की। स्वामी विवेकानंद एवं दयानंद ऐसे विचारक हुए जिन्होंने भारतीय जन-मानस में धार्मिक क्रान्ति के साथ राष्ट्रीयता की भावना जगायी। गांधीजी के समर्थ नेतृत्व ने इसे आगे बढ़ाया। उन्होने छुआछूत, पर्दा, अशिक्षा और जाति-पाँति के भेद-भाव के विरुद्ध जनसाधारण को जगाकर राजनीतिक स्वाधीनता का मार्ग प्रशस्त किया।

मैं भी सामाजिक और राजनीतिक गतिविधियों पर सोचता। अन्तर्मन बारम्बार कहता समाज और देश के प्रति मेरा भी कोई कर्तव्य है। सारे देश में लोग खुशी-खुशी जेलों में जा रहे थे, महिलाएँ और बच्चे तक जहाँ-तहाँ कानून की अवज्ञा कर नमक बनाने जाते। स्कूल कालेज के युवकों में काफी जोश था। न जाने कब और कैसे नमक बनाने वालों के साथ मेरा सम्पर्क हुआ। कौतूहलवश मैंने भी नमक बनाया। लगा, जैसे बहुत बड़ी सफलता मिली। मैं बिना किसी से कुछ कहे प्रायः निकल पड़ता।

हमारा केन्द्र था, कलकत्ते से पाँच-छः मील दूर महेशबाथान के निर्जन स्थान में। आजकल यहाँ दमदम हवाई अड्डे की व्ही० आई पी० रोड है।

बड़े चाव से नमक बनाते, पर रंग मैला रहता। इसे पुड़िया में बाँधकर घर ले आते और मित्रों को दिखाते। आपस में कहते, हम अपना नमक खाते हैं, अंग्रेजों का नहीं।

बातें छिपती नहीं, सरदारशहर हमारे घर खबर पहुँची कि सत्यनारायण छात्रों के नमक बनाने वाले दल में शामिल हो गया है। राजनीतिक जागृति से अछूते लोगों में भय अथवा आतंक के लिये इतनी सूचना ही यथेष्ट थी। बीकानेर रियासत में तो राजनीतिक व नेताओं और उनकी कार्यवाहियों का दमन बड़ी क्रूरता से हुआ करता। चुरू के स्वामी गोपाल और भादरा के श्री खूबचन्द सराफ ने बीकानेर के तत्कालीन राजा गंगासिंह के गोलमेज कान्फ्रेन्स में शामिल होने के समय उनकी शासन नीति के खिलाफ लन्दन में पर्चे बँटवाये थे। राजा ने इंग्लैण्ड से वापस आकर इन दोनों कार्यकर्त्ताओं और उनके साथियों को जो दारुण कष्ट दिये, उसे सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते। कलकत्ते का समाचार पाकर दादाजी बहुत चिन्तित हुए। पिछले पचीस वर्षों से वे कारोबार से मुक्त होकर भजन-ध्यान में समय बिताते थे। बच्चों के प्रति मोह उमड़ना स्वाभाविक था, वे कलकत्ते चले आये। याद है, जब हम चरण छूने लगे, उनकी आँखें गीली हो आयीं। कहने या समझने की जरूरत रही नहीं। मन ही मन सब बातें हो गयी। वे सत्यनारायण को अपने साथ देस ले गये।

नमक बनाया जरूर, मगर अपने व्यापार व्यवसाय में मैंने ढिलाई नहीं की। उस ओर मुस्तैद ही रहा। एक अन्तर जरूर आ गया कि मेरे मन में अनायास समाज सुधारकों और देश के प्रति श्रद्धा की भावना विकसित होने लगी।

असहयोग आन्दोलन के बाद ही कलकत्ते के राजस्थानी युवकों ने समाज-सुधार के लिए प्रयास प्रारम्भ कर दिया था। पहले जहाँ मारवाड़ी समाज में केवल धार्मिक चर्चा होती वहाँ अब बौद्धिक और शारीरिक चर्चा पर भी लोगों का ध्यान गया। इनके द्वारा संगठित कई एक छोटी-बड़ी संस्थाएँ सामाजिक सेवाकार्य कर रही थीं। बड़ाबाजार युवक-सभा द्वारा संचालित अखाड़े की स्थापना हो चुकी थी। मारवाड़ी युवक भी यहाँ व्यायाम करते, कुश्ती लड़ते और लाठी चलाने का अभ्यास करते।

उन दिनों मारवाड़ियों में ही नहीं, बल्कि समस्त सवर्ण हिन्दुओं में विधवा-विवाह एक सामाजिक अपराध अथवा पाप समझा जाता था। छोटी

उम्र में विवाह हो जाते। कभी-कभी तो बारह-चौदह वर्ष की बालिका विधवा हो जाती। यहाँ तक देखा गया कि इन्ही विधवाओं के पिता व श्वसुर ४०-४५ वर्ष की अवस्था में विधुर होते तो अपना पुनर्विवाह कर लेते। मेरी जान-पहचान के एक सज्जन का बाईस वर्ष का विवाहित पुत्र चल बसा। उनके यहाँ मिलने गया। देखा, धाड़ मार-मार कर रो रहे थे। तीन चार महीने बाद उनकी पत्नी का देहावसान हुआ। थोड़े ही दिनों बाद उन्होने अपना विवाह कर लिया जब कि जवान विधवा पुत्रवधू घर में बैठी थी।

कभी-कभी किसी युवा विधवा के अपने ही किसी सम्बन्धी से गर्भ रह जाता। परिवार के लोग उस व्यक्ति को तो कुछ नहीं करते। बिचारी विधवा की जान साँसत में पड़ती। चारों ओर से लांछन और तानों की बौछार। लोक-लज्जा और कुल-कलंक के भय से तीर्थयात्रा के बहाने हरिद्वार अथवा किसी दूसरे शहर मे गर्भपात कराया जाता। बहुधा अभागिनें आत्मदाह कर लेतीं, या घर से निकल जातीं, धर्मपरिवर्तन अथवा घृणित जीवन के लिए बाध्य होतीं।

सन् १९२९ में गांधीजी ने हरिसन रोड मे शुद्ध खादी भण्डार का उद्-घाटन किया। बड़ाबाजार अंचल का भार 'श्री सीताराम सेक्सरिया' एवं 'श्री महावीर प्रसाद पोद्दार' को सौंपा गया। ये दोनों बड़ाबाजार के युवकों के नेता थे। उनकी संगठन शक्ति, कर्मठता और सादगी बेजोड़ रही, आज भी है। इन्ही दिनों इन दोनों से मेरा परिचय हुआ जो उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

खादी भण्डार हमारे घर के पास ही था। काम-काज से फुर्सत पाकर शाम को वहाँ चला जाता। ग्राहकों को स्वेच्छा से कपड़े दिखाता। बीच-बीच में पोद्दार जी से सामाजिक और राजनीतिक चर्चायें भी होतीं। सीतारामजी ने उस समय राष्ट्रीय आन्दोलन और खादी पर छोटी-छोटी बीसियों पुस्तकाएँ प्रकाशित कीं।

नमक सत्याग्रह सब जगह होना सम्भव नहीं था। बरसात शुरू हो गयी थी। इसलिए देश के बड़े-बड़े शहरों में मद्य-निषेध और विदेशी वस्त्र बहिष्कार के कार्यक्रम बने। सूतापट्टी में सत्याग्रह करते हुए श्री पुरुषोत्तम राय, सीताराम सेक्सरिया और बसंतलाल मुरारका पकड़े गए और इन्हें कारावास मिला। मारवाड़ी महिलाओं ने भी इस आन्दोलन में भाग लिया। इसके थोड़े समय बाद ही लन्दन में गोलमेज कान्फ्रेंस हुई और गांधीजी–इरविन समझौता होते ही कुछ समय के लिए आन्दोलन शिथिल पड़ गया।

राजनीति के साथ-साथ राजस्थानी समाज सामाजिक प्रगति भी करता जा रहा था। मारवाड़ी सम्मेलन, मारवाड़ी अग्रवाल महासभा और अग्रवाल पंचायत नाम की संस्थायें काम कर रही थीं। माहेश्वरियों में भी दो विभिन्न विचारों की प्रतिस्पर्धी संस्थाएं थीं। माहेश्वरी महासभा और माहेश्वरी पंचायत। इधर ओसवालों में श्री संघ और विलायती का झगड़ा और भी जोरों से हो रहा था। यहां तक कि बहन-बेटियों को ससुराल से पीहर नहीं भेजा जाता। मुर्शिदाबाद के एक समृद्ध परिवार के दो ओसवाल युवक विलायत मे रहने लगे थे। वे एक बार कलकत्ता आए। उन्होने जाति में शामिल होने के लिए बहुत आरजू-मिन्नत की। यहां तक कि जनसमुदाय के सामने पंचों के जूते तक सिर पर उठा लिए मगर हठधर्मी पंचों ने उन्हें जाति में शामिल नहीं किया। फिर भी उनके कुछ निकट संबंधियों और सुधारक प्रवृत्ति के लोगों ने इस परिवार से अपना संबंध कायम रखा। इन लोगों के दल का नाम पड़ा 'विलायती' जब कि रूढ़िवादियों का दल कहलाया श्री संघ।

यद्यपि मैं राजनीति में तो भाग नहीं लेता था परन्तु सामाजिक कामों में थोड़ा-बहुत हिस्सा लेने लगा। उन दिनों मारवाड़ी समाज में मृतक बिरादरी भोज हुआ करते। नयी पीढ़ी ने इसे अनावश्यक और अपव्यय माना। मारवाड़ी-सम्मेलन ने निश्चय किया कि अगर समझने पर भी कोई नहीं माने तो वहां पिकेटिंग की जाय। इन स्वयं सेवकों में मैंने भी अपना नाम लिखा दिया। जब मेरे दादा श्वसुर के देहान्त पर मृत्युभोज का आयोजन हुआ तो उस के विरुद्ध हुई पिकेटिंग मे मैं भी गया।

सही बात यह है कि हम लोग आर्थिक संघर्ष मे इतने जूझ रहे थे कि मैं इस प्रकार के आयोजनों मे अधिक भाग नही ले पाता था।

१४

करो बेटा फाटका, घर का र वो न घाट का

सन् १९३१ में सारे देश मे मंदी का दौर आया। सभी चीजों के भाव अनाप-शनाप गिरने लगे। पाट के वायदे के व्यापारियों में हमारी फर्म के पन्द्रह-बीस हजार रुपये डूब गये। कुछ घाटा मुझे अपने निजी सौदे में भी हुआ। हमारे लिये यह एक बहुत बड़ा आघात था। पछतावा होता कि मैं क्यों फाटके में पड़ा। लोभ का संवरण बहुत थोड़े लोग ही कर पाते हैं। मैं देखता कि बड़े-बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति फाटका करते हैं और उससे धन कमाते हैं। इसकी जोखिम आँखों के सामने तब आती है जब सौदा उल्टा पड़ने लगता है और भारी घाटा सामने आकर भुगतान के लिए मुँह खोल देता है। इतना सब जानते-समझते अब भी फाटका कर बैठता हूँ। लाखों रुपये मैंने इसमें खोये। मन में चिन्ता बनी रहती है सो अलग। सही बात तो यह कि मुझे फाटका करना आता ही नहीं। धैर्य खो बैठता हूँ, संतुलन बिगड़ जाता है। घाटे में बैठा रहता हूँ जब कि थोड़ा नफा होने पर सौदा बराबर कर देता हूँ। सुविख्यात अमरीकी लेखक एवं धनिक डेल कार्नेगी की इस विषय पर मैंने पुस्तक पढ़ी। उसमें बताये सिद्धान्त से मेरी प्रणाली सर्वथा विपरीत है। मनुष्य की स्वयं की दुर्बलता उसकी पराजय का सबसे बड़ा कारण होती है। उन दिनों 'श्री जुगलकिशोर बिड़ला' और 'श्री गंगाबख्श कानोड़िया' का नाम फाटका के सफल सौदागरों में था। उन्होंने शायद ही कभी घाटा दिया हो। हानि होते ही वे सौदा बराबर कर देते।

बाजार में रुपए डूबने और फाटके में घाटा होने की वजह से हम फिर एक बार संकट के गम्भीर आवर्त में पड़ गये। हमें लगा, चुकता भुगतान नहीं कर पायेंगे। आज भी याद है हम दोनों भाई दो-तीन रात नींद नहीं ले सके। कोई सहारा नजर आया। कई रिश्तेदारों के यहाँ गए। सब जगह ज्ञान और उपदेश मिला, रुपयों की जगह मिला नकारात्मक उत्तर।

जण-जण रो सुख जाये, अपणों दुख कहणों नहीं
काढ़ न देवे कोय, रीरायां स्यूं राजिया।

ठीक बात है, जने-जने का मुख जोहते हुए अपना दुख कहने से कोई गाँठ से काढ़ के देता नहीं, भले कितना ही गिड़गिड़ा लो।

पाँचों उगलियाँ एक सी नहीं होती। 'श्री केदारनाथ रामनाथ बाजोरिया' से हमें पाँच हजार रुपये मिले यद्यपि इनसे हमारी साधारण-सी जान पहचान थी। बचे हुए दस हजार के लिए ऐसा सोचा गया कि देस की अपनी हवेली बेच दें। जब दादीजी को इस बात का पता चला तो वे बहुत उदास हुईं। कहने लगीं कि तुम्हारे दादाजी ने बड़े मन और साध से यह हवेली बनवायी। जब से बनी, नियमपूर्वक यहाँ प्रतिदिन हनुमान जी और पितरजी की पूजा होती आयी है। इसी की पश्चिम वाली कोठरी में तुम सब भाई-बहिन जन्मे। सुख-दुख के न जाने कितने क्षण इसमें बिताये। और सौ उपाय करो, मगर रहने के घर को न बेचो। इसकी ईंट-ईंट से आत्मीयता हो गयी है। चालीस वर्ष पहले बहू बन इस हवेली में आई थी, मेरी आन्तरिक इच्छा है कि तुम लोगों के हाथों में अन्त समय यहीं से निकलूँ। उनकी बातों का उत्तर हम क्या देते ? हमारी आँखें भर आयी। एक सप्ताह के अंदर ही रुपयों की व्यवस्था तो करनी ही थी। तीन सौ तोला सोना घर से निकाल कर बेचना पड़ा। उन दिनों भाव था चालीस रुपए तोले का। दादीजी और माताजी ने अपने पास का सब कुछ दे दिया। जब बहुओं को पता चला वे सबसे आगे आईं। स्त्रियों को आभूषण का अत्यन्त मोह होता है परन्तु परिवार के संकट के समय अपना सब कुछ उत्सर्ग कर देती हैं। मैंने देखा पत्नी और भाभी के चेहरे पर जरा भी उदासी नहीं थी।

बाजार के लिए भुगतान की व्यवस्था हो गयी और हम अपनी प्रतिष्ठा बचा पाये। मुसीबत अकेली नहीं आती। इन घटनाओं का असर मेरे मन पर पड़ा। कभी विधि के विधान पर क्षोभ आता और कभी अपनी दुर्बलताओं पर खीझ उठता। यह भी सोचता, न कोई शौक की, न फिजूलखर्ची। किसी का पैसा दबाया नहीं, न किसी को कोई कष्ट दिया, फिर यह कैसा दण्ड ?

मुझे हल्का सा ज्वर रहने लगा, खाँसी के साथ कभी-कभी कफ से खून भी आ जाता। परिवार में चिन्ता होनी स्वाभाविक थी। कई डाक्टरों को दिखाया। तरह-तरह की राय देते। उन दिनों 'डॉ० बिधानचन्द्र राय' कलकत्ते के माने-जाने चिकित्सक थे। बाद में वे बड़े नेता और पश्चिम बंग के मुख्य मन्त्री बने। उन्हे घर पर बुला कर सलाह ली गयी। क्षय की प्रारम्भिक अवस्था थी। डाक्टरों की राय थी कि मुझे तुरन्त कसौली या भवाली के सेनेटोरियम में भरती करा दिया जाय। उस समय क्षय को दुस्साध्य माना

जाता था। अत्यन्त व्ययसाध्य होने के कारण इसे राजरोग कहते। प्रारम्भिक स्थिति में अच्छी चिकित्सा और पौष्टिक खुराक से यह काबू में आ जाता था। कई चिकित्सालयों से तखमीना मँगाया गया। मासिक खर्च पड़ता लगभग तीन सौ रुपए जो हमारी सामर्थ्य के बाहर था। तय हुआ राजस्थान की सूखी हवा में जाकर आयुर्वेदिक चिकित्सा करायी जाय।

सुप्रसिद्ध वैद्य स्वामी लच्छीरामजी की राय लेने कलकत्ता से सीधा जयपुर गया। साथ में परिचारक का प्रश्न ही नहीं था। बीमारी की उस दशा में यात्रा भी तीसरे दर्जे में ही हुई। संयोग से हमारे एक बहुत निकट के सम्बन्धी सपरिवार कलकत्ता से स्वामीजी के पास चिकित्सा के लिये गये हुए थे। मैं उन्हीं के पास जाकर ठहरा। उन्हें शायद मेरी बीमारी की भनक पहले ही पड़ गयी थी। उनके व्यवहार से मुझे आभास हुआ कि मेरा अप्रत्याशित रूप से और इस बीमारी को लेकर पहुँच जाना उन्हें अच्छा नहीं लगा। धीरे-धीरे कानाफूसी होने लगी। हाँलाकि केवल बाईस साल का था परन्तु दुनिया के उतार-चढ़ाव बहुत-कुछ देख चुका था। इसलिए उनके कुछ कहने के पहले ही मैंने स्पष्ट कर दिया कि भाईजी शाम की गाड़ी से आ रहे हैं। उनके साथ घर जाने को आया हूँ। उसी दिन शाम को भाईजी आ गये और हम लोग सरदार शहर चले गये।

यहाँ कई अच्छे वैद्य थे। उनका निदान यह रहा कि मुझे रक्त-पित्त हो गया है। यदि क्षय है भी तो प्रारम्भिक अवस्था में। गरमी का मौसम था। सूखी हवा चलती। हमारे पड़ोसी घासी नीलगर के यहाँ से एक बकरी मँगवाकर नीचे सफे (तलघर) में बाँध ली और वहीं बालू-रेत पर पानी का छिड़काव कर मेरा पलँग डाल दिया गया। औषधि के रूप में मृगांक रस और मोती भस्म शहद और अडूसे के रस के साथ दोनों समय लेने लगा, ऊपर से बकरी का दूध पीता। आयुर्वेद की मान्यता है कि बकरी की गन्ध और दूध के साथ उपरोक्त औषधियों के नियमित सेवन से क्षय दूर हो जाता है। मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया, चमत्कारिक लाभ हुआ। दो महीने में ही ज्वर और खून बन्द हो गया। वजन भी चार-पाँच सेर बढ़ा। शरीर में स्फूर्ति मालूम देने लगी।

आयुर्वेदिक उपचार के प्रति उस समय मेरे मन में जो विश्वास जमा वह आजतक है। वस्तुतः चरक और सुश्रुत द्वारा प्रतिपादित आयुर्वेद की पद्धति को हम पाश्चात्य की चकाचौंध के कारण वह महत्व नहीं दे पाये, जो हमें देना चाहिए। एलोपैथी हम पर हावी बन बैठी है। जलवायु साधन और औषधियों

की प्रतिक्रिया पर गम्भीर अनुशीलन नितांत आवश्यक है। आयुर्वेद के सस्ते उपचार की उपेक्षा कर हम एलोपैथी के पीछे भाग रहे हैं। स्वाधीनता के बाद राष्ट्रीय सरकार ने आयुर्वेद को प्रोत्साहन तो दिया है किन्तु जनता इसे छोड़ती जा रही है। आज वैद्यों को डॉक्टरों से कम महत्व दिया जाता है। इसलिए वे भी अपने उत्तराधिकारियों को आयुर्वेद की शिक्षा न दिलाकर एलोपैथिक ही पढ़ाते हैं।

बकरी की सार-सँभाल और चारा पानी घासी की स्त्री और बच्चे करते। जब हम उसे दूध के दाम देने लगे तो बहुत नम्रतापूर्वक उसने नाहीं कर दी। बल्कि यह कहा कि हम तो आपके पुण्य-प्रताप से कमाते खाते है। मैं अपने इस पड़ोसी गरीब मुसलमान की उस सम्पन्न सम्बन्धी से तुलना कर रहा था। मित्र कौन है? सम्बन्धी किसे कहते हैं? सम्भावना, सद्भावना, सहानुभूति के बन्धन को जो न समझे, न माने, उसके साथ सम्बन्ध का तात्पर्य क्या हो सकता है? हितैषी की परख तो समय पर होती है।

"कहि रहीम संपति सगे, बनत बहुत बहुरीत।
विपति कसौटी जे कसे, वही सांचे मीत॥"

कई बार अपने उन सम्बन्धी से कलकत्ते में मिलने का संयोग हुआ। वे कुछ झेंपते भी। यह बहुत बाद की बात है जब हम आर्थिक दृष्टि से उनसे आगे बढ़ गये थे।

कलकत्ते वापस लौटा नया जीवन लेकर। मन में निश्चय था कि कठोर परिश्रम कर पिछले घाटे की पूर्ति करूँगा। काम में उत्साह के साथ जुट पड़ा। कुछ ही दिन बीते होंगे कि एक दिन आफिस के बड़े साहब ने मुझे बुलाया। मैंने सोचा था कि मेरे काम से शायद प्रभावित हुए हैं। मुझे तरक्की मिलेगी। उनके चेम्बर में गया। मुझे देख कर कुछ गम्भीरतापूर्वक उन्होने कहा कि अगले महीने से कोई दूसरा काम ढूंढ लो। मैं अवाक् रह गया। न कुछ पूछ सका और न कह पाया। इस अप्रत्याशित आदेश से मेरी आँखों के सामने अंधेरा सा छा गया। चुपचाप बाहर आया।

पिछले छ-सात वर्षों से इस फर्म में जी-जान लगाकर मै परिश्रम कर रहा था। सब लोग मेरे काम और व्यवहार से सन्तुष्ट और प्रसन्न थे। ऐसा क्या कारण बना? चिन्ता अलग सता रही थी। कर्ज अभी तक सर पर लदा है। काम छूट जाने पर समस्याएँ बढेंगी। कम्पनी ने अलग कर दिया, इससे बाजार में बदनामी होगी। बड़े साहब से तो बातें करने की मेरी हिम्मत

नहीं हुई किन्तु छोटे साहब और मानवबाबू के पास गया। उन्होंने खेद प्रकट करते हुए कहा कि तुम्हारी कोई गलती नहीं, कम्पनी के बड़े बेनियन श्री सिपानी तुम्हें नहीं चाहते। साहब लोगों से हिलमिल जाने और बाजार में व्यापारियों से भी अच्छे सम्बन्ध हो जाने के कारण उसे अन्देशा हो गया कि आगे चलकर इस फर्म की बेनियनशिप उनके परिवारवालों को न मिलकर कहीं तुम्हें न मिल जाय। उस समय श्री सिपानी का इतना रोब था कि किसी को भी इस अनुचित आदेश को बदलवाने का साहस नहीं हुआ।

खिन्न मन से घर आ गया। परिवार में उदासी छा गयी। विपत्ति की कल्पना ही शायद सबसे बड़ी विपत्ति है। जब तक सोचता रहा, परेशानी रही। हम दोनों भाइयों ने अपनी स्थिति का अनुशीलन किया। पूँजी थी नहीं, नौकरी भी गयी। अपनी फर्म को बहुत बड़ा घाटा अभी हाल ही में लगा था। पाट के सिवा और किसी व्यापार का व्यावहारिक अनुभव था नहीं। पिछले कर्ज भी उतारने थे, परिवार का व्यय तो रोजमर्रे की बात थी। इतने वर्षों के हमारे संघर्ष में अनुकूल स्थिति के सिर्फ यही बनी कि भाईजी नौकरी पर थे, घर का खर्च हम तात्कालिक रूप में किसी प्रकार चला लेते।

हम दोनों ने तय किया कि निराश न होकर पिछले सात वर्षों में पाट के व्यवसाय में जो अनुभव प्राप्त किया है और बाजार में साख है ही, इस आधार पर कोई स्वतन्त्र उद्योग करना चाहिए। चेष्टा शुरू कर दी। दो-तीन दिन बाद ही हमारे परिचित पाट के एक व्यापारी 'डेडराजजी भरतिया' ने हमें बुलाया और कहा कि तुम दोनों भाई हमारे यहाँ आ जाओ और पाट की बेलिंग (गाठ बाँधने) व दलाली का काम शुरू कर दो। चार आना हिस्सा तुम लोगों का रहेगा, तुम पर हमारा पूरा विश्वास है।

शुभ मुहूर्त देखकर हमने 'डेडराज भरतिया' के नाम से काम शुरू कर दिया। और वायदे की दलाली का अपना काम पूर्ववत् चालू रखा। उसमें भी कुछ अनुभव हो गया था। अतएव अब हम अच्छे व्यापारियों को ही सौदा कराते। इससे हमें अतिरिक्त आय हो जाती।

आंकड़ों के अध्ययन की रुचि मुझे शुरू से ही रही है। जे० टामस बहुत बड़ी कम्पनी थी। उसमें रहने के कारण पाट के आंकड़ों का अनुभव और भी बढ़ा पाया। हमने वायदा बाजार के अपने फर्म से पाट की मासिक रिपोर्ट प्रकाशित करनी शुरू कर दी। इसे मिलों, शिपरों (पाट के निर्यातकों) व व्यापारियों को निःशुल्क भेजते। 'विश्वमित्र'-संचालक स्वर्गीय बाबू 'मूलचन्द

अग्रवाल' का ध्यान इस ओर गया। उन्होंने मुझे अपने रविवारीय अंक के लिए जूट बाजार की रिपोर्ट नियमितरूप से लिखने की प्रेरणा दी।

यह मेरे लेखन का प्रारम्भ था। इस सूत्र से समाचार-पत्रों के साथ मेरा जो सम्बन्ध जुड़ा, आज तक चला आ रहा है। प्रारम्भ तो किया था व्यावसायिक रिपोर्ट से, उसके बाद सम्पादकों ने जो अपनत्व दिया और पाठकों से जो स्नेह मिला, उससे मेरा उत्साह बढ़ता गया और इन सबने मुझे भी एक साधारण लेखक बना दिया।

हमारी मासिक रिपोर्ट की ऐसी साख जमी कि उससे बाजार की तेजी-मन्दी पर असर पड़ने लगा। आँकड़ों के आधार पर बाजार का हमारा विवेचन सही उतरता। हम पाट बाजार के विशिष्ट व्यक्तियों में गिने जाने लगे। उन्हीं दिनों मुझे कलकत्ता बेल्ड जूट असोशियशन का सदस्य चुना गया। यह पाट बाजार की बड़ी और प्रभावी संस्था थी। संयोग से जे० टामस कम्पनी का बड़ा साहब भी दलालों की ओर से उसी संस्था का सदस्य था। अपनी कम्पनी को सेवा से पृथक् किये गये एक सहायक (अन्डर ब्रोकर) को अपने साथ बराबरी के दर्जे में बैठते देख उसे झेंप सी होती।

पहले दो वर्षों में भरतियाजी की साझेदारी में हमें बारह-पन्द्रह हजार रुपयों का सालाना लाभ मिला। संयोग से तीसरे वर्ष डेढ़ लाख का मुनाफा हुआ, हमारा हिस्सा था चालीस हजार। उनके बड़े भाई 'श्री चिमन लाल भरतिया' ने हमें बुलाया और कहा "भाई तुम लोग कोई दूसरा काम देख लो।" हमें लगा कि हमारे चालीस हजार इन्हें अखरे हैं, "पाँच-छः सौ रुपये कमाने वाले को चालीस हजार कैसे दिये जाये।" यह बात भी उन्होंने कही। हमें बड़ी ग्लानि हुई। ईमानदारी और मेहनत का यह नतीजा! उन दिनों पूर्वजों की चलायी व्यावसायिक परम्परा और मान्यताएँ अब जैसी शिथिल नहीं थी कि आज साझेदारी की और कल तोड़ दी—इसे बुरा और अपमानजनक मानते। साझा तभी टूटता जब कोई बेईमानी करके व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्ध करता। हमने ऐसा कुछ किया न था। हमारा नैतिक पद मजबूत था। समाज में आलोचनाएँ उठतीं, शायद पंच भी बैठते, मगर यह सब कुछ हुआ नहीं। हमारे एक मित्र के कहने पर यह रकम तो हमें सौंप दी गई किन्तु साझेदारी से हम अलग कर दिये गये। इन तीन वर्षों की हमारी कुल आमदनी से हमने देस का और कलकत्ते का खर्च बाद देकर ब्याज और असल के साथ कर्ज का बोझ कुछ हल्का कर दिया।

१९२६ में और १९३४ में हमारे लिए अन्तर आ गया था। अब जगह-जगह से काम के लिए आफर मिलने लगे। सत्यनारायण भी कालेज में पढ़ते हुए काम सीखने लग गया। भाई जी के साथ उसने 'नन्दलाल पंसारी' की एक फर्म में भागीदार बनकर काम शुरू कर दिया। कहा जाता है साझा और सम्बन्ध बराबर का ही निभता है। फर्म का काम भाई जी भी सम्हालते, घाटे के लिए हमारी ओर से रुपये भी जमा थे। चूंकि रुपयों के मामले में हम उनसे कमजोर थे इसलिए चेक वगैरह पर सही करने का अधिकार पंसारी जी ने अपने ही पास रखा। लेवा-वेची के मामलों में बिना मतलब दखलन्दाजी से काम में असुविधा होती। भाई जी को स्थिति अखरती, पर उपाय भी क्या ? वे चुप रह जाते।

मैं स्वतन्त्र रूप से पाट की दलाली करने लगा। साथ-साथ जूट-प्रेसों की दलाली का काम भी करता। आमतौर पर लोगों को धारणा है कि दलाली में दलाल का क्या बनता-बिगड़ता ? दो मेढ़े लड़ा दिये और अपना काम बनाया या इसका माल उसे दिलाया, अगला चाहे डूबे या तैरे, पर बात ऐसी है नहीं। दलाल की सबसे बड़ी पूंजी है ईमानदारी और बाजार के रुख को पहचानने की सूझ-बूझ। इसके अलावा अच्छे व्यापारियों से परिचय और उसकी विश्वास-पात्रता। धोखाघड़ी करने वाला दलाल कभी पनप नहीं सकता। अच्छी साख के दलाल की एकाध बार की गलती क्षम्य मानी जाती है। अपने इस व्यवसाय के समय मुझे इसी प्रकार के अनुभव प्राप्त हुए।

श्री जानकीदास शिवनारायण काजड़िया की किराने की बहुत बड़ी फर्म थी। उन्होंने हमारी सलाह से दो लाख रुपयों का पाट लिया। बीस प्रतिशत हमारा हिस्सा रखा। कुछ दिनों बाद इस सौदे में अस्सी हजार का लाभ हुआ। बाजार के रुख की हमारी पहिचान सही उतरी। हमारे हिस्से में सोलह हजार रुपये आये। इस एक मुश्त आय से हमें जितनी खुशी हुई, आज शायद सोलह लाख मिलने पर भी न होगी। सबसे पहले हमने अपने कर्जदारों को निवटाया। श्री केदारनाथ रामनाथ बाजोरिया ने हमें गाढ़े वक्त में उधार दिये थे। जब उसको पाँच हजार की रकम वापस करने लगे तो उन्होंने लिये नही, बल्कि धीरे-धीरे प्रेस की हमारी दलाली में पटा दिये।

इसी प्रकार श्री मुसद्दीलाल डालमिया ने भो हमें हर प्रकार की सहायता दी। ऐसे ईमानदार और उदार व्यक्ति कम ही मिलते हैं। किसी

समय में लखपति थे। धार्मिक आयोजनों में काफी सहयोग देते थे। हैसियत बोरों का अच्छा काम था। एक बार व्यापार में उन्हें बड़ा नुकसान लगा। जितना बन पड़ा भुगतान किया। फिर भी देनदारी रह गयी। जिसके लिए पावनेदारों को रुक्के लिख दिये। रुपयों का घाटा जरूर हुआ पर सूझ बूझ का नहीं। दरभंगाराज का एक जूट प्रेस उन दिनों बिकाऊ था। दाम लगे थे पाँच लाख रुपये। पाँच हजार रुपये बयाने के देकर मुसद्दीलालजी ने प्रेस ले लिया। पचास हजार की रकम अगली किस्त में तीन महीने बाद देनी थी। पास में कुछ था नहीं। मुझे बुलाया और कहा कि प्रेस को किराये पर देना चाहते हैं, व्यापारी की व्यवस्था करो। डालमियाजी के प्रति मेरे मन में विशेष श्रद्धा थी, उनके व्यवसाय-कौशल पर मुझे भरोसा भी था। मैंने एक अच्छे व्यापारी को प्रेस दिला दिया, और किराये के अग्रिम पचास हजार दिला दिये। उन्होंने पहली किस्त निर्धारित समय से पूर्व ही चुका दी। पाँच वर्षों में वह प्रेस उनका अपना हो गया। मौके पर मुझसे कुछ सेवा बन पड़ी इसका भी अच्छा परिणाम रहा। उनका स्नेह मिला और बाजार का विश्वास।

व्यवसाय में ईमानदारी हमेशा व्यक्ति के पनपने में सहायक होती है, भले ही तात्कालिक लाभ न मिले। हम लोगों ने इसका विशेष ध्यान रखा। लोगों का भरोसा बढ़ने लगा। कर्ज अदा करते जाने के कारण विश्वास भी जमा। और हम दूने उत्साह से काम में लग गये। भावों के उतार-चढ़ाव और उसकी संभावनाओं पर हमारे अनुशीलन व विवेचन औरों की अपेक्षा अधिक सही आते, इस कारण हमारी सलाह का महत्व भी बढ़ता गया।

१९३३ मे हमने बहुत से व्यापारियों को अच्छी तादाद में तैयारी पाट खरीदवा दिया और बदले में वायदा बिकवा दिया। एक निश्चित ब्याज की रकम उन्हें मिल जाय, इसकी जिम्मेदारी हमने ले रखी थी। दुर्भाग्य से पाट की गाँठों में आग लग गयी। खबर सुनकर हम तीनों भाई घटनास्थल पर पहुँचे। देखा, लपटें निकल रही हैं। धुआँ गोल चक्कर लगाता हुआ आसमान मे उठ रहा है। ऐसा लगा; मानों हजारों लपलपाती जीभों से आग हमारी तकदीर चाट रही है। लपटों की लाल-पीली रोशनी से रात के अँधेरे में भी उजाला हो रहा था किन्तु हमारी आँखो के आगे अँधेरा छाया हुआ था, उम्मीदें धुएँ की तरह विलीन होती-सी लगीं। आग बुझाने की कोशिश चल रही थीं। दमकलों के आने के पहले ही काफी माल जल चुका था। हम सोच रहे थे कि कितना नुकसान हुआ होगा, कैसे पूर्ति करेंगे? लिखा-

पढ़ी में नुक्स निकाल कर शायद जिम्मेदारी से बच भले ही जावें किन्तु बाद में हमारे प्रति लोगों का विश्वास उठ जायगा। आज हमें ईमानदार और भरोसे का मानते हैं, तब कहेंगे बेईमान है, धोखेबाज है, आदि। अपनी औकात से ज्यादा जिम्मेदारी क्यों ? काम कौन देगा ? ●

सिन्धु सयानो सापुरुष, ए लोरा न कहाय

हमारे लिए यह अग्नि-परीक्षा का समय था। पाट का बीमा किया हुआ था। हिसाब लगाकर देखा, बीमे की रकम मिलने पर भी व्यापारियों के रुपयों का पूरा भुगतान पटेगा नहीं। अतएव हमने तय किया कि जितना अभी अपने पास से दे सकेंगे, दे देंगे और शेष के लिए रुक्का लिख देंगे।

खबर पाते ही व्यापारियों ने हमें बुलाया। सभी परेशान थे। बाजार में हमारे खिलाफ कुछ अनर्गल बातें भी उड़ाई गईं मगर हमने जब अपना निर्णय सुनाया तो उन्हें ढाढ़स ही नहीं बँधा, बल्कि वे बड़े खुश हुए। हमने यह अन्दाज लगाया कि तीस-चालीस हजार रुपये टूट जाएँगे। उन दिनों हमारे लिए यह रकम बहुत बड़ी थी। किन्तु विश्वास था कि दो-तीन वर्षों में मेहनत-मजदूरी करके इसे पूरा चुका देंगे।

संयोग से दो-तीन दिन बाद बीमा कम्पनी के सर्वेयर 'सिकलेयर मरे' ने हमें बुलाया। आग के बारे में कुछ मौखिक जानकारी ली और पूछा कि यह जला-अधजला पाट जिस हालत में है उसी रूप में हम उसे लेंगे क्या? हमने हाँ कर दी और एक निर्धारित मूल्य पर यह भीगा और जला पाट खरीद लिया। शर्त यह रही कि जैसे-जैसे बिकता जायगा दाम चुकाते जाएँगे।

हम तीनों भाई सुबह से शाम तक पाट की गोदामों में खड़े रहते। जले और गीले पाट की बदबू भरे वातावरण में, खुद अपनी निगरानी और निर्देशन में, पाट सुखवाते, बछाई कराते और फिर गाँठ बँधवाते। सुबह सात बजे घर से चले जाते, साथ में लाया खाना वहीं खाते और रात को देर से घर लौटते। एक महीने के अथक परिश्रम का यह फल निकला कि सर्वेयर कम्पनी को जले पाट का दाम चुकाने के बाद भी हमें पचास [illegible] का लाभ हुआ। कहाँ हम यह सोच बैठे थे [illegible] हमें तीस-[illegible] की रकम भरनी पड़ेगी और यहाँ इतना [illegible]

काम के ढंग से बहुत प्रभावित हुए। उनका विश्वास जगा और वर्षों तक वे जले व भीगे पाट-हैसियन को बेचने में हमें प्राथमिकता देते रहे। हमने भी इस काम के लिए एक अलग विभाग खोल दिया जिससे लाखों की आमदनी हुई। इस ढंग के कामों में आमतौर पर धाँधली हुआ करती है। हम जानते और देखते थे कि कभी-कभी बड़ी रकम बना लेना आसान रहता है। मगर इससे लोगों का भरोसा उठ जाता है और दुबारा काम नहीं मिलता। हमने इस बात का बराबर ध्यान रखा कि यदि किसी सौदे में घाटा भी हो तो उसे सह लिया जाय। इसलिए सर्वेयर हमारे काम से सन्तुष्ट रहते और दूसरे सौदे में हमारी हानि की पूर्ति कर देते।

काम के बढ़ जाने से इधर-उधर जाने-आने में काफी समय लग जाता। अतएव हमने २३५ रुपये में एक बहुत पुरानी विलीज कार खरीदी। यह गाड़ी तरह-तरह की आवाजें करती और कभी रास्ते में रुक जाती। मित्रों ने इसे 'उड़नखटोला' नाम दिया। एक दिन कुछ मित्रों के साथ इसमें बैठकर एक शादी में गए। हरीसन रोड—चितपुर के जनसंकुल चौराहे पर गाड़ी अड़कर खड़ी हो गई। बहुत प्रयत्न करने पर भी इंजिन चालू नहीं हुआ। पीछे से आती ट्राम, बस और मोटरों ने आवाजें देनी शुरू कीं। बहुत मुश्किल के बाद ठेल कर एक तरफ हटाने में सफल हुए। हमारे मित्र 'डेडराज जी मरदा' आज तक इस बात को नहीं भूले। इस गाड़ी की मरम्मत का खर्चा इतना अधिक होता कि थोड़े दिनों बाद ही इसे बेच देना पड़ा। काम जम रहा था। हमारा आत्म-विश्वास बढ़ रहा था। अब सामाजिक सेवा-कार्यों में भी रुचि बढ़ने लगी और मैं थोड़ा-बहुत समय इस तरफ देने लगा। इन्हीं दिनों एक ऐसी घटना हुई कि मुझे सक्रिय रूप में सेवा-कार्य में उतरना पड़ा।

१५ जनवरी १९३४ का दिन था। दोपहर के लगभग २ बजे होंगे, अपनी गद्दी में खड़ा कागजों को देख रहा था। मुझे लगा कि चक्कर आ रहा है। पैर लड़खड़ाने लगे। ठीक समझ नहीं पाया कि माजरा क्या है। इधर उधर नजर गयी तो देखा कमरा हिल रहा है। सभी कुछ जैसे झकझोर रहा हो। लोग जोर-जोर से 'राम, राम, राम' हरि, हरि जप रहे हैं, भाग दौड़ मच गई। 'भूकम्प' 'भूडोल' 'बचो' का शोर मचा। शंख की आवाजें भी सामने के बंगाली घरों से आने लगीं। अब समझा कि यह तो भूकम्प है। भूकम्प का नाम सुन रखा था पर असल में क्या है, कैसा होता है, इसका अनुभव इससे पहले कभी हुआ नहीं था। पहला झटका बहुत ही मामूली था मगर दूसरा उससे कहीं ज्यादा।

बड़ाबाजार युवक-सभा में कसरत के लिए जाता। कुछ वर्षों पहले ही बीमारी से उठा था, इसलिए अधिक व्यायाम नहीं कर पाता, फिर भी मुझे निश्चित रूप से लाभ पहुँचा। शरीर और मन स्वस्थ बना। आगे जाकर तो मेरे बल और पौरुष की चर्चा यहाँ के राजस्थानी समाज में होने लगी। गरमी के मौसम में नियमित रूप से कालेज स्क्वायर के तालाब जाता। तैरने का अच्छा अभ्यास हो गया। जब ऊपर से कूदने लगा तो मेरी पत्नी बहुत डर गयी। किसी प्रकार वह अपनी चीख को रोक सकी। घर पहुँचने पर उसने मुझे बहुत समझाया। मै हँसता रहा। आखिरकार पत्नी ने सौगन्ध दिलायी कि ऊपर से भविष्य में नहीं कूदूँगा।

उन दिनों खेलकूद में टेनिस और क्रिकेट आज की तरह जनप्रिय नहीं थे। सबसे अधिक लोकप्रिय खेल था फुटबाल, इसके बाद नम्बर आता था हॉकी का। फुटबॉल के खेल देखने के लिए तो जनता उमड़ पड़ती। जब कभी फाइनल का चेरिटी शो होता तो पहली रात से ही फुटबॉल ग्राउन्ड मे लोग आकर सो जाते या क्यू लगा देते। हम लोग प्रायः शनिवार-रविवार को फुटबॉल का खेल देखने जाया करते। भारतीय टीमों में मोहन-बगान और और ईस्ट बंगाल अग्रणी मानी जाती थीं। इनसे भी ज्यादा नाम था डलहौजी, कलकत्ता, कस्टम और डी० सी० एल० आई० टीमों का। इन टीमों के खिलाड़ी अधिकांश अंग्रेज होते। कुछेक ऐंग्लोइंडियन भी रहते थे, चौड़े और तगड़े। इनके सामने हमारे भारतीय खिलाड़ी कद में छोटे और पतले थे। अंग्रेजों की टीमों के खिलाड़ी काँटेदार बूटों से खेलते मगर हमारे खिलाड़ी नंगे पैरों। फिर भी उनमें कुछ ऐसी फुर्ती और दौड़ने की क्षमता थी कि गेंद को प्रतिद्वन्द्वियों के बीच से निकाल कर गोल कर देते। तालियों की गड़गड़ाहट और नाना प्रकार की हर्षध्वनि से मैदान गूंज उठता। उस समय के खिलाड़ी आजकल की तरह फाउल नहीं खेलते थे और न जनता ही बात-की-बात में मारपीट या दंगा-फसाद पर आमादा होती थी। फिर भी कहीं-कहीं अपवाद हो जाता था।

मोहन बगान की टीम एक बार दरभंगा गयी। उनको वहाँ दरभंगा महाराज की टीम से खेलना था। उस टीम में राजा के नामी-गरामी पहलवान थे। इधर दुबले-पतले मगर फुर्तीले खिलाड़ी। खेल शुरू हुआ। हाफ टाइम तक मोहन बगान चार गोल कर चुका था जबकि दरभंगाराज की टीम के खिलाड़ी पस्त होकर हाँफ रहे थे। महाराज ने अपनी टीम के खिलाड़ियों को बुलाया और धमकाते हुए कहा कि तुम लोगों के खाने-पीने पर पाँच-पाँच रुपये

मेरा ख्याल था कि इस प्रकार के झटके से बड़े-बड़े मकान या तो गिरे होंगे या काफी नुकसान पहुँचा होगा। मगर ऐसा हुआ नहीं, कुछेक मकानों की दीवारों में दरारें जरूर पड़ गयी थीं। तीसरे दिन से तरह-तरह की खबरें आने लगीं। विहार में भूकम्प का प्रकोप बड़ा भीषण था। मोतीहारी, मुंगेर मुजफ्फरपुर में बड़ी विनाशलीला हुई। हजारों मकान ध्वस्त हुए, जमीन फट गई कहीं पानी फूट निकला तो कहीं धरती धँस गयी। नदियों ने मार्ग बदल दिये जिससे गाँव के गाँव उजड़ गये। अनेक लोग मारे गये, घायल हुए, पशुधन का भी बड़े पैमाने पर नाश हुआ, खेती-बारी की बर्बादी से भविष्य अंधकारमय हो गया।

'राजेन्द्र बाबू' ने भूकम्प पीड़ितों के सहायतार्थ सारे देश से अपील की। कलकत्ते में कांग्रेसी कार्यकर्ताओं ने सेवा-कार्य को सुसंगठित करने के लिए विचार-विमर्श किया और तत्काल सहायता पहुँचाने की तैयारी की जाने लगी। सेवा-संस्थाएँ युवक कार्यकर्त्ताओं को और स्वयंसेवकों को भूकम्प पीड़ितों की मदद के लिए विहार भेजने लगी। 'मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी' ने इसके लिए बहुत बड़ा काम किया। जनसंग्रह, धनसंग्रह और वस्तुसंग्रह का काम बड़ी तत्परता से सोसाइटी के द्वारा किया गया। जो जिसके उपयुक्त था, उसे वैसा ही कार्य अथवा दायित्व दिया गया। मेरा परिचय व्यापारी-व्यवसायी समाज से था, इसलिए मुझे बिहार न भेजकर धन एवं वस्तु संग्रह के लिए कलकत्ते में लग जाना पड़ा। ट्रकों में घूम-घूम कर घर-घर से बर्तन कपड़े, दवा, रुपये, पैसे जो भी मिला, इकट्ठा करते रहे। उसी समय से इस सेवा-संस्था से मेरा सम्बन्ध जुड़ा।

काम-काज की व्यस्त दिनचर्या में से कुछ समय स्वाध्याय और मनोरंजन के लिए भी निकाल लेता। यद्यपि स्कूली पढ़ाई तो विशेष नहीं हो पाई तथापि सरदारशहर की पब्लिक लाइब्रेरी से सम्बन्ध रहने के कारण हिन्दी पुस्तकों की काफी जानकारी हो गयी। पढ़ने को रुचि बढ़ती गयी। मैंने महीने में कम-से-कम पाँच पुस्तकें पढ़ने का नियम बना रखा। बड़ाबाजार लाइब्रेरी और मारवाड़ी पुस्तकालय में बराबर जाता। वहाँ दैनिक, सामयिक पत्रपत्रिकाएँ पढ़ता और अपने पसन्द की पुस्तकें घर ले आता। हिन्दी के तीन बड़े पुस्तकालय उन दिनों बड़ाबाजार में थे। दो उपरोक्त और तीसरा था कुमारसभा पुस्तकालय। उस समय तक इम्पीरियल लाइब्रेरी (नेशनल लाइब्रेरी) से लाभ नहीं उठा पाया।

बड़ाबाजार युवक-सभा में कसरत के लिए जाता। कुछ वर्षों पहले ही बीमारी से उठा था, इसलिए अधिक व्यायाम नहीं कर पाता, फिर भी मुझे निश्चित रूप से लाभ पहुँचा। शरीर और मन स्वस्थ बना। आगे जाकर तो मेरे बल और पौरुष की चर्चा यहाँ के राजस्थानी समाज में होने लगी। गरमी के मौसम में नियमित रूप से कालेज स्क्वायर के तालाब जाता। तैरने का अच्छा अभ्यास हो गया। जब ऊपर से कूदने लगा तो मेरी पत्नी बहुत डर गयी। किसी प्रकार वह अपनी चीख को रोक सकी। घर पहुँचने पर उसने मुझे बहुत समझाया। मै हँसता रहा। आखिरकार पत्नी ने सौगन्ध दिलायी कि ऊपर से भविष्य में नहीं कूदूँगा।

उन दिनों खेलकूद में टेनिस और क्रिकेट आज की तरह जनप्रिय नहीं थे। सबसे अधिक लोकप्रिय खेल था फुटबाल, इसके बाद नम्बर आता था हॉकी का। फुटबॉल के खेल देखने के लिए तो जनता उमड़ पड़ती। जब कभी फाइनल का चेरिटी शो होता तो पहली रात से ही फुटबॉल ग्राउन्ड में लोग आकर सो जाते या क्यू लगा देते। हम लोग प्रायः शनिवार-रविवार को फुटबॉल का खेल देखने जाया करते। भारतीय टीमों में मोहन-बगान और और ईस्ट बंगाल अग्रणी मानी जाती थीं। इनसे भी ज्यादा नाम था डलहौजी, कलकत्ता, कस्टम और डी० सी० एल० आई० टीमों का। इन टीमों के खिलाड़ी अधिकांश अंग्रेज होते। कुछेक ऐंग्लोइंडियन भी रहते थे, चौड़े और तगड़े। इनके सामने हमारे भारतीय खिलाड़ी कद में छोटे और पतले थे। अंग्रेजों की टीमों के खिलाड़ी काँटेदार बूटों से खेलते मगर हमारे खिलाड़ी नंगे पैरों। फिर भी उनमें कुछ ऐसी फुर्ती और दौड़ने की क्षमता थी कि गेंद को प्रतिद्वन्द्वियों के बीच से निकाल कर गोल कर देते। तालियों की गड़गड़ाहट और नाना प्रकार की हर्षध्वनि से मैदान गूंज उठता। उस समय के खिलाड़ी आजकल की तरह फाउल नहीं खेलते थे और न जनता ही बात-की-बात में मारपीट या दंगा-फसाद पर आमादा होती थी। फिर भी कहीं-कहीं अपवाद हो जाता था।

मोहन बगान की टीम एक बार दरभंगा गयी। उनको वहाँ दरभंगा महाराज की टीम से खेलना था। उस टीम में राजा के नामी-गरामी पहलवान थे। इधर दुबले-पतले मगर फुर्तीले खिलाड़ी। खेल शुरू हुआ। हाफ टाइम तक मोहन बगान चार गोल कर चुका था जबकि दरभंगाराज की टीम के खिलाड़ी पस्त होकर हाँफ रहे थे। महाराज ने अपनी टीम के खिलाड़ियों को बुलाया और धमकाते हुए कहा कि तुम लोगों के खाने-पीने पर पाँच-पाँच रुपये

रोज खर्च किए जाते हैं। देखने में ही मोटे-तगड़े लगते हो। मगर हार गए इन दुबले-पतले छोकरों से। पहलवान खिलाड़ियों ने झेंपते हुए कहा, "सरकार, रेफी मोहन बगान का पक्ष लेता है। वह हमें 'फाउल' में फँसा देता है।" महाराज ने रेफी को बुलाकर डांटा, 'खबरदार जो फाउल लगाया'। रेफी सकपका गया। खेल आरम्भ हुआ। राजा के पहलवानों ने लंगी मारना शुरू किया और लगे कलकतिया खिलाड़ियों को उठाकर जमीन पर पटकने। वे बेचारे अपनी चोट सहलाने लग गए। इधर दरभंगा टीम ने पाँच-सात गोल कर दिये और बाजी मार ली।

खिलाड़ी और दर्शक खेल को खेल मानकर चलते थे। अच्छे खिलाड़ियों की बड़ी इज्जत थी। जब वे मैदान में उतरते तो दर्शक हर्ष से तालियाँ पीटते, मोहन बगान के बेक के खिलाड़ी गोष्टो पाल की इज्जत उस समय आज के किसी बड़े नेता से कम नहीं थी।

समाज-सेवा, खेलकूद और व्यायाम के अलावा कभी-कभी थियेटर और सिनेमा भी देख लेता। सवाक् चित्र केवल अंग्रेजो में आया करते थे। ये हँसी-मखौल, मार-धाड़ और जासूसी ढंग के होते। हिन्दी में केवल मूक-चित्र ही बनते। दर्शकों को समझाने के लिए फिल्मों के बीच-बीच में संवाद लिखे रहते थे। पौराणिक कथाएँ या हातिमताई आदि अरेबियन नाइट्स के किस्सों पर फिल्में बनती थीं। सन् १९३० में 'आलम आरा' सबसे पहली बोलती फिल्म आयी। मैंने जब इसे देखा तो बड़ी खुशी हुई। सन् १९३४ तक हिन्दी के अधिकांश चित्र मूक फिल्मों की तरह पुराने ढंग के कथानकों पर बनते रहे। कुछेक जासूसी ढंग के भी बने जिनमें मार-धाड़, तलवारबाजी होती थी। सन् १९३४ में हिमांशु राय का 'अछूत कन्या' प्रदर्शित हुआ। निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि तकनीक, कथानक और अभिनय की दृष्टि से हिन्दी फिल्म में इसने एक नया मोड़ ला दिया। मुझे बहुत अच्छा लगा। मैंने अनुभव किया कि यदि स्वस्थ विचार की फिल्में बनायी जायें तो समाज में सुधार की भावना को बड़ी सरलता से जगाया जा सकता है। उक्त फिल्म में अशोक कुमार और देविका रानी नायक और नायिका का पार्ट कर रहे थे। इन दोनों का अभिनय इतना स्वाभाविक बन पड़ा था कि आज भी लोग याद करते हैं। राह चलते लोग इस फिल्म के गाने गुनगुनाया करते थे—

मैं बन की चिड़िया बन के बन-बन बोलूँ रे,
मैं बन का पंछी बन के सँग-सँग डोलूँ रे,

तुम डाल-डाल में पात-पात बिन पकड़े कभी न छोड़ूँ
संग-संग डोलूँ रे……।

बोलती फिल्मों के आने से पहले पारसी थियेटर अधिक आकर्षक थे। कथानक अधिकतर धार्मिक या इश्किया होते जिनकी भाषा रहती उर्दू। इसमें संवाद बड़े जोरदार होते। आठ आने से पाँच रुपये तक की टिकटें रहती। नाटक रात के नौ बजे से आरम्भ होकर दो बजे तक चलते रहते। वे भारतीय, ईरानी और अरब की पुरानी कथाओं पर आधारित होते। बीच-बीच में कौमिक जरूरर हता, भले ही उसका सम्बन्ध मूल कहानी से हो या नहीं। हर संवाद के बाद उर्दू या हिन्दी की शायरी रहती। प्रेम या युद्ध, माँ-बेटे की बातचीत या आशिक माशूक का प्रेमालाप, सबमें तावदार शेर जोर-जोर से कहे जाते। जनता झूम उठती। आज भले ही इन्हें पसन्द न किया जाय मगर वह जमाना था, इन्हीं का। मुझे याद है कई खेलों में मास्टर मोहन और मिस कज्जन को बार-बार तालियाँ पीट कर स्टेज पर बुलाया जाता। वे स्वयं भी इसके लिए तैयार रहते क्योंकि संवाद को पूरा किये बिना ही पर्दे के पीछे चले जाते थे। जो नाटक मैंने देखें, उनमें से कुछ की याद है जैसे 'असीरे हिर्स', 'खूने नाहक', 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'वीर अभिमन्यु'।

घूमने वाले रंगमंच बने नहीं थे। आज की तरह स्टेज पर संलाप जनता तक पहुँचाने के लिए माइक की व्यवस्था भी न थी और न साज-सज्जा का शिल्प ही इतना विकसित था। सीन-सीनरी और चटकोले पर्दों की पृष्ठ-भूमि पर सारा नाटक अभिनीत होता। बड़ी मशक्कत का काम था। क्योंकि एक तो जोर-जोर से संलाप बोलना और दूसरे नायक-नायिका को स्वयं गाना पड़ता था। सन् १९३५ के बाद नाटकों में एक नया मोड़ आया। नारायण प्रसाद बेताब, हरिकृष्ण आदि दर्शकों के प्रिय नाटककार थे। रंगमंच के लोकप्रिय नाटक थे 'गणेश जन्म', 'कृष्ण सुदामा' और 'कृष्णार्जुन युद्ध' आदि। सन् १९३५ में मैंने कृष्ण-सुदामा नाटक देखा। सुदामा की स्त्री का अभिनय कर रहे थे मास्टर निसार। उन्होंने अपनी फटी चुनरी दिखाते हुए एक गाना गाया :—

नहीं यह चूनरी मेरी, मेरे दिल का नमूना है,
फरक इतना ही है कि इस चाक से वह चाक दूना है।

इस गीत को सुन कर वहाँ जितने स्त्री-पुरुष थे, उनकी आँखें गीली हो गयी थीं। आगा हश्र कश्मीरी और राधेश्याम कथावाचक के नाटकों में

पुरानेपन के साथ नयेपन का सुन्दर समन्वय था। 'सीता' नाम के बंगला नाटक की उन दिनों धूम थी। नाटसूर्य शिशर भादुड़ी राम का अभिनय करते थे और सीता का सरयूवाला। परित्यक्ता सीता के विलाप को सुनकर दर्शकों की आँखें भर आतीं और कुछ कमजोर दिल महिलाएँ मूछित हो जातीं। लोग बाँकुड़ा और पूर्वी बंगाल से भी इस नाटक को देखने आते थे।

इन्हीं दिनों सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा भी नाटकों का प्रदर्शन प्रारम्भ हो गया था। इनमें भाग लेने वाले पेशेवर अभिनेता न होकर संस्था के सदस्य हुआ करते। फूल कटरे की हिन्दी नाट्य परिषद और सदासुख कटरे की बजरंग परिषद् इस ढंग की संस्थाओं में अग्रणी थीं। मेरे कई मित्र सदस्य थे। मैं भी कभी-कभी रिहर्सलों में जाया करता। मेरे पुष्ट शरीर की बनावट के कारण मुझे मंच पर उतरने के लिए कहा जाता किन्तु ऐसी प्रेरणा मेरे मन में कभी हुई नहीं।

ऐसे मनोरंजन उन भाग्यशाली लोगों के लिए हैं जिनके पास पैसा और समय है। फिर भी हम महीने-दो महीने में एकाधवार आठ आने या एक रुपये के टिकट में धरमतल्ला के कोरियन्थन थियेटर या हरिसन रोड के आलफ्रेड थियेटर चले जाते। अब तो ये दोनों थियेटर वातानुकूलित सिनेमा हॉल हो गये हैं। वैसे हमारा असली मनोरंजन तो अपने पाट वायदे के फर्म मे ज्यादा-से-ज्यादा दलाली मांड़ने में था।

पाट का यानी वायदे का सौदा अपने आप में एक तरह का व्यापार है। बहुत से लोगों का यही धन्धा है। चीजों का लेन-देन न होकर इसमें केवल जुबानी वादा हुआ करता है। शेयर पाट-बोरे, चाँदी-सोने आदि जिन्सों का सट्टा तो होता ही था, साथ ही एक विचित्र प्रकार का सौदा चलता, बरसात के पानी का। इसके जानकारों को 'रंगबाज' कहते। तपती दुपहरी में ये ऊँची छतों पर चढ़ जाते और आसमान की ओर ताकते रहते। इनमें से कुछ तो इतने माहिर थे कि बता देते कि अमुक बादल कब, कहाँ और कितना बरसेगा। इनका अनुमान बहुधा सही उतरता।

पानी का सट्टा प्रायः दो तरह का हुआ करता, नाली का और खाल का। छत की नाली अगर चल जाती तो घोषणा हो जाती, 'नाली चल गयी' और इससे अधिक पानी बरसता तो उसे 'खाल चलना' कहते। उँगलियों के संकेत से भाव चलते। बारिश होने के पक्ष में रहने वालों को 'लगायीवाल' और विपक्षी को 'खायीवाल' कहते। लाखों की हार-जीत होती। लोग भुगतान

करते, भले ही गहने गिरवी रखने पड़ते। लिखा-पढ़ी का कोई नाम नहीं। भुगतान से लोग भागते नहीं, क्योंकि एक तो उनकी इज्जत जाने का और दूसरे फिर से सट्टा बाजी में सौदा न कर पाने का डर रहता। फिर भी धोखा-धड़ी और चालाकियों के कुछ अपवाद होते। एक बार हल्की सी बारिश हुई। नाली चलने ही वाली थी। इससे दो 'खायीवालों' को हजारों का नुकसान हो जाता। दोनों को एक तरकीब सूझी। वे आपस में लड़ते-झगड़ते नाली के पास गये। एक ने दूसरे की पगड़ी गिरा दी। पगड़ी ने पानी सोख लिया, नाली चली नहीं। लगायीवाल चालाकी समझ गये। थोड़ी झझट के बाद सौदा बराबर में सलट गया।

एक और घटना याद आती है ठीक इसके विपरीत। बरसात हुई, पर बहुत कम। धीरे-धीरे नाली चलती देख खायीवालों को सन्देह हुआ। दौड़कर ऊपर गये तो देखा, कि एक लगाईवाल पेशाब कर रहा था।

जिन्सों और शेयरों के सट्टों में खरीददार को पोतेवाला और बेचनेवाले को मत्थेवाला कहते। इनके तैयारी और वायदे (फ्यूचर) दोनों प्रकार के सट्टे चलते। यूँ तो अलसी, सरसों, गुवार आदि का भी सट्टा होता किन्तु विशेष रूप से पाट-बोरा, चाँदी-सोना और रुई के सौदे रहते। इनमें बड़े-बड़े धनी और उद्योगपति सक्रिय भाग लेते। वायदे के सौदों मे कोई लिखा-पढ़ी नहीं होती। फिर भी पूरी ईमानदारी बरती जाती। लाखों का भुगतान समय पर कर दिया जाता। परन्तु एकाध चालाकी या धोखे-धड़ी की घटनाएँ यहाँ भी हो जाती।

एक बार एक बड़े व्यापारी ने पाट का 'खेला' किया कुछ व्यापारियों को मिलाकर उसने तेजड़ियोंका 'सिण्डीकेट' बना लिया। उनका अनुमान था कि 'ड्यू डेट' (निश्चित तारीख) पर माल कम मात्रा में डिलवरी होने से भाव तेज रहेंगे। हम लोगों ने भी मत्थेवालों का सिण्डीकेट बनाया और माल डिलेवरी की तैयारी जोरों से करने लगे। सैकड़ों बोटों (लोहे की नावों) में पाट की गाठें भर कर खरीददारों के साथ हुए कान्ट्रेक्ट के अनुसार चालान कर दिया। ड्यू डेट आयी। हम लोग जहाजों पर गये तो देखा कि हमारे बहुत से बोट नहीं थे। पिछली शाम को हमारे कर्मचारी उन्हें वहाँ छोड़ गये थे और हम निश्चिन्त थे कि समय के भीतर माल जहाज की किताबों में दर्ज हो जायेगा।

बाजार का भाव ड्यू डेट बीतने पर कट गया और माल हमारे गले रह गया। बाद में पता चला कि खरीददारों ने हमारे माझियों को रुपये देकर बोटों को रातोंरात जहाजों से दूर हटवा दिया था।

इसी तरह बम्बई के एक नामी सटोरिये का चाँदी की तेजी का बड़ा सौदा था। जब उसे पता चला कि कलकत्ते से रेल द्वारा उसके अनुमान से कहीं अधिक चाँदी की सिल्लियाँ बम्बई से आ रही हैं तो उसने अपने विश्वस्त व्यक्ति को मुगलसराय भेजा और वहीं स्टेशन वालों से मिलकर वैगन को रुकवा दिया। समय पर चाँदी बम्बई पहुँच नहीं पायी और वह घाटे से बच गया।

होशियार सटोरिये को 'रुखबाज' कहते। ये लोग कभी-कभी धुन में या तैश में बड़ा सट्टा कर बैठते, अथवा सिण्डीकेट बनाकर मार्केट की कार्नरिंग कर लेते। मगर पासा पलटता देखते तो तरह-तरह के हथकण्डों से अपने को बचाने की चेष्टा करते। इस सन्दर्भ में मुझे एक और घटना का स्मरण है। कलकत्ते में पाट के एक बडे मिल-मालिक के हैसियन बोरों का पोते (खरीद) का सौदा था। किन्तु मिलों में माल जोरों से तैयार हो रहा था। भाव गिरने लगे। मिल-मालिक ने एक बड़े लेबर लीडर को बुलाया और मिलों में हड़ताल करा दी। बाजार की मन्दी रुक गयी और उसे घाटे के बजाय मुनाफा हुआ।

कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि भाग्य ने साथ दे दिया। एक बार एक प्रमुख सटोरिये ने चीन में चाँदी की लेवाली भेजी। भूल से एक सौ की जगह एक हजार सिल्ली का तार उतर गया। बाजार में अच्छी तेजी आयी, उसे लाखों का मुनाफा हुआ। उस रुपये से उसने उद्योग स्थापित किये और कुछ वर्षों में ही बड़ा उद्योगपति बन गया।

एक्सचेन्ज को (जहाँ सट्टा होता) बोलचाल की भाषा में 'बाड़ा' कहते। जैसे पाट का बाड़ा, चाँदी-बाड़ा, तीसी-बाड़ा आदि। इन बाड़ों के केन्द्र (गोल) में इकट्ठे होकर दलाल लोग ऊँचो आवाजों या हाथों के सकेतों से सट्टा करते। समस्त लेन-देन का सौदा इन्ही दलालो की मार्फत होता, जिन्हें फाटके की भाषा में 'मोदी' कहा जाता। प्रायः धनी-मानी सटोरिये अपने निजी आदमियों को दलाल या मोदी का फार्म खुलवा देते और उन्ही की मार्फत सौदा करते। कभी-कभी ऐसा भी होता कि वे झगड़ा-झंझट पैदा करके बाड़ा बन्द करवा देते या अपने मोदियो को फेल करवा देते। इस प्रकार की हरकतों को अच्छा नहीं समझा जाता। वैसे ऐसा होता बहुत कम था।

एक्सचेन्ज में मोदियों को वोट देने, कमेटी के सदस्य बनने और डाइरेक्टर चुनने का अधिकार होता।

बम्बई के एक बहुत बड़े सटोरिये ने घाटे से बचने के लिए एक अजीब टेकनीक अपना रक्खी थी। जब भी उन्हें बड़ा घाटा लगता, अपने मोदियों को बुलाकर कहते, 'देस से आए तुम लोगों को बहुत दिन हो गए, मोदी जाओ घूम आओ' प्रत्येक को दस पन्द्रह हजार रुपये दे देते। वे चुपचाप देस के लिए रवाना हो जाते। इधर बाड़े में भुगतान कौन करे? भागे हुए मोदी 'फेल' घोषित कर दिये जाते और सेठ जी घाटे से बच जाते। कुछ महीने बाद पुनः उन्हीं मोदियों को नए नामों से फर्म खुलवा दिये जाते और फाटका पहले को तरह चालू हो जाता।

जिक्र कर चुका हूँ कि हमारे पाट के आँकड़े प्रायः सही निकला करते थे। किन्तु मैं हमेशा पाट के सौदे में खोता रहा। कारण था कि मैं इसका गुर नहीं जानता था। एक बार सट्टे के सफल व्यापारी श्री राधाकृष्ण मोहता ने मुझे उदास देखा। अलग ले जाकर पूछा, "क्या बात है? उदास क्यों हो? बड़ा घाटा तो नहीं है?" उनका अनुमान ठीक था। मैं घाटे में भीत (डूबा) हुआ बैठा था। वे कहने लगे, आश्चर्य है, आँकड़ों की इतनी अच्छी जानकारी रखते हुए भी तुम हमेशा सट्टे में खोते रहते हो"।

बात-चीत के सिलसिले में उन्होंने मुझे सट्टे के छहगुर बताये :

१. घाटे में बाजार बन्द होने के समय सौदा बराबर कर घर जाओ। रात बासी घाटा कभी मत रक्खें।

२. घाटे में भावों की एक सीमा निर्धारित करो और दलाल से कह रखो कि अमुक भाव आने पर सौदा बराबर कर दिया जाय।

३. अपनी सामर्थ्य से कम सौदा करो।

४. अपने सौदे की तादाद कभी किसी से मत कहो।

५. मुनाफे में धीरे-धीरे सौदा बढ़ाते रहो।

६. अगर बड़ा सौदा हो और सल्टाना हो तो अपने दलालों की मार्फत न सल्टा कर दूसरे नये दलालों से सल्टाना चाहिए। इससे लोग जल्दी से यह नहीं भाँप पायेंगे कि सौदा किसका है।

मैंने कारनेगी की किताबों में भी ऐसी बात पढ़ी थी किन्तु उन्हें अमल में ला नहीं सका।

साधारण व्यक्ति फाटका को जुआ समझते हैं किन्तु सही मानी में ऐसी बात है नहीं। यह एक ऐसा व्यापार है, जिसमें जिन्सों पर किसी का भी एका-

धिकार होना सहज सम्भव नहीं। एक ही निश्चित स्थान एक्सचेन्ज हाल में सौदा होने के कारण इच्छुक व्यक्ति वहाँ इकट्ठे हो जाते हैं और अपनी-अपनी धारणा के अनुसार लेवा-बेची करते हैं।

सट्टा या फाटका एक प्रकार से व्यापार है; मगर इसकी लत बहुत बुरी है। बिना परिश्रम के घंटे भर में हजारों आ जाते हैं। इससे प्रमाद और लोभ बढ़ता है। स्पष्ट है, बिना मेहनत की कमाई से तरह-तरह के व्यसन भी आते हैं। आज के कई उद्योगपति चाँदी, रूई और अफीम के सट्टों से सम्पन्न हुए हैं। किन्तु मैंने यह लक्ष्य किया है कि सब कुछ जानते हुए भी अधिकांश लोग मेरी तरह इस बाजार में रुपये खो देते हैं और लाखों घर उजड़ जाते हैं। तभी तो कहा जाता है कि 'जिसने किया फाटका, घर का रहा न घाट का।'

●

१६

बेनियनशिप

१९३६ के मार्च में मेरे छोटे भाई बृजलाल का विवाह सरदारशहर में था। हम सभी वहाँ गये थे। शादी के दिन ही कलकत्ते से जे० थामस कम्पनी का तार मुझे मिला—"सीपानी का देहांत हो गया, जल्द आओ" पहरावणो (विदा समारोह) को बीच में ही छोड़ कर कलकत्ते के लिये रवाना हो गया और वहाँ जाते ही उक्त फर्म के बड़े साहब से मिला। शुरू से जो साहब मुझ पर कृपालु थे, वे ही अब छोटे से बड़े हो गये थे। भाग्य ने फिर करवट ली। उन्होंने मुझे फर्म की बेनियनशिप दे दी। थोड़ा सा हिस्सा सीपानी के लड़कों के लिए रखा। याद आ गया, इसी कम्पनी में १० वर्ष पहले मैं दो सौ रुपये मासिक की साधारण नौकरी पर था, बिना कसूर मुझे पृथक् कर दिया गया? आज मानो मैं मजदूर से मालिक बन गया हूँ।

'बेनियन' शब्द की उत्पत्ति बनियाँ से हुई है। उस समय जितनी भी अंग्रेजी फर्मे थीं, सबमें बेनियन रहते। इनकी जिम्मेदारी थी स्थानीय व्यापारियों से सम्पर्क स्थापित करना, सौदा करवा देना और डूबते की गारन्टी लेना। बेनियन के अतिरिक्त अंग्रेजी आफिसों में जिम्मेदारी के विभिन्न पदों पर भारतीय थे और इसीलिए यहाँ की भाषा और व्यवहार न जानते हुए भी अठारहवीं शताब्दी में वे विदेशी इतने दूर देश में आकर जमते गये। खेद है कि भारतीय उद्योगपति इन बीच के आदमियों को न रखकर सब लाभ स्वयं लेना चाहते हैं।

सारे पाट बाजार में चर्चा फैल गयी। देश में भी समाचार पहुँचा। बिना किसी जमानत या डिपाजिट के इतनी बड़ी फर्म की बेनियनशिप मिल जाना एक नयी बात थी। बहुत से लोग जे० टामस में गए। साहब को हमारी माली हालत के बारे में बताया। कई बड़े-बड़े व्यापारियों से दबाव भी डलवाया गया। परन्तु बड़े साहब का एक ही उत्तर था - "मैंने जो कुछ किया है, समझ-बूझकर किया है। उसमे अब कोई रद्दोबदल नहीं हो सकता।" यही नहीं, बल्कि साहब दूसरे ही दिन जो-जो व्यक्ति मेरी शिकायत करते, उनके बारे में बता भी देता। पक्का एग्रीमेंट बन जाने के बाद वे ही लोग मेरे

शुभचिंतक बनने का प्रदर्शन करने लगे क्योंकि अब मैं इस स्थिति में था कि उनके कुछ काम आ सकूँ।

इसके बाद तो मैंने इस फर्म में बीस वर्ष तक लगातार काम किया और यह कहूँ तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि पाट बाजार में हमारे नाम की धाक सी हो गयी। सन् १९५७ की फरवरी में जब मैं संसद-सदस्य चुना गया, तब इस काम से मुक्त हुआ। यद्यपि इससे भी पहले कई बार इस बेनियनशिप को छोड़ने की इच्छा जाहिर कर चुका था, क्योंकि विभिन्न सामाजिक कार्यों और निजी व्यापार, उद्योग में व्यस्त रहने के कारण जे० टामस को बहुत थोड़ा समय दे पाता। कार्य का भार था मेरे सहयोगियों पर। किन्तु साहब लोग हमेशा ही हँसकर इस बात को टाल देते थे।

उन बीस वर्षों में कई बड़े साहब रिटायर हो गए और छोटे साहब बड़े बन गए। परन्तु जो जाता, वह मेरे बारे में दूसरे को बता जाता। अंग्रेजों में यह खूबी देखी कि वे पद से चिपके नहीं रहते। इसलिए दूसरों को भी मौका मिलता रहता है। मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि अंग्रेजों का व्यावसायिक चरित्र बहुत ऊँचा था। उनके प्रतिष्ठानों में जो दलाल या बेनियन लग गए, वे दो-दो, तीन-तीन पीढ़ियों तक रहे। उन्होंने अच्छी शर्तें मिलने पर भी वह काम दूसरों को देने की नहीं सोची। इस संदर्भ में रैली ब्रदर्स के बेनियन सर हरिराम गोयनका और ग्राहम के 'सूरजमल शिवप्रसाद' का उदाहरण दिया जा सकता है, जिनको कलकत्ते के मारवाड़ी-समाज में चाँद-सूरज की उपमा दी जाती थी।

सन् १९२६ से १९३६ तक मैं बड़ाबाजार के जिन विशिष्ट व्यक्तियों के सम्पर्क में आया था, जिनके बारे में चर्चा सुनी और जो आज नहीं रहे, उनमें से कुछ का उल्लेख कर देना चाहूँगा।

सर हरिराम गोयनका के विषय में ऊपर लिख चुका हूँ। वे रैली ब्रदर्स के बेनियन थे। मारवाड़ी-समाज में आपका घराना चोटी का है। बेनियनशिप के कमीशन के सिवाय कपड़े में होने वाला मुनाफा वे स्वयम् ले सकते थे, मगर उन्होंने कभी ऐसा नहीं किया। [illegible] के अलावा जो

के द्वारा बनवाया गया था। बदरीनाथ जाने वाले यात्री बदरी-केदारनाथ की जय के साथ एक जय 'सूरजमल शिवप्रसाद' की भी बोल देते थे।

विभिन्न संस्थाओं की सहायता के निमित्त मेरा जुगुलकिशोर जी बिड़ला से मिलने का काम पड़ता रहता। आपने सदा ही अनुमान से ज्यादा दिया। केवल एक बार ऐसा अवसर आया कि कराची के रामकृष्ण मिशन के स्वामीजी को लेकर इनके पास गया। वे वहाँ के आश्रम के अस्पताल के लिए कुछ सहायता चाहते थे। पूछने पर स्वामीजी ने बताया कि हम तो मनुष्य मात्र की सेवा करते हैं, चाहे हिन्दू हो, या मुसलमान। बिडलाजी ने उस समय न कर दिया, मगर जैसे ही हम नीचे उतरे, उनका सचिव दौड़ा हुआ आया और पाँच हजार रुपये दे गया। कितना रुपया इस उदार और महान् व्यक्ति ने अपने जीवन में दिया, इसका अन्दाज नहीं लगाया जा सकता क्योंकि उनका दान अधिकतर गुप्त ही रहता था।

सेठ दुलीचन्द नामी रईस थे। जैसे मोतीलालजी नेहरू की रईसी की कहानियाँ प्रचलित हैं, वैसे ही मारवाड़ियों में सेठ दुलीचन्द की रईसाना तबीयत का बड़ी शान से जिक्र होता है। कहा जाता कि वे एक बार का पहना हुआ कपड़ा धोबी को धुलाई के लिए दे देते। मारवाड़ियों में मोटर कारों के वे प्रथम खरीददारों में थे। इनके पास गौहरजान नाम की प्रसिद्ध गायिका थी। उसके रहने के लिए इन्होंने दमदम में जो बगीचा बनवाया, वह बहुत वर्षों तक कलकत्ते का एक दर्शनीय स्थल रहा। किसी को बहुत बढ़िया और धुले हुए वस्त्र पहने देखकर लोग ताना कसते 'सेठ दुलीचन्द' आ रहा है।

जैसा कि ऊपर लिख आया हूँ, मुझे आज की स्थिति में लाने का श्रेय बंशीधर जी जालान को है। ये और इनके बड़े भाई सूरजमल जी दोनों ही आरम्भ में दलाली या नौकरी करते थे। अपने जीवन काल में ही बढ़कर नाना प्रकार के उद्योग स्थापित किये और बहुत प्रकार की सार्वजनिक व धार्मिक संस्थाओं की स्थापना की। एक बार मैं आसाम के काजीरंगा जंगल के पास स्थित बोकाखाट गाँव में ठहरा। वहाँ के एक मारवाड़ी बन्धु ने टीन की एक छोटी सी दूकान दिखाई, जो कभी सूरजमल जी के पिता हरदेवदास जो की थी। कहाँ वह टीन की छोटी सी दूकान और कहाँ आज के उनके बड़े-बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठान। भाग्य साथ दे तो मनुष्य उद्यम और लगन द्वारा कहाँ से कहाँ पहुँच जाता है।

विश्वमित्र के संस्थापक मूलचन्दजी अग्रवाल से मुझे लिखने की प्रेरणा

शुभचिंतक बनने का प्रदर्शन करने लगे क्योंकि अब मैं इस स्थिति में था कि उनके कुछ काम आ सकूँ।

इसके बाद तो मैंने इस फर्म में बीस वर्ष तक लगातार काम किया और यह कहूँ तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि पाट बाजार में हमारे नाम की धाक सी हो गयी। सन् १९५७ की फरवरी में जब मैं संसद-सदस्य चुना गया, तब इस काम से मुक्त हुआ। यद्यपि इससे भी पहले कई बार इस बेनियनशिप को छोड़ने की इच्छा जाहिर कर चुका था, क्योंकि विभिन्न सामाजिक कार्यों और निजी व्यापार, उद्योग में व्यस्त रहने के कारण जे० टामस को बहुत थोड़ा समय दे पाता। कार्य का भार था मेरे सहयोगियों पर। किन्तु साहब लोग हमेशा ही हँसकर इस बात को टाल देते थे।

उन बीस वर्षो मे कई बड़े साहब रिटायर हो गए और छोटे साहब वड़े बन गए। परन्तु जो जाता, वह मेरे बारे में दूसरे को बता जाता। अंग्रेजों में यह खूबी देखी कि वे पद से चिपके नहीं रहते। इसलिए दूसरों को भी मौका मिलता रहता है। मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि अंग्रेजों का व्यावसायिक चरित्र बहुत ऊँचा था। उनके प्रतिष्ठानों में जो दलाल या बेनियन लग गए, वे दो-दो, तीन-तीन पीढ़ियों तक रहे। उन्होंने अच्छी शर्तें मिलने पर भी वह काम दूसरों को देने की नहीं सोची। इस संदर्भ से रैली ब्रदर्स के बेनियन **सर हरिराम गोयनका** और ग्राहम के **'सूरजमल शिवप्रसाद'** का उदाहरण दिया जा सकता है, जिनको कलकत्ते के मारवाड़ी-समाज में चांद-सूरज की उपमा दी जाती थी।

सन् १९२६ से १९३६ तक मैं बड़ाबाजार के जिन विशिष्ट व्यक्तियों के सम्पर्क में आया था, जिनके बारे में चर्चा सुनी और जो आज नहीं रहे, उनमें से कुछ का उल्लेख कर देना चाहूँगा।

सर हरिराम गोयनका के विषय में ऊपर लिख चुका हूँ। वे रैली ब्रदर्स के बेनियन थे। मारवाड़ी-समाज में आपका घराना चोटी का है। बेनियनशिप के कमीशन के सिवाय कपड़े में होने वाला मुनाफा वे स्वयम् ले सकते थे, मगर उन्होंने कभी ऐसा नहीं किया। कमीशन के अलावा जो भी मुनाफा होता—सारा व्यापारियों को मिलता, इसलिए सैकड़ों प्रतिष्ठित व्यापारी उनकी इज्जत करते थे। इसी प्रकार ग्राहम के बेनियन **शिवप्रसादजी पोद्दार** का नाम भी बहुत प्रसिद्ध था। इनके द्वारा निर्मित धर्मशालाएँ और अन्न-क्षेत्र देश के अनेक स्थानों में हैं। लक्ष्मण-झूला का प्रसिद्ध पुल भी इन्हीं

के द्वारा बनवाया गया था। बदरीनाथ जाने वाले यात्री बदरी-केदारनाथ की जय के साथ एक जय 'सूरजमल शिवप्रसाद' की भी बोल देते थे।

विभिन्न संस्थाओं की सहायता के निमित्त मेरा जुगुलकिशोर जी बिड़ला से मिलने का काम पड़ता रहता। आपने सदा ही अनुमान से ज्यादा दिया। केवल एक बार ऐसा अवसर आया कि कराची के रामकृष्ण मिशन के स्वामीजी को लेकर इनके पास गया। वे वहां के आश्रम के अस्पताल के लिए कुछ सहायता चाहते थे। पूछने पर स्वामीजी ने बताया कि हम तो मनुष्य मात्र की सेवा करते हैं, चाहे हिन्दू हो, या मुसलमान। बिड़लाजी ने उस समय न कर दिया, मगर जैसे ही हम नीचे उतरे, उनका सचिव दौड़ा हुआ आया और पांच हजार रुपये दे गया। कितना रुपया इस उदार और महान् व्यक्ति ने अपने जीवन में दिया, इसका अन्दाज नहीं लगाया जा सकता क्योंकि उनका दान अधिकतर गुप्त ही रहता था।

सेठ दुलीचन्द नामी रईस थे। जैसे मोतीलालजी नेहरू की रईसी की कहानियां प्रचलित हैं, वैसे ही मारवाड़ियों में सेठ दुलीचन्द की रईसाना तबीयत का बड़ी शान से जिक्र होता है। कहा जाता कि वे एक बार का पहना हुआ कपड़ा धोबी को धुलाई के लिए दे देते। मारवाड़ियों में मोटर कारों के वे प्रथम खरीददारों में थे। इनके पास गोहरजान नाम की प्रसद्धि गायिका थी। उसके रहने के लिए इन्होंने दमदम मे जो बगीचा बनवाया, वह बहुत वर्षों तक कलकत्ते का एक दर्शनीय स्थल रहा। किसी को बहुत बढ़िया और धुले हुए वस्त्र पहने देखकर लोग ताना कसते 'सेठ दुलीचन्द' आ रहा है।

जैसा कि ऊपर लिख आया हूं, मुझे आज की स्थिति में लाने का श्रेय वंशीधर जी जालान को है। ये और इनके बड़े भाई सूरजमल जी दोनों ही आरम्भ में दलाली या नौकरी करते थे। अपने जीवन काल मे ही बढ़कर नाना प्रकार के उद्योग स्थापित किये और बहुत प्रकार की सार्वजनिक व धार्मिक संस्थाओं की स्थापना की। एक बार मै आसाम के काजीरंगा जंगल के पास स्थित बोकाखाट गाँव में ठहरा। वहाँ के एक मारवाड़ी बन्धु ने टीन की एक छोटी सी दूकान दिखाई, जो कभी सूरजमल जी के पिता हरदेवदास जी की थी। कहां वह टीन की छोटी सी दूकान और कहां आज के उनके बड़े-बड़े आद्योगिक प्रतिष्ठान। भाग्य साथ दे तो मनुष्य उद्यम और लगन द्वारा कहां से कहां पहुंच जाता है।

विश्वमित्र के संस्थापक मूलचन्दजी अग्रवाल से मुझे लिखने की प्रेरणा

मिली। वे एक साधारण अध्यापक से विख्यात पत्रकार बने। समाज-सुधार के प्रत्येक आन्दोलन में निर्भयतापूर्वक अग्रणी रहे। विश्वमित्र के कालम इन सब समाचारों से भरे रहते। असहयोग आन्दोलन में जेल भी गये। 'दैनिक विश्वमित्र' को अपने खून-पसीने से सींचा। परिणामस्वरूप आज यह न केवल पूर्व भारत के हिन्दी भाषा-भाषियों का सर्वाधिक पठित पत्र है, बल्कि इसकी गणना देश के प्रमुख हिन्दी दैनिकों में की जाती है। सबसे बड़ा काम जो उन्होंने किया, वह था युवकों को प्रेरणा देकर आगे बढ़ाने का।

उस समय **श्री पुरुषोत्तम राय** का नाम बड़ा बाजार कांग्रेस का प्रतीक था। घुंघराले लम्बे केश, सफेद खादी के कपड़े, हाथ में डण्डा और टैक्सी की सवारी। उत्तर कलकत्ता में जहाँ भी कांग्रेस की सभा होती, या कोई आन्दोलन होता, श्री राय सबसे आगे रहते। कई बार जेल जा चुके थे। कार्यकर्त्ताओं के मन मे उनके प्रति श्रद्धा थी, क्योंकि वे सबसे स्नेह-सम्पर्क रखते। जब कभी नाम लेकर पुकारते - मैं गौरव अनुभव करता कि इतना बड़ा आदमी मुझे जानता है।

हिन्दी में बाल साहित्य के सर्वप्रथम लेखक **श्री बैजनाथ केडिया** से मेरा परिचय कब हुआ—याद नहीं। 'हिन्दी पुस्तक एजेन्सी' के माध्यम से आपने उस समय राष्ट्रभाषा का प्रचार किया जब कि वह अपनी शैशवावस्था में थी और थी शासन द्वारा उपेक्षित। जिस प्रकार रामानन्द बाबू 'माडर्न रिव्यू' के माध्यम से रवि बाबू को जनता के समक्ष लाये, उसी प्रकार प्रेमचन्दजी को उर्दू से हिन्दी में लाने का श्रेय **श्री महावीरप्रसाद पोद्दार** और केडिया जी को है। प्रेमचन्दजी की प्रसिद्ध कृतियाँ—प्रेमाश्रम, सेवासदन और सप्तसरोज को हिन्दी पुस्तक एजेन्सी ने ही प्रकाशित किया था। हिन्दी प्रचार के साथ-साथ केडियाजी समाज-सुधार और स्वतन्त्रता-संग्राम में भी सक्रिय थे।

एकलव्य द्रोणाचार्य की मूर्तिपूजा करके बाणविद्या में अद्भुत लक्ष्य-भेदी बन गया उसी प्रकार शरत बाबू (**शरत चटर्जी**) के उपन्यासों को पढ़कर, मुझे लिखने की प्रेरणा मिली। उनका 'देवदास', 'चरित्रहीन', विप्रदास', 'श्रीकान्त', 'शेष प्रश्न', आदि को पढ़कर न जाने कितना रोया, हँसा। इन पुस्तकों के अधिकांश पात्रों के नाम मुझे जुबानी याद हैं। मित्रों की लड़कियों की शादी मे और चीजों के साथ में शरत बाबू की ग्रंथावली अवश्य भेंट के लिए ले जाता हूँ। यह कहूँ तो शायद अत्युक्ति नहीं होगी कि कि शरत बाबू के ग्रथों के खरीददारों की सूची बनायी जाय तो मेरा नम्बर शायद पहला रहेगा।

श्री बसन्तलाल मुरारका अपने ढंग के अनोखे कार्यकर्त्ता थे। कांग्रेस आन्दोलन के लिए जेल जाना हो, समाज-सुधार के लिए गालियाँ खाना हों तो वह सबसे आगे रहते। कभी-कदास मित्र उन पर नाराज हो जाते या उन्हें डांटते, परन्तु वे हँसते ही रहते। मारवाड़ी-समाज में उनकी पत्नी रमा देवी ने उनसे प्रेरणा पाकर आज से ५० वर्ष पूर्व घूंघट का त्याग किया था। बसन्तलालजी विद्वान नहीं थे परन्तु धारा-प्रवाह व्याख्यान प्रायः हर विषय पर देते।

मैं आज जो कुछ भी हूँ इस स्थिति में लाने का अधिकांश श्रेय मेरे श्वशुर हरचन्द राय जी सराफ को है। उन्होंने ही मुझे वंशीधर जी जालान के मार्फत जे० टामस में काम दिलवाया। जब तक हम पति-पत्नी वयस्क नहीं हुए, प्रतिदिन सुबह-शाम हमारी सम्हाल कर जाते। कुछ-न-कुछ चीज लाने का सिलसिला तो उनका अन्त तक रहा। मेरे अपने बच्चे ही नही, बल्कि मकान के दूसरे बच्चे भी उन्हे देखते ही उनके इर्द-गिर्द इकट्ठे हो जाते। वे अपनी चद्दर से निकालकर सबको कुछ न कुछ देते। चाहे फल हो या मिठाई।

जे० टामस कम्पनी के जूट डिपार्टमेन्ट के बड़े साहब मि० बैंक के साथ मैं १६ से २२ वर्ष तक की आयु तक रहा। साढ़े छः फुट लम्बे, अद्भुत शक्तिशाली परन्तु बच्चों का सा सरल स्वभाव। मैं अनुभवहीन और नया-नया था। गलतियाँ होनी स्वाभाविक थी। परन्तु न जाने क्यों मेरे प्रति उनका विशेष स्नेह था। गलती हो जाने पर धीरे से समझा देते और भविष्य में सावधानी के लिए कहते। देश, जाति और गोत्र आदि किसी प्रकार का भी तो सम्बन्ध नहीं था, फिर भी न जाने मुझमे क्यों इतनी दिलचस्पी थी। शायद पूर्वजन्म के संस्कार होगे। सन् १९५० मे जब स्कॉटलैण्ड में उनके गाँव डंडी गया, उस समय वे बहुत वृद्ध हो गये थे, दृष्टि भी कमजोर हो गयी थी परन्तु आवाज से मुझे पहचान गये और परिचारिका से कह कर अच्छा निरामिष जलपान कराये बगैर वापस नही आने दिया।

श्री धनराज बियानी और दीपचन्द चाण्डक मेरे अनन्य मित्रों में थे। हम तीनों गरीबी से जूझते लगभग एक ही समय कलकत्ते आये। अलग-अलग फर्मों में नौकरी और दलाली शुरू की।

धनराज का घराना किसी समय प्रतिष्ठित था। साधारण व्यापार था। दैवयोग से घाटा लगा और देनदारी हो गयी। कारोबार फिर से न जमने के कारण कर्ज चुकाने में गहने, जमीन जायदाद बिक गयी—फिर भी काफी

देनदारी रह गयी। उससे पिता को बहुत सदमा पहुँचा। अपने अन्तिम समय में उन्होंने धनराज को एक पुर्जा दिया जिस पर कर्जदारों के नाम-पते लिखे थे। कहा कि मेरी आत्मा को तभी शान्ति मिलेगी जब ब्याज सहित यह कर्ज चुका दोगे।

दो वर्ष बाद उसके विवाह पर बहू की अगवानी के समय बिरादरी के किसी ने ताना कस दिया कि बाप का कर्ज तो सलटाया नहीं और ब्याह पर मिठाई बनी है। धनराज को यह बात चुभ गई और नवविवाहिता को काकी के पास छोड़कर धन कमाने के लिए परदेस चला गया।

बड़ी मेहनत और ईमानदारी से दस वर्षों में उसने काफी धन पैदा किया। बहुत सादगी और मितव्ययिता से रहता। बीच बीच में देस जाता। काकी कहती रह गयी कि बैठने की जगह बनवा लो पर उसने नहीं माना। एक-एक कर कर्जदारों के कर्ज ब्याज सहित चुकाये। पुर्जे में लिखे नाम के कई एक जो मर चुके थे, उनके पुत्र-पौत्रों के पास जाकर कर्ज चुकाया।

पिता की आत्मा की शान्ति के लिए यह थी उनकी एकान्त साधना। मित्रों में भी उसने इसका कभी जिक्र नहीं किया। लोग यही समझते कि वह कंजूसी कर रुपये जोड़ता है।

सारा कर्ज चुकाने के बाद ही उसने हवेली बनवायी तभी लोगों को पता चला। आज भी जब उनकी याद आती है तो मेरा मन श्रद्धा से अभिभूत हो उठता है।

दीपचन्द चाण्डक मेरे मुहल्ले का था। साथ खेले, पढ़े और बड़े हुए। हम दोनों लगभग एक ही समय कमाई के लिए घर से निकले। खुश मिजाज, व्यवहार और बोलचाल में सलीकेदार था। शुरू से ही हम दोनों में बहुत पटती। पहनावा भी एक-सा ही रहता। बहुधा लोग हमें भाई-भाई समझते।

वह प्रतिभावान था, बुद्धि भी प्रखर थी परन्तु उसका सही उपयोग नहीं कर सका। शायद भाग्य अथवा संस्कार ने उसका साथ नहीं दिया। नौकरी की, व्यापार किया, कारखाने बैठाये पर सफलता कहीं भी नहीं मिली। प्रयोगों में ही उसकी सारी शक्ति और बुद्धि लगती रही। सार्वजनिक कामों की धुन थी। माहेश्वरी समाज में व्याप्त रूढ़िवाद दूर करने के लिए बहुत प्रयत्न किये। खादी-आन्दोलन में भी उत्साहपूर्वक भाग लेता रहा। इन सब कारणों से बढ़ते परिवार और उसके प्रति आवश्यक जिम्मेदारियों पर ध्यान नहीं दे पाता। मेरा दृष्टिकोण भिन्न था, घर की जिम्मेदारियों को मैं बड़ा मानता, इसके

बाद अन्य कामों के लिए सोचता। उसे समझाया भी करता परन्तु वह हँस कर टाल देता। जीवन के अन्तिम समय तक संघर्षों से हँसता हुआ जूझा। मेरा यह साथी छूट गया परन्तु उसकी आत्मीयता और स्नेह की स्मृति आज भी ताजी है।

सामाजिक और राजनैतिक घटनाओं के साथ-साथ जीवन में खेल-कूद भी आवश्यक है। दूसरी झंझटों में व्यस्त रहते हुए भी हम लोग कुछ समय इसके लिए निकाल लेते।

खिदिरपुर स्थित रेसकोर्स की बड़ी चहलपहल रहती। बड़े दिनों में वाइसराय एक-दो बार सपत्नीक अपनी चार घोड़ों की फिटन में रेस देखने जाते। लालदिघी (डलहौजी स्क्वायर) से रेस कोर्स तक उन्हें देखने के लिए लोगों की भीड़ लग जाती। बग्घी के आगे-पीछे दो-दो घुड़सवार हाथ में बल्लम लिये रहते। बहुत से व्यक्ति तो केवल उन्हें निकट से देखने के लिए ही रेस कोर्स की बीस रुपये वाली सबसे ऊँची टिकट लेते।

एक दिन मैं भी रेस देखने गया। आठ आने में टिप की किताब खरीदी। पाँच रुपये किसी एक घोड़े पर लगा दिये। संयोग से वह घोड़ा जीत गया और मुझे २५ रुपये का लाभ हुआ। मैं अपने को रेस का विशेषज्ञ मान बैठा और कई घोड़ों पर दाँव लगाए। बाहर निकला तो ९० रुपये खो चुका था। मेरी तरह और भी अधिकांश व्यक्ति मुँह लटकाए खड़े थे। उस दिन के बाद मैं फिर कभी रेस देखने नहीं गया।

रेस में मारवाड़ी रईसों के भी कई घोड़े दौड़ते थे। इसे वे अपनी शान समझते थे और अंग्रेज साहबों से जान-पहचान का माध्यम।

हम लोगों के लिए सबसे सुलभ और निर्दोष मनोरंजन था—बड़े दिनों पर खेला जाने वाला पोलो का खेल। बीकानेर, जोधपुर और जयपुर के नरेशों की टीमें मैदान में उतरतीं। साथ में रहते सैकड़ों घोड़े और बड़ा-सा काफिला। इनमें से अधिकांश खिलाड़ियों को हम नाम से जानते थे। अंग्रेजों के मुकाबले इन देसी नरेशों के प्रति अपनत्व का भाव भी था। जब इनको जीतते देखते तो मन में गुदगुदी सी होती। ये लोग अंग्रेज खिलाड़ियों से प्रायः तेज रहते और जीत भी अधिकतर इन्हीं की होती, इसलिए हम सभी को बहुत हर्ष होता। एक दिन एक अंग्रेज खिलाड़ी जोधपुर टीम के कप्तान रावराजा हणवंत सिंह का पीछा करते हुए घोड़े पर से गिर गया। चार-पाँच भारतीयों

ने जोर-जोर ताली बजाई। पास में खड़े हुए गोरे सार्जेन्ट ने हम लोगों को घुड़क दिया। हम डर गए। उस समय गोरे सार्जेन्ट का बड़ा आतंक था।

कलकत्ते से ३२ मील दूर डायमण्ड हारबर की यात्रा भी सुखद और रोमांचकारी थी। एक दिन कुछ मित्रों के साथ कार द्वारा वहाँ गया। दूर-दूर तक अनन्त जल-राशि और किनारे तक लहराती तरंगों का दृश्य पहली बार देखा तो आश्चर्यजनक उल्लास हुआ। पहले कभी समुद्र देखा नहीं था—हमने इसी को समुद्र की संज्ञा दी और एक बड़ी नौका लेकर उस (समुद्र ?) में जल-विहार को चल पड़े।

लहरों के उतार-चढ़ाव के कारण नौका जोर-जोर से डोल रही थी। हम भय और आनन्द से सिहर उठे। वैसे कालेज स्क्वायर के तालाब में तैरना सीख चुके थे किन्तु उस बँधे जल और इस अथाह जलराशि में बड़ा अन्तर था। जब वापस लौटे तो भाटा आ गया। नौका और किनारे के बीच दलदल हो गया था। मल्लाहों ने हमें अपने पीछे-पीछे एक निश्चित रास्ते से चलने को कहा। पैर कीचड़ में घुटनों तक धँसते जा रहे थे। मैं गलती से थोड़ा हटकर चलने लगा। देखा कि कमर तक धँस गया हूँ। निकलने के लिए जितना ही जोर लगाया उतना ही धँसता गया। मन भयातुर हो उठा और लगा कि कीचड़-समाधि होने में अब देर नहीं। आसन्न मृत्यु को समक्ष देखकर मनुष्य की सोचने की शक्ति लोप हो जाती है। इस सन्दर्भ में कई शिकारियों के वर्णन पढ़ चुका था, आज प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। किनारे पर के एक मल्लाह ने एक बाँस फेंका और उसी के सहारे मुझे ऊपर खींच लिया। तब जान में जान आई।

बहुत समय पहले, जब खिदिरपुर डाक नहीं बना था, डायमण्ड हारबर विदेशी जहाजों के आवागमन का केन्द्र हुगली (गंगा) यहाँ काफी चौड़ी है। यद्यपि यह स्थान कलकत्ता से सिर्फ ३२ मील दूर है, पर यहाँ का वातावरण भिन्न है। तेज और नम हवा, नारियल और ताड़ के लम्बे वृक्ष और सीधे-सादे लोग।

राजस्थानी कहावत है कि मनुष्य की छाया फिरत-फिरत की है। बुरे दिन के बाद अच्छे दिन भी आते हैं। १९३६ तक हमने ब्याज सहित अपना सारा कर्ज चुका दिया। धुबड़ी (असम) में जहाँ हम प्रथमबार सन् १९२५ में गये थे, वहाँ अब तेल और आटे की एक छोटी सी मिल [illegible] थी। उसका काम छोटा भाई नृजलाल संभालने लगा। जे० टामस [illegible] मुझसे खुश थे। उनमें से एक मि० राबर्टसन [illegible] मामुन [illegible] दोस्ती

थी। उसने हमें इस फर्म के पाट की खरीद का काम दिला दिया। इ० डी० सासुन भारत के विदेशी फर्मों में बहुत बड़ा औद्योगिक प्रतिष्ठान गिना जाता था। उनके बेलिंग विभाग के लिए जितने पाट की दरकार होती, सब हम लोग खरीद करते। काफी जिम्मेदारी और इज्जत का काम था। भाईजी बिड़ला ब्रदर्स की जूट गनी का काम छोड़कर यह काम देखने लगे। इसमें अच्छा कमीशन मिलने लगा।

देश में मन्दी का दौर एक प्रकार से समाप्त हो गया था। जर्मनी और इटली हिटलर और मुसोलिनी के नेतृत्व में युद्ध की तैयारी में लगे थे। इसलिए भारत से अनेक प्रकार के कच्चे सामान खरीद रहे थे।

१९३७ में हमने अपना जूट बेलिंग का फर्म 'टांटिया ब्रदर्स लिमिटेड' के नाम से स्थापित किया। बहुत वर्षों से मन में जो साध थी, वह पूरी हुई। सलकिया (हावड़ा) में एक जूट प्रेस किराए पर ली और भाईजी तथा सत्य-नारायण दोनों यह काम देखने लगे। इसके अलावा बंगाल के कई हिस्सों (गाँवों) मे पाट की खरीदारी भी शुरू कर दी। भाग्य से रोजगार अच्छा होने लगा। हम चारो भाइयों की शादी हो गई थी।

मेरे दो बच्चे थे। परिवार बढ़ रहा था। आवागमन की सुविधा के लिए एक पुरानी कार दो हजार रुपयों में खरीद ली। याद है, जब हम पहली बार अपनी उस बड़ी डाज गाड़ी में बैठकर जूट एक्सचेंज गये तो मन में बहुत हर्ष हुआ।

मैं जे० टामस का काम देखता और भाईजी तथा सत्यनारायण प्रायः ही अपनी पाट की मंडियो में जाते व बेलिंग का काम देखते। सुबह से रात के दस बजे तक उनका काम चालू रहता। उस समय मुनीम-गुमाश्ते भी घड़ी देखकर काम नहीं करते थे। सुबह प्रेस जाते, दिन में काशीपुर या हटखोला, रात में बिलों का भुगतान करते, प्रायः ही ग्यारह-बारह बज जाते। इसी बीच, हमने विदेशों में पाट के निर्यात का काम भी चालू कर दिया।

प्रथम कलकत्ता-यात्रा के प्रसंग में अपने ममेरे भाई दौलतरामजी का जिक्र कर आया हूँ। उस समय उन्होने हमें हर प्रकार की मदद दी थी। लेकिन अब उनका अपना कारोबार बन्द हो गया था इसलिए हम उन्हें अपना हेड मैनेजर बनाकर ले आए। उनका मान-आदर पहले की तरह ही था।

१७

पैरों का चक्कर

मित्र कहते हैं कि मेरे पैर में चक्कर है। शायद यह सही भी है क्योंकि मुझे नए-नए गाँव और स्थान देखने में सदा ही आनन्द आता है। एक जिज्ञासा लेकर नई जगह जाता हूँ और वहाँ पहुँचकर ताजगी महसूस करता हूँ। हर गांव और स्थान की अपनी एक अलग दुनियाँ होती है, एक अलग तहजीब।

कुछ गाँव अतीत की रोमांचकारी दास्तान कहते हैं—वे नवांगतुक को आदिकाल अथवा मध्ययुग में ले जाते है तो कुछ आधुनिक वैज्ञानिक सभ्यता के परिचायक हैं।

इन्ही गाँवों के प्राचीन महलों में प्रतापी राजाओं की गौरवगाथा पढ़ी और यही के टूटे-फूटे खण्डहरों मे सुनी है गुलामों, अबलाओं के उत्पीड़न की करुण कहानी। यहीं के प्राचीन मन्दिरों और आश्रमों मे आर्य सभ्यता और संस्कृति को गौरव प्रदान करने वाले ऋषियों और मनीषियों के दर्शन कर कृतार्थ हुआ और इन्हीं गांवों में मुझे मिले है, महाभारत, रामायण और सूरसागर के कथावाचक और गायक, जो अपनी सरस और सुबोध शैली से जन-मानस को भारतीय दर्शन व संस्कृति के प्रति अनुप्रेरित करते रहे हैं।

हाँ, तो नए-नए गाँवों या स्थानों की यात्रा करना, यहाँ से वहाँ घूमते रहना सदा से ही मेरा शौक रहा है। सन् १९३७ की बात है। एक बार रेल विभाग ने तीसरे दर्जे की टिकट जारी की। महीने भर बंगाल में जहाँ चाहो, घूमो। इस टिकट के दाम थे तीस रुपये। मैंने इसका जितना उपयोग किया, उतना कम व्यक्तियों ने किया होगा। पूर्व बंगाल के मेमनसिंह, ढाका, नारायण गंज, सिलहट, खुलना, चटगाँव आदि शहरों के अलावा पश्चिमी और उत्तरी बंगाल की पूरी परिक्रमा कर आया। टिकट भाड़ा लेकर कुल खर्च हुआ एक सौ रुपयो के लगभग।

दादीजी का उन्हीं दिनों सरदारशहर में स्वर्गवास हो गया। दादाजी के हाथों जाने की उनकी साध भगवान् ने पूरी की। वे पढ़ी-लिखी नही थीं परन्तु उनमें व्यावहारिक ज्ञान-पर्याप्त मात्रा में था। मध्यम श्रेणी के अभाव ग्रस्त परिवार की जिम्मेदारी को उन्होंने मान और इज्जत के साथ निभाया।

बाहर से आने वाले संबंधियों या अतिथियों को कभी यह आभास नहीं होने दिया कि घर में किसी प्रकार का अभाव है। यद्यपि हम उस समय तक कर्ज से मुक्त हो ही पाये थे फिर भी किसी प्रकार तीन हजार रुपये की बचत करके रघुनाथजी के एक छोटे से मन्दिर का निर्माण करा पाये। दादीजी घर के कामों में लगी रहीं, कभी उन्होंने अपने लिए कुछ नही चाहा, वे केवल इतना ही चाहती थीं कि मरने के पहले वे अपने पुत्र-पौत्रों द्वारा प्रतिष्ठापित मन्दिर में भगवान् की पूजा कर सकें। हमे खुशी हुई कि हम उनकी यह आकांक्षा पूरी कर पाये। अब तो यह बहुत सुन्दर और दर्शनीय मन्दिर हो गया है। इसके बाद हमारा सारा परिवार सरदारशहर से बनारस आ गया क्योंकि दादाजी की इच्छा अन्त समय में काशीवास करने की थी।

हम सब भाई बारी-बारी से वहाँ रहने लगे। वैसे माताजो, पिताजी और छोटे भाई-बहन तो वहाँ थे ही। उस समय से जसीडीह और बनारस ये दो स्थान हमे इतने अच्छे लगे कि वहाँ प्रतिवर्ष वायु-परिवर्तन के लिए जाने लगे। मै दादाजी के आने के बाद जब पहली बार बनारस गया तो वे मीरघाट पर किराये के एक छोटे से मकान मे थे। कलकत्ते मे अन्य कामों में फँसा रहने के कारण घरेलू चीजों की खरीदारी नही कर पाता किन्तु यहाँ फुर्सत रहती इसलिए पास की सट्टी में चला जाता। चार आने मे दोनों समय के लिए पर्याप्त सब्जी आ जाती।

कलकत्ते की अपेक्षा काशी का रहन-सहन सादा और सस्ता था। वहाँ पन्द्रह दिन रहा। पत्नी और बच्चों को भी साथ ले गया था। शाम को नौका लेकर घण्टे-डेढ घण्टे गंगा-बिहार कर आते। बहुत वर्षो बाद एक निश्चिन्तता का अवसर मिला। मन में हर्ष, उल्लास और भावी उन्नति का विश्वास था। बनारस की जलवायु मुझे कुछ ऐसी अनुकूल पड़ी कि बहुत भूख लगने लगी। एक रुपये में एक सेर मलाई आती और बारह सेर दूध। मैं जितने दिन वहाँ रहा, आधा सेर मलाई ले आता और हम बहन-भाई मिलकर खाते।

उसी समय से मेरी शारीरिक शक्ति बढ़ती गयी। जब मै खाने बैठता तो माताजी स्वय परोसती और रसोइये को बाहर भेज देती। उनका डर था कि कही मुझे नजर न लग जाय।

बनारस में ही मुझे कसरत का शौक लगा, जो आज तक थोड़े-बहुत रूप में चालू है। जब तक काशो में रहा, रोज गंगाजी में तैरता। एक दिन

बिना सुस्ताए मैंने दो फेरे किये। सुरक्षा के लिए एक नाव साथ ले ली। उन दिनों जो मुझे देखता वह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि सात वर्ष पहले मैं कृशकाय, रक्त-पित्त या क्षय का रोगी था। कलकत्ते में कई बार रसगुल्ला खाने की होड़ लगती, बहुत बार मैं साठ साठ तक एक बार में खा जाता। एक सेर मलाई की बरफी भी एक ही बार में खा जाने में मुझे कोई दिक्कत नहीं होती। पाट की पक्की गाँठ पाँच मन की होती थी, इसे मैं जमीन से उठा लेता। हरे नारियल (डाब) को हाथ में रखकर मुक्के से तोड़ देना मेरे लिए आसान था। इन सब बातों की चर्चा बढ़-चढ़कर फैलती रहती और लोग विशेष अवसरों पर मुझसे आग्रह करते कि मैं पौरुष का परिचय दूँ। किसी शादी गोष्ठी में खाने बैठता तो कई व्यक्ति घेर लेते और बहुत देर तक खिलाते रहते। वे गिनते रहते कि मैंने कितने रसगुल्ले या बादाम की बरफी खाई है। आज सोचता हूँ कि उस समय अपने शरीर के साथ अत्याचार किया, अब उसका फल भुगत रहा हूँ।

बनारस के लंगड़े आम भारत में प्रसिद्ध हैं। उस समय एक रुपये में अच्छे बत्तीस आम आते थे और चार सेर चीनी। छह सेर दूध के साथ इनका रस और चीनी मिलाकर कभी-कभी 'अमरस' की गोठ करते। खाने की होड़ लग जाती। आज तो उन दिनों की केवल स्मृतिमात्र रह गई है। न वह खुराक है, न वैसा स्वास्थ्य और न वे साथी ही।

फुर्सत का समय था अतः कुछ देर दादाजी के पास बैठता, बाकी समय नागरी-प्रचारिणी-सभा में जाकर किताबें और अखबार पढ़ता रहता। किसी समय यह देश मे हिन्दी-पुस्तकों का सबसे बड़ा संग्रहालय था।

महामना मालवीयजी का हिन्दू विश्वविद्यालय एक बेजोड़ संस्था बन गई थी। यहाँ देश के विभिन्न भागों के विद्यार्थी रहते थे। मालवीयजी अनेक कामों मे व्यस्त रहते हुए भी इस संस्था का संचालन स्वयं करते और चोटी के विद्वानों को वहाँ प्राध्यापक रखते। मैं जब कभी विश्वविद्यालय के प्रांगण में जाता, गौरव की अनुभूति होती। इतिहास मे पढ़े प्राचीन गुरुकुलों को याद हो आती। क्या ही अच्छा होता मैं भी इस पुनीत ज्ञानतीर्थ मे विद्यार्जन कर पाता।

वैसे सारा बनारस शहर दर्शनीय है, क्योंकि यह भारतीय संस्कृति का उद्गम स्थल रहा है। यहीं भगवान् तथागत ने ज्ञान-प्राप्ति के बाद अपने शिष्यों को प्रथम उपदेश दिया था। यहाँ से सात मील दूर स्थित सारनाथ

ने ऐसा आकर्षित किया कि बहुत बार शाम को वहाँ किसी टीले पर बैठ जाता और २४०० वर्ष के अतीत में पहुँच जाता। जापान और लंका के बौद्धों ने यहाँ बहुत सुन्दर विहार बनवाये हैं। जुगलकिशोर जी बिड़ला ने अतिथियों के ठहरने के लिए एक अच्छी धर्मशाला बनवाई है। यहीं पर भारत सरकार के पुरातत्व विभाग ने प्राचीन वस्तुओं का एक संग्रहालय भी स्थापित किया है जो इतिहास के विद्यार्थियों के लिए तो लाभदायक है ही—सर्वसाधारण के लिए भी आकर्षण का केन्द्र है।

इसके बाद बनारस कई बार गया। कभी अकेला, कभी परिवार के साथ, क्योंकि दादाजी का सन् १९४० में देहान्त होने के बाद माता जी, पिताजी बहुत वर्षों तक वहीं रहे और हमने अपनी निजी कोठी दशाश्वमेध घाट के पास बना ली थी।

एक बार मैं जसीडीह गया हुआ था। हमलोग वहाँ से पाँच मील दूर डगरिया पहाड़ पर गये। दस-बारह मित्र थे। साथ में एक-दो बच्चे भी। चढ़ाई कठिन थी। एक बच्चा रास्ते में ही थककर बैठ गया और रोने लगा। मैंने उसे अपने कंधे पर बैठा लिया और चढ़ाई-उतराई दोनों ही उसे लिए पूरी की। इस बात की चर्चा जसीडीह में कई दिनों तक रही।

सन् १९३७ में देश में प्रथम बार लोकप्रिय मंत्रिमण्डल बने। लोगों में उत्साह फैला कि पूर्ण स्वराज्य न सही, प्रान्तीय स्वराज्य तो मिला। मुस्लिम लीग के नेता मि० जिन्ना को महात्मा गांधी और पण्डित नेहरू की लोकप्रियता अच्छी नहीं लगी। उनकी शिकायत थी कि कांग्रेस मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करने में असफल रही है और इसके द्वारा मुस्लिम संस्कृति को नष्ट किया जा रहा है।

इन खबरों को समाचार पत्रों में पढ़ता तो मुझे बड़ा क्षोभ होता। एक दिन अपने कांग्रेसी मित्रों में जब मैंने यह कहा कि मि० जिन्ना पाकिस्तान के अपने ख्वाब को सफल बनाने की ओर बढ़ रहे हैं तो उन लोगों ने हँसकर टाल दिया। उनका तर्क था कि देश में अधिकांश समझदार मुसलमान जिन्ना का समर्थन नहीं करेंगे। चूँकि राजनीति मेरा क्षेत्र नहीं था, इसलिए मैं चुप रह गया किन्तु समय ने बता दिया कि मि० जिन्ना द्वारा मजहबी नारों के योजनाबद्ध प्रचार से पाकिस्तान की नींव पड़ी और सभी तबके के अधिकांश मुसलमान लीग के झण्डे के नीचे आते गये। इस प्रकार अंग्रेजों की देश-विभाजन की चाल सफल हुई।

अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर तेजी से परिवर्तन हो रहे थे। जर्मनी की शक्ति बढती जा रही थी। ब्रिटेन, फ्रांस और रूस—यूरोप की ये तीन बड़ी ताकतें युद्ध से बचना चाहती थीं। हिटलर ने इसका फायदा उठाया और पड़ोसी राष्ट्रों को दबाता चला गया। अपने विरोधियों और खासकर यहूदियों पर उसके अमानुषिक अत्याचारों की बातें अखबारों में पढ़कर रोंगटे खड़े हो जाते। बड़े-बड़े यहूदी दार्शनिक, वैज्ञानिक और शिक्षाविद उसके उत्पीडन से तंग आ गये और दूसरे देशों में चले गये।

जो भी हो, दुनिया की उथल-पुथल को मैं अपने व्यापारिक दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न करता। हमलोगों का अनुमान था कि बड़े पैमाने पर युद्ध अब बहुत दूर नहीं। हम दूनी मेहनत और उत्साह से काम में लग गये। सन् १९३८ से हमारा पाट का कारबार बढ़ता ही गया। आगे चलकर तो हम पाट-व्यवसायियों की प्रथम श्रेणी में गिने जाने लगे।

अथक परिश्रम ने मेरे स्वस्थ शरीर पर अपना असर दिखाना शुरू किया। एक दिन भाईजी ने बुलाकर वायु परिवर्त्तन के लिए किसी पहाड़ी स्थान पर जाने की सलाह दी। मेरी भी बहुत दिनों से इच्छा हो रही थी, परंतु काम की अधिकता के कारण संकोच कर रहा था। अगस्त सन् १९३९ में सपत्नीक दोनों बच्चों को लेकर दार्जिलिंग गया। विवाह के उन्नीस वर्षों बाद मौज-शौक को मेरी यह पहली यात्रा थी। इससे पहले कभी पहाड़ी स्थान पर नहीं गया था। सिलीगुडी से पचास मील दूर समुद्र की सतह से सात हजार फीट ऊँचाई पर दार्जिलिंग है। भारत के दर्शनीय मनोरम स्थानों में इसकी प्राकृतिक छटा की चर्चा बहुत बार अपने मित्रों से सुन चुका था। यहाँ पहुँचने के लिए बस और रेल की सवारी करनी पड़ती थी। हमने रेल को चुना क्योंकि यह अपने आप में हमारे लिए एक नया आकर्षण था। तीन-चार डिब्बों की खिलौनानुमा ट्रेन पहाड़ों को सँकरी पगडंडी जैसे घुमावदार रास्तों से जब गुजरती तो रोंगटे खड़े हो जाते। भय और आनंद का मिश्रित अनुभव हमारे लिए अपूर्व था। ज्यों-ज्यों ऊँचाई पर पहुँचने लगे, ठंड लगने लगी। खिड़कियों से दूर-दूर के दृश्य दिखाई देते। लहरों की तरह पर्वत मानों एक दूसरे के पीछे से झाँक रहे हों। चारों ओर हरियाली, छोटे-छोटे गाँव, पहाड़ों पर से बहते झरने। रुई के फाहे जैसे बादलों के टुकड़े उनसे खेल रहे थे। हमने ट्रेन की खिड़की से नीचे झाँक कर देखा कि बादल कहीं नीचे मँडरा रहे हैं तो कहीं किसी पहाड़ी की चाटी पर। एक ओर ऊँचे पहाड़ रास्ता रोके खड़े हैं तो दूसरी ओर गहरी खाई। हजारों फीट नीचे, तिस्ता की मैदानी

भाग में देखा था कितनी चौड़ी, कितनी तेज धारा थी इसकी। यहाँ देखा, ऊँचाई से पहाड़ों की घाटी के बीच रूपहली नागिन सी बल खाती बह रही है। चित्त प्रसन्न हो उठा। कितना सुन्दर है, हमारा देश।

दार्जिलिंग से कंचनजंघा की चोटी खुले मौसम में साफ दिखाई पड़ी। हिमाच्छादित शिखर सूर्य की किरणों से चमक रहे थे। सचमुच ही यह कंचन-शृंग है।

टाइगर हिल से सूर्योदय देखा। यह भी सौभाग्य की बात थी क्योंकि अक्सर बादल आ जाते हैं या मौसम साफ न रहने के कारण वहाँ जाना व्यर्थ हो जाता है। वह दृश्य अनुपम था। अभी अंधेरा ही था। धीरे-धीरे पहाड़ों के पीछे से ऊषा की अरुण आभा झाँकने लगी और गहरी होती गयी। रंगों का अपूर्व खेल था। सारा वातावरण मानों उस अरुणाई में रँग गया। किरणों से खेलते-खेलते भगवान अंशुमाली कब ऊपर आ गये इसका पता नहीं चला। मुझे प्रसादजी की पंक्तियाँ याद आ गयीं :

हिमालय के आंगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार,
ऊषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक हार''''''

दार्जिलिंग वास्तव में प्राची का स्वर्ग है। हम यहाँ की ऊँची-नीची सड़कों पर घूमते या घुड़सवारी का आनन्द लेते। साथ में पुलकित नाम का परिचारक था, जो खाना भी बना लेता, बच्चों को भी खिलाता रहता। तीस वर्ष की लम्बी नौकरी के बाद अब हमने उसे पेंशन दे दी है किन्तु विवाह-शादी के अवसरों पर कभी-कभी बुला लेते हैं।

१८

बीन के मुंडे लार पड़ै तो जनैती के करै

पहली सितम्बर की शाम को वहीं रेडियो पर सुना कि हिटलर ने सारी सन्धियों को तोड़कर युद्ध की घोषणा कर दी। निरीह पोलैंड पर जर्मनी नाजी सेना ने हमला बोल दिया। मुझे लगा कि स्थिति गंभीर हो सकती है। बाजार में घट-बढ़ कब, किस रूप में आ जाय, इसका ठीक नहीं। कंपनी की जिम्मेदारी मेरे ऊपर थी। दूसरे ही दिन हमलोग कलकत्ते के लिए रवाना हो गये।

अगले दिन ब्रिटेन और फ्रांस को भी युद्ध में कूदना पड़ा। लड़ाई के नये-नये समाचार आने लगे। उस समय जर्मनी की शक्ति अजेय मानी जाती थी। थोड़े ही दिनों में उसने डेनमार्क और नार्वे को जीत लिया।

अंग्रेज सरकार ने शत्रुपक्ष की खबरें सुनने पर प्रतिबन्ध लगा दिया फिर भी हम कई दोस्त इकट्ठे हो जाते। दरवाजे बंदकर, बर्लिन रेडियो से प्रसारित समाचार सुनते। अंग्रेजों के प्रति हमारे मन में रोष था। इसलिए जर्मनी की जीत से हमें खुशी होती। सुबह मैदान में और दिन में बाजारों में इन खबरों की चर्चा रहती। हां, एक बात जरूर थी कि हमारी पिछली पीढ़ी के कुछ लोग बहुत विश्वास के साथ कहते, 'देख लेना अन्त में ब्रिटेन जरूर जीतेगा, भले ही जर्मन अभी उछल-कूद ले।' हम हँस दिया करते।

चूंकि मित्र शक्ति (ब्रिटेन और फ्रांस आदि) का विश्वास प्रजातंत्र में था, इसलिए गांधीजी इनका समर्थन कर रहे थे। फिर भी प्रथम महायुद्ध की तरह इस बार उन्होंने ब्रिटेन को सक्रिय सहयोग नहीं दिया। उदासीनता का विशेष कारण था कि सरकार ने न तो युद्ध के उद्‌देश्य को भारत के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट किया और न हमारी आजादी के बारे में कोई योजना या कार्यक्रम ही रखा।

अपने बसेरे से प्राणिमात्र को मोह हो जाता है। २६ नं० ताराचन्द दत्त स्ट्रीट वाले मकान से हमें कुछ ऐसा ही लगाव हो गया था। मगर परिस्थितियाँ मजबूर करतीं कि हम दूसरे मकान में जायें। कारबार जम गया था। परिवार बढ़ रहा था। इसी मकान में मेरी कन्या रत्नी और ज्येष्ठ पुत्र नन्दू का जन्म

हुआ। हमारे छोटे भाई सत्यनारायण और बृजलाल के विवाह हो चुके थे। शुरू-शुरू में दो कमरे थे, अब छह फिर भी जगह की कमी महसूस होने लगी। नाते-रिश्तेदार आते रहते, व्यापार के सिलसिले में भी लोगों का आना-जाना बढ़ने लगा। मकान की सफाई और वहाँ के रहने के स्तर से हमें अब कुछ झेंप सी लगती।

कई बार इरादा किया कि मकान बदल लें। मगर मकान-मालिक और पास-पड़ोस से लेकर नीचे पानवाले तक से इतना अपनापन हो गया था कि विचार स्थगित करना पड़ा। घेलियाजी के घर अगर थोड़ी भी मिठाई बनती तो उनकी माताजी स्वयं हमारे लिए नीचे ले आतीं।

छोटी बहन परमेश्वरी का विवाह इसी भवन में १९३९ में हुआ। इस समय तक हमारे संघर्ष की घड़ियाँ बीत गयी थी और हम सँभल गये थे। फिर भी कर्ज पटाने में बिके हुए गहनों को फिर से बनवा नहीं पाये थे। विवाह का मौका आ गया। स्त्रियों को गहनों के बिना परेशानी सो हो रही थी। पड़ोस में 'बुधमलजी भूतोड़िया' की पत्नी ने हमारी कठिनाइयों को समझ लिया। इस अवसर पर पहनने के लिए अपने दो-तीन सेट गहने दे गयीं।

एक बार ऐसा हुआ कि हमने नया मकान खोज लिया और तय कर लिया कि जगह बदल देनी है। मकान-मालिक वासुदेवजी घेलिया को पता चला। उन्होंने कहा, "ईश्वर की कृपा से आप सम्पन्न हो गये हैं। मैं जानता हूँ, आपका परिवार बढ़ गया है और जगह की दिक्कत होती है।" फिर मुस्कुराते हुए बोले—"हमारे मकान से जो भी किरायेदार जाते हैं, वे अपने निज के मकान में जाते हैं। फिर क्यों न आप थोड़े दिन और ठहर जायें और मकान बनवा कर जायें।"

हमलोग जानते थे कि जितना किराया हम दे रहे हैं, कमरे छोड़ने पर उन्हें दूसरे किरायेदारों से उससे दूनी रकम मिल सकती है। फिर भी अपना आपसी स्नेह और सौजन्य कुछ इतना गहरा था कि रुपयों को उन्होंने बड़ा नहीं समझा। परन्तु जाना तो था ही, इसलिए शुभ मुहूर्त देखकर नये मकान में जाने की तैयारी कर ली।

सामान ट्रक में लादा जा रहा था। हमारा दिल भर आया। दस वर्ष पहले कष्टमय स्थिति में आये थे। हम सबने बचत का ख्याल कर अपने हाथों से सब काम किये। मकान के सभी लोग आपस में घुल-मिलकर एक परिवार से बन गये। न जाने ऐसी आत्मीयता कहीं मिलेगी या नहीं। विदा के समय

हमारे हाथ जुड़े रह गये, कुछ कह न सका। आँखें नम हो आयीं, बच्चे तो रोने लगे थे।

नया मकान 'राम भवन' विवेकानन्द रोड पर था। पूरी दूसरी मंजिल हमने ली। पांच बड़े-बड़े साफ-सुथरे हवादार कमरे थे। रोशनी, पानी की सुविधा थी। पड़ोसी भी अच्छे मिल गये। जहाज का पंछी उड़-उड़कर फिर उसी पर आता है। अपने पुराने मकान से मुझे इसी ढंग का लगाव था। मेरे पैर अनजाने में मुझे वहीं ले जाते। रात की बैठक पहले की तरह जमती घंटे-डेढ़ घंटे घेलिया जी की नीचे वाली गद्दी में बैठते, ताश खेलते या गपशप करते।

हमारे दोस्तों के बीच यह मकान काफी मशहूर हो गया था। यहाँ ताश-शतरंज के अलावा आपस की हँसी-दिल्लगी, खाने-पीने का मौज-शौक चलता। उस मकान का हमारा पड़ोसी आशाराम बियानी मेरी ही तरह भोजन-पटु था। इसे हम मकान वाले ही जानते, बाहरवालों से कहते नहीं। हमारी बैठक में कभी कोई तबीयतदार नये व्यक्ति आ जाते तो हमारे गोल के एक बन्धु खाने, खिलाने और खाने वाले की चर्चा छेड़ देते। बातचीत के सिलसिले में नये सज्जन जब कहते कि "नहीं-नहीं, तीन सेर दूध एक बार में पी जाना असम्भव है।" आशाराम तुरन्त कहता, "ऐसी क्या बात है, कोई पिलाये तो मै दो सेर पी लूंगा। हाँ, इससे ज्यादा नहीं।" हम में से कुछ मना करते तो कुछ बढ़ावा देते। आखिर, कुछ देर बाद तीन सेर पर दस-दस रुपयों की शर्त हो जाती। फौरन पास की दूकान से दूध मँगाया जाता और आशाराम अगस्त मुनि की तरह सामने का छोटा सा क्षीरसागर गले के नीचे उतार लेता। ऊपर से कुछ नमकीन भी। आगन्तुक बेचारा देखता रह जाता, चुपचाप दस रुपये निकाल देता। जीते हुए रुपयों से हमलोग पान-पत्ते और मिठाइयों का प्रबन्ध करते। इसी प्रकार, कभी साठ-साठ रसगुल्ले, कभी बरफी तो कभी सेरों रबड़ी या मलाई खाने की शर्तें मैंने और आशाराम ने जीती।

आशाराम के भाई भैरोदानजी और रंगलालजी थे। इन लोगों ने भी उसी मकान में तरक्की की। अब वे अपने मकानों में चले गये। वे अपनी एक मजेदार घटना सुनाते थे। वर्षों पहले आशाराम अपने भाई रंगलालजी के साथ आरमेनियम स्ट्रीट के एक बासे (ढाबे) में भोजन करता था। ढाबा साझे का था, जितने सदस्य होते, सबों पर कुल मासिक खर्च बँट जाता।

हमारे वियानी बन्धु भोजन वीर थे ही। दोनों भाई डटकर खाते। लोगो ने हिसाब लगाकर देखा कि खुराक के औसत खर्च के अनुपात से प्रत्येक सदस्य को तीन-चार रुपये प्रति माह अधिक लगे हैं। आशाराम और रंगलालजी की जो उन्होने खुराक देखी तो सबने हाथ जोड़ लिए और अपने वासे की सदस्यता से दोनों को पृथक् कर दिया।

वाद में वहुत वर्षों तक शनिवार, रविवार या कभी रात्रि में अपने पुराने वसेरे में मन वहलाने जाता। पिछलो बातें याद हो आती। हम कितना ऊधम मचाते थे। घेलियाजी की गद्दी मे। कुश्तियाँ हो जातीं, वाह-वाह का शोर मचता। कितने वेफिक्र थे उस समय।

इस मकान के वाहर छोटू पानवाला था। हम उसे बहुत परेशान करते। यह कहकर उलझ जाते कि पान एक पैसे में सिर्फ दो ही देता है पर मसाला पूरा नहीं देता। छोटू भी कम नहीं था, हाथ-पैर जोड़कर पैसे वसूल ही लेता था।

अव भी कभी-कभी चला जाता हूँ। छोटू के बेटे-पोते बैठते हैं। पान लेता हूँ और कुछ क्षणों के लिए ही सही, अपनी पुरानी दुनियाँ में खो जाता हूँ।

संयोग से एक दिन वहाँ छोटू को देखा। पिचके गाल, सफेद बाल और टूटे दांत। ऐसा लगा यह छोटू नहीं, उसकी छाया है। किन्तु सहसा ख्याल आया, मैं भी तो पैंतीस वर्षो में इसी तरह बदल गया हूँ। काल किसी को नहीं छोड़ता, राजा हो या रंक।

तीन वर्ष काशीवास करने के वाद १९४० में मेरे दादाजी का स्वर्गवास हो गया। परिवार के लोग जहाँ भी थे, समाचार पाकर दूसरे ही दिन काशी पहुँच गये। उनसे अन्तिम समय मिल न सका, इसका दुःख रह गया। माताजी ने बताया कि जीवन की अन्तिम साँस तक वे 'राम-राम' जपते रहे।

दादाजी का भी जीवन संघर्षपूर्ण रहा। बहुत ही छोटी उम्र में जीविका के लिए अपने गाँव विदासर को छोड़कर सरदारशहर चले आये थे। उन दिनों न आवागमन की इतनी सुविधा थी, न व्यापार-व्यवसाय के साधन सहज उपलब्ध थे। कठोर परिश्रम कर उन्होंने व्यापार किया और अपने पैरों पर खड़े हुए। हमारी हवेली उन्होने ही बनवायो। दादीजी हमेशा कहतीं, "बेटा इसके हरेक भाटे में तुम्हारे दादाजी का पसीना है। बड़ी साध से

हमलोगों ने इसे बनाया है। २० वर्षों के लम्बे अर्से तक रामजी से प्रार्थना की थी कि हमारे अपने बैठने के ठाँव हो जायें।"

दादाजी जब तक जीवित रहे, उनकी उपस्थिति या अनुपस्थिति का मुझे भी इतना बोध नहीं हुआ। अभाव सदैव अखरता है। आज के संध्याकाल में जब मेरे नाती-पोते दुलार के लिए मेरी गोद में लोट-पोट मचाते हैं, तब मैं भी अपने दादाजी की प्यार-भरी थपकियाँ खोजने लगता हूँ।

बचपन में पन्द्रह वर्ष तक उनके पास रहा। समझ आने के बाद फिर कभी अधिक रहने का अवसर नहीं मिला क्योंकि कमाई के लिए कलकत्ता आना पड़ा। मगर जो कुछ भी उनसे जाने-अनजाने में सीखा, वह केवल उनके आचरण और व्यवहार से। वे बहुत ही संयमी और परिश्रमी थे। 'राम' के बड़े भक्त थे। सादगी तो मानों उनके स्वाभाव का अंग ही बन चुकी थी। उन्हें सदैव एक ही ढंग के पहरावे में देखा-पगड़ी, अंगरखा, चद्दर और धोती, पैरों में देसी जूते। सर्दियों में ऊपर से कम्बल डाल लेते। शायद इसीलिए मुझे कुर्ता और धोती पहनने की आदत है। पगड़ी का तो रिवाज ही उठ गया। उनकी सादगी और मेहनत मुझे कैसे प्रभावित कर गयी—यह नहीं जानता। दादाजी से सुना करता था, अपने प्रारम्भ के दिनों में कितनी जोतोड़ मेहनत उन्हें करनी पड़ी थी। राजस्थान के मरुअंचल में तीस-तीस कोस ऊँट की सवारी कोई साधारण बात नहीं। मगर दादाजी माल लाते और तिजारत करते।

उनकी अपनी सन्तान नहीं थी। पिताजी उनके दत्तक पुत्र थे। वे दादीजी के बड़े भाई के लड़के थे। जो भी हो, पिता-पुत्र के बीच स्नेह, आदर और अनुशासन की मर्यादा जैसी हमने देखी, वैसी शायद ही कहीं देखने को मिले।

वे रामसनेही सम्प्रदाय के थे। जीवन में उन्होंने कई करोड़ 'राम' नाम जपे थे। सारे काम करते जाते, मगर जप नहीं छूटता। शादी-ब्याह, पर्व-त्योहार हो या व्यापार, जीवन के बयासी वर्षों के साथ 'राम' चलता ही रहा। प्रत्येक चौमासे में बाहर के साधु-महात्मा रामद्वारे में आकर ठहरते। दादाजी नित्यप्रति वहाँ जाते और साधुओं को भक्तिपूर्वक भण्डारा कराते। हम बच्चों को भी साथ ले लेते। हमारे लिए तो सबसे बड़ा आकर्षण था प्रसाद के बताशे और मीठे चने।

मैं, दादाजी की सी राम-भक्ति अपना नहीं सका। फिर भी उनके राम

नाम के 'चमत्कार' के दो-एक दृष्टान्तों पर मन में आज भी कभी-कभी जिज्ञासा जग उठती है। मेरी छोटी बहन महादेवी का सन् १९२३ में विवाह था। हमारी आर्थिक अवस्था जटिल थी। 'तियल' के नेग के लिए दो सौ अस्सी रूपयों की व्यवस्था नही हो पा रही थी। दादीजी के पास जो कुछ था, सब दे चुकी थीं। कहीं से कुछ भी आशा नही थी। पिताजी बड़े पसोपेश में थे। मगर दादाजी का 'राम' पर विश्वास था। उन्होने धैर्य नही छोड़ा। थोड़ी देर मे हमारे एक दूर के सबंधी आये और स्वयं ही पाँच सौ रुपये उधार दे गये।

दूसरी घटना मेरे साथ काशी में हुई थी। छोटा भाई सत्यनारायण यात्रा में गया था। दादाजी के कहे अनुसार मैंने बड़ी भक्ति से 'राम' नाम लेना शुरू किया। भाई मिल गया। इसका जिक्र मैं पहले कर चुका हूँ।

दादाजी को दीर्घायु मिली। अपने जीवन के अन्तिम समय में उन्होंने हमें फलते फूलते देखा। मगर अपना आचार और विचार उन्होंने एक-सा ही रखा। मृत्यु के पूर्व उन्होंने जिन सार्वजनिक कामों के लिए माताजी और पिताजी को कहा, उन्हें आगे चलकर हम पूरा कर सके, इसका संतोष माताजी और पिताजी को रहा। यह दादाजी का ही आशीर्वाद था।

सन् १९४० के जून में फ्रांस की राजधानी पेरिस को जर्मन सेनाओं ने दखल कर लिया। हम समझते थे कि फ्रांस विश्व में बेजोड़ अपने इस शहर के लिए अवश्य लड़ेगा। मगर आश्चर्य हुआ, जब बिना प्रतिरोध के जर्मन बड़ी शान से पेरिस में घुस पड़े। संभव है, फ्रांस की विलासिता और नैतिक पतन इसका कारण रहा हो।

ऐसे उदाहरण इतिहास में कम ही होते हैं। अवध का पतन भी १९ वीं शताब्दी के मध्य में कुछ इसी प्रकार से हुआ था। अंग्रेज सैनिकों की छोटी सी टुकड़ी ने नवाब वाजिदअली शाह को गिरफ्तार करके निर्वासित कर दिया। उनकी फौजें और लखनऊ के वाशिन्दें ऐयाशी, मौज-शौक व अफीम-सेवन में डूबे हुए थे। न एक कतरा खून गिरा और न कोई घायल हुआ-अवध पराधीन हो गया।

रूस ने देखा कि जर्मनी एक के बाद दूसरे देश जीतता हुआ, फ्रांस को पराभूत कर बैठा तो उसने हिटलर से संधि कर ली। इसके बाद पोलैण्ड और फिनलैण्ड पर रूसी सेना ने जो अत्याचार किये, उन्हें पढ़कर मेरे मन में

राहुलजी की पुस्तकों के अध्ययन से जो धारणाएँ रूसी साम्यवाद के प्रति बनी थीं, उनमें अन्तर आ गया।

डेनमार्क में ब्रिटिश सेना को जर्मनी ने करारी हार दी। काफी नुकसान उठाकर बचे-खुचे सैनिक जान बचाकर ब्रिटेन पहुँच पाये। अब ब्रिटेन के लिए जीवन-मरण का प्रश्न था, क्योंकि युद्ध उनके दरवाजे तक चला आया। मुझे अच्छी तरह याद है, हमारे आफिस के अंग्रेज साहबों का चेहरा इन समाचारों से काफी गंभीर हो गया था। यह पहला मौका था, जबकि मैंने सचमुच उन्हें कुछ चिन्तित पाया।

ब्रिटेन के मन्त्रिमण्डल में परिवर्तन किया गया। चैम्बरलेन की जगह विन्स्टन चर्चिल प्रधान मंत्री बने। उस समय इस विश्वविश्रुत कूटनीतिज्ञ ने अपने देशवासियों को जो संदेश दिया, वह इतिहास में बेजोड़ कहा जा सकता है। उसने कहा था, "मेरे पास आपको देने के लिए न आशा है, न भरोसा, केवल आँसू है। परंतु मैं यह कह सकता हूँ कि अंतिम विजय हमारी होगी।" इन शब्दों ने किंकर्तव्यविमूढ़ ब्रिटेन की जनता पर जादू का-सा असर किया। उनमे आत्म-विश्वास जगा और वे दृढ़तापूर्वक युद्ध के लिए डट गये।

ब्रिटेन पर संकट था, किन्तु भारत पर इसका कोई खास असर नहीं दिखाई पड़ा। कलकत्ते का वातावरण साधारण रूप से यथावत् रहा। हाँ, पिछले महायुद्ध के अनुभवी व्यापारी अटकलें लगा रहे थे कि लड़ाई लम्बी चली तो निश्चित रूप से बाजार अच्छे रहेंगे।

इसी बीच, सन् १९४१ में कुछ महत्वपूर्ण घटनाएँ कलकत्ते मे हुई। कुछ दिनों की बीमारी के बाद कवि गुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर का देहान्त हो गया। उनकी बहुत सी रचनाएँ पढ़ चुका था। प्रतिभा का कायल था। गीताञ्जलि का हिन्दी अनुवाद पढ़ने पर मुझे इतना अच्छा लगा कि मूल बंगला में पढ़ने की प्रेरणा हुई।

भारत का यह सौभाग्य था कि एक ही शताब्दी में दो युग पुरुषों ने यहाँ जन्म लिया, महात्मा गांधी और कवि गुरु रवीन्द्र ठाकुर। बापू ने राष्ट्र क्रिया-पक्ष में तो गुरुदेव ने भाव पक्ष बुद्धि पक्ष मे नवीन प्राणों का संचार किया। नाना प्रकार की झझटों के कारण चाहते हुए भी मैं उस समय तक शान्ति निकेतन नही जा पाया था। मगर मन मे सन्तोष था कि रवि बाबू को उनके स्वरचित नाटक 'चंडालिका' और 'चिरकुमार सभा' में अभिनय करते देखा। 'चंडालिका' मे उनका मेघ गम्भीर स्वर सुना था, जबकि 'चिरकुमार सभा' में नायक के रूप में उन्होने हमें बहुत हँसाया।

रवीन्द्रनाथ के जीवन बोध की पृष्ठ-भूमि में भारतीय चिन्तन और उपनिषदों की भाव धारा स्पष्ट है। कविता, नाटक, निबन्ध, उपन्यास, संस्मरण सभी रचनाओं में उन्होंने अपने अन्तःकरण की उपलब्धियों को अभिव्यक्त किया है। यही कारण है कि जनमानस को वे इस युग में, तुलसी की तरह आलोड़ित कर सके।

गुरुदेव की मृत्यु के समाचार से मुझे बहुत सदमा पहुँचा। लगा कि देश ने कोई बहुत बड़ी निधि खो दी। बार-बार यही दुःख होता कि अपने समय के ऋषितुल्य एक महान् व्यक्तित्व के सान्निध्य-लाभ से वंचित रह गया। उस दिन कुछ भी नहीं कर सका। सीधे, उनके निवास-स्थान जोड़ासाँकू राजभवन में गया। सफेद फूलों से ढका उनका पार्थिव शरीर रखा था। देखा, चिर निद्रा में सो रहे हैं किन्तु मुखमंडल पर वही सौन्दर्य, आभा और आकर्षण।

अंतिम दर्शन के लिए भीड़ बढ़ती जा रही थी। कहते हैं, पहले कभी, इतनी बड़ी संख्या में लोग किसी शव-यात्रा में शामिल नहीं हुए। जिधर दृष्टि जाती, अपार जन-समूह। कौन हिन्दू, कौन मुसलमान या क्रिस्तान, अमीर-गरीब किसी भेदा-भेद का पता नहीं। लगता था, मानव-सागर के बीच एक श्वेत कमल बहता जा रहा है। मेरी आँखों से न जाने कब आँसू बहने लगे।

दूसरी घटना थी, श्री सुभाषचन्द्र बोस का अचानक गायब हो जाना। वे कुछ दिनों से बीमार थे, जेल से छोड़ दिये गये थे। अपने एल्गिन रोड वाले मकान मे नजर बन्द थे। आने-जाने, मिलने-जुलने वालों पर पुलिस कड़ी नजर रखती। वे बाहर निकल नही सकते थे।

वे खासतौर से बंगाल के युवकों के हृदय-सम्राट् थे। उनकी स्पष्ट-वादिता और ओजस्वी भाषण से हमें जोश आता। त्रिपुरा अधिवेशन के बाद से कांग्रेस मे उनके साथ न्यायोचित व्यवहार नही हुआ। महात्मा गाधी का रुख भी हमें पक्षपात पूर्ण लगा, इसलिए हम दुःखी थे और सुभाष बाबू के प्रति हमारी गहरी सहानुभूति थी।

उनके एकाएक अदृश्य हो जाने के समाचार से सारे देश में सनसनी फैल गयी। लोग तरह-तरह के शक करते कि ब्रिटिश सरकार ने उन्हें मारने के ख्याल से गायब कर दिया होगा। कुछ लोग कहते कि रूस या जर्मनी चले गये, इत्यादि।

सरकार ने सारे देश में जासूसों का जाल बिछा दिया पर वे पकड़ में

नहीं आये और न उनका पता ही चला। बहुत दिनों बाद खबर लगी कि काबुल होते हुए सुभाष बाबू सकुशल जर्मनी पहुँच गये। इस समाचार से हम बहुत आश्वस्त हुए। सोचते थे कि अवसर पाकर वे बहुत बड़ी सेना के सहारे देश को स्वाधीन करेंगे।

ऐसा हुआ भी। उन्होंने 'आजाद हिन्द फौज' का संगठन किया और आजादी की घोषणा की। यह इतिहास की सुप्रसिद्ध घटना है। सुभाष बाबू में विचित्र आकर्षण था। जब भी मौका मिलता, उनके भाषणों को जरूर सुनता। सारे काम एक तरफ रह जाते। उनके दीप्त मुखमण्डल और ओजभरी वाणी की ओर खिंच सा जाता।

मैं प्रयत्नशील रहा हूँ कि बड़े लोगों के सान्निध्य का सौभाग्य मिले, चाहे वे किसी भी क्षेत्र के हों। पर मुझे नेताजी से भेंट का अवसर नहीं मिला। उस समय तक राजनीति मेरा क्षेत्र नहीं था, शायद इसीलिए आज भी मन मसोस कर रह जाता हूँ।

सन् १९४१ का वर्ष अंग्रेजों की हार का था। लन्दन पर लगातार बम्बारी होती। सामुद्रिक युद्ध में भी बहुत से वाणिज्य पोत और युद्ध पोत डूब गये। हम आपसी बात चीत में कहा करते कि ब्रिटेन किसी भी समय घुटने टेक देगा। कोई किसी शर्त में हारता तो कहा जाता, चर्चिल हार गया, हिटलर जीत गया। आपस में कभी-कदास हार-जीत होती तो हारने वाले को हम लोग कहते चर्चिल और जीतने वाले को हिटलर।

एक दिन शाम को बड़ा बाजार से होता हुआ घर लौट रहा था। एक जगह देखा, भीड़ लगी हुई है। दो सांड़ लड़ रहे थे। काले सांड़ को 'हिटलर' और सफेद को 'चर्चिल' का नाम दिया गया था। काला कुछ छोटा मगर जवान था और सफेद बड़ा था, उम्र भी ज्यादा थी। जमकर दोनों आपस में गुंथे हुए थे। कभी सफेद पीछे हटता तो कभी काला। दर्शक ललकारते और ताव दिला रहे थे। एकाएक काले सांड़ ने अपने सींगों से सफेद पर ऐसा दाँव लगाया कि उसके पैर उखड़ गये। काला उसे रगड़ता हुआ पीछे दौड़ा। बच्चे से बूढ़े तक शोर मचाने लगे—'चर्चिल हारा, भाग खड़ा हुआ'।

अंग्रेजों की जो भी हालत अपने देश में रही हो, यहाँ उनकी सरकार पूर्ववत् चल रही थी। बल्कि उन्होंने शासन-यंत्र को अधिक सुगठित कर लिया और सख्ती बरती। यहाँ उनका मनोबल ऊँचा था। बाजार में उठती अफवाहें और पराजय की व्यंग्य उक्तियों से वे विचलित नहीं होते। उनमें से अधिकांश कारोबार छोड़कर युद्ध में सक्रिय रूप से सहयोग करने के लिए अपने देश चले

गये। हमारे आफिस में जो बड़ी उम्र के साहब थे, वे भी वहाँ ट्रकें चलाने या इसी ढंग के काम के लिए भरती हो गये थे। मेरी जान-पहचान का एक लँगड़ा साहब था। जब वह लड़ाई में जाने को तैयार हुआ तो मैने पूछा—'आप वहाँ जाकर क्या करेंगे ?' उसका जबाब था, 'घायलों की मरहम पट्टी।'

जो अंग्रेज महिलाएँ यहाँ रह गयीं, तरह-तरह से युद्ध में सहयोग-सहायता पहुँचाने के काम में लगीं। बड़े-बड़े व्यापारी और अफसरों की पत्नियाँ तक स्वेटर, मोजे, मफलर बुनतीं। कपड़े सिलाई करती, रूपये-पैसे, तोहफे इत्यादि इकट्ठा करतीं और सैनिकों के लिए भेज देतीं।

देश में रंगरूटों की भरती जोर से हो रही थी। चारों तरफ गाँवों में घूम-घूमकर सरकारी एजेण्ट काम कर रहे थे। राजस्थान, पंजाब, गढ़वाल और कुमायूँ उनके मुख्य कार्य-क्षेत्र थे। उनका एक गाना था :—

'भरती हो प्यारे रंगरूट, भरती हो प्यारे।
अठे मिले तनै फाट्या लीतरा, बठै मिलै फुल बूट,
अठे मिले तने मेला कपड़ा बठै मिलेगी सूट,
अठे मिले तने रूखी रोटी, बठै मिलेगा फ्रूट।
भरती हो प्यारे···

रे रंगरूट, फौज में भरती हो जा। यहाँ तो तुझे फटे जूते, मैले कपड़े और रूखी रोटी मिलती है। और सेना में जायगा तो फुल बूट, सूट और फल मिलेंगे। इत्यादि

इधर बेरोजगारी थी, उधर तरह-तरह की सुख-सुविधाएँ। इसलिए लोग बड़ी संख्या में फौज में भरती हुए। रजवाड़ों से भी धन और सैनिक काफी मिले क्योंकि राजे-महाराजे अंग्रेजों को खुश रखना चाहते थे। हमारे बीकानेर के राजा शार्दूल सिंह अपनी फौज लेकर स्वयं मध्यपूर्व की लड़ाई में गये।

जहाँ तक व्यापार का सम्बन्ध था, सन् १९४०-४१, दोनों वर्ष भारत के लिए आर्थिक दृष्टि से बहुत लाभप्रद रहे। उद्योग-धन्धों की बढ़ोतरी हुई और ब्रिटेन का हमारे देश पर से कर्ज पट रहा था। युद्ध के लिए वह कच्चे माल और तैयार सामान यहाँ से ज्यादा-से-ज्यादा खरीदता था। इस वजह से धनी लोगों को अपनी पूंजी उद्योग-धन्धों में लगाने की प्रेरणा मिली। विभिन्न प्रकार के नये-नये कारखाने स्थापित हुए। भारत के उद्योग-व्यापार में अच्छी प्रगति होने लगी।

जापान भी लड़ाई की पूरी तैयारी कर चुका था। ७ दिसम्बर, १९४१ के दिन अचानक उसने अमरीका के बन्दरगाह पर्लहार्बर पर हवाई हमला किया और उसकी नौ सेना को भारी क्षति पहुँचायी। फुर्तीले और बहादुर जापानी हवाबाजों ने प्रशान्त महासागर स्थित अमरीकी जहाजी बेड़े को कागजी नावों की तरह नष्ट कर दिया। जापानी सेना आँधी की तरह शत्रु सेना को खदेड़ती हुई बर्मा में घुस आयी। अंग्रेज घबराए और उन्होंने वहाँ से आवश्यक वस्तुएँ हटाना या नष्ट करना शुरू कर दिया ताकि शत्रु के हाथ न लगें।

पर्लहारबर के पतन के बाद जापानी फौजें दुगुने उत्साह और आत्म-विश्वास के साथ सिंगापुर की तरफ बढ़ी। ब्रिटेन का पूरब में यह अभेद्य दुर्ग था। यहाँ प्रिन्स आफ वेल्स और रिपल्स जैसे अजेय युद्धपोत थे। एक दिन समाचार मिला कि जापानी छतरी सैनिक इन जहाजों के मस्तूलों मे बम बाँध कर कूद पड़े। परिणाम स्वरूप वे तो शहीद हो गये परन्तु उन्होंने शत्रु के दोनों जहाजो को हजारों सैनिकों और विपुल युद्ध-सामग्री समेत समुद्र मे डुबा दिया। जापानी सैनिकों के इस आत्मबलिदान से खुशी हुई। चौबीस वर्ष बाद १९६५ के भारत-पाक युद्ध में हमारे जवान भी सीने पर बम बाँध कर पाकिस्तानी टैंकों के नीचे लेट गये और अपने बलिदान से उन्हें विध्वंस कर दिया।

तरह-तरह की अफवाहें फैलने लगीं। १० मार्च १९४२ को जब रंगून का पतन हुआ तो वहाँ से लाखों भारतीय पहाड़ी और भयानक जंगलों के रास्तों से भागकर भारत में चले आये। इनमे सभी वर्ग के लोग थे। पीढ़ियों से बर्मा में रहते आये थे, वहीं पैसे कमाये और सम्पत्ति बनायी। अंग्रेजों के भागने के कारण नाना प्रकार की अफवाहों से वे घबरा गये।

कलकत्ते की कई सार्वजनिक संस्थाओं ने इनकी सहायता की बहुत बड़ी जिम्मेदारी ली। इनमें 'मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी' का नाम उल्लेखनीय है। सोसाइटी की ओर से मुझे भी सियालदह स्टेशन के कैम्प में सेवा-कार्य के लिए स्वयं सेवक के रूप में भेजा गया।

इनकी बड़ी दयनीय दशा थी, न पास में पैसे थे और न भविष्य का पता। जल-मार्ग बंद हो चुका था इसलिए स्थल-मार्ग से आना पड़ा। घने जंगल, ऊँचे-नीचे पहाड़ी रास्ते। धूप और वर्षा—साथ मे जो कुछ लेकर चले या तो आराकानी मुसलमानों ने लूटा या करेन डाकुओं ने। खाने पहनने की चीजें भी नहीं छोड़ी।

लोग थककर गिर पड़ते या बीमार होकर चल नहीं सकते तो उन्हें वहीं छोड़ दिया जाता। डाकुओं से बचते तो सांप बिच्छुओं का डर। रात में जहरीले मच्छरों का प्रकोप। बहुत से तो थकान और बीमारी से मर गये।

इन घटनाओं के साथ देश की राजनीति में भी तेजी से परिवर्तन हो रहे थे। अगस्त १९४२ में गांधीजी ने 'करो या मरो' का आह्वान किया। ब्रिटिश सरकार स्थिति के लिए तैयार थी। दमनचक्र चला। भारतीय आई० सी० एस० और आई० पी० एस० अफसरों ने अपने ही देशवासियों के प्रति जो लज्जाजनक व्यवहार किये, उसे गुलामी का अभिशाप ही कहा जायगा।

कलकत्ते में कुछ घटनाएँ तोड़-फोड़ की हुईं, पर दबा दी गयीं। आन्दोलन का सबसे उग्र रूप बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में रहा।

एक बार मै दुमका से जसीडीह जा रहा था। रास्ते में देखा, स्वयंसेवकों को पुलिस के सिपाही मारते-पीटते ले जा रहे हैं। पूछने पर पता चला कि अकारण ही जवान लोगों को पकड़ ले जाते हैं। इनके बाप-माँ से अफसर लोग इसी बहाने रुपये ऐंठते हैं। माँ-बहनों तक को मौके-बेमौके नहीं छोड़ते। बड़े अफसरों की जो बातें सुनने में आती तो यही लगता घूसखोरी, अनाचार और अत्याचार कहीं हमारे जन-जीवन में घुन की तरह न लग जाय।

भारत मे अन्न-वस्त्र और उपयोगी वस्तुओं के भाव बढ़ने लगे। बाजार से ये चीजें गायब होने लगीं।

हमलोगों ने अपने स्त्री-बच्चों को बनारस भेज दिया था। व्यापार में इतना लाभ हुआ कि उनके बहुत कहने-सुनने पर भी मैं और भाईजी कलकत्ते ही रहे। उस समय यहाँ के मकानों की ऐसी हालत हो गई थी कि किराया तो दूर की बात, मकान-मालिक अपने पास से कुछ देकर लोगों को बसाना चाहते थे जिससे कि देखभाल होती रहे।

शाम होते ही सड़कें सूनी हो जातीं। रात में ब्लेक-आउट के कारण घुप्प-अँधेरा रहता। बहुत से रास्तों और मकानों में बमबारी से रक्षा के लिए तलघर बना लिए गये थे। जैसे ही सायरन (खतरे की घंटी) बजती, हम उनमे चले जाते। एक दिन हिम्मत करके मैंने बरामदे से बम गिरते देखे। आकाश से सर्र करती हुई लाल लपटें नीचे की तरफ आ रही थीं। काफी जोर से धमाके सुनाई देते। दूसरे दिन हमलोग जहाँ जानकारी होती, वह जगह देखने जाते। टूटे हुए मकान, मलबे और जली हुई वस्तुएँ दिखाई देती। मन में कँपकँपी सी होती। चारों तरफ बमों के टूटे हुए टुकड़े बिखरे

रहते। कुछ हम अपने साथ दूसरों को दिखाने के लिए ले जाते। उस समय रसोइये और नौकर भी भाग गये थे, इसलिए लोग मिलजुल कर खाना बना लेते। बांगड़ बिल्डिंग की हमारी गद्दी में बीसियों मित्र-परिचित सुबह-शाम भोजन के लिए आते। रात में भी मेला सा लगा रहता।

सरकारी मकानों को काले रंग से पोत दिया गया था। विक्टोरिया मेमोरियल और बड़े पोस्ट आफिस की भव्य इमारतें इस रंग में बहुत ही मोड़ी दीखतीं। ट्रामों और बसों में सवारियों को धक्का-मुक्की की जगह अब बेंचे खाली रहती। जहाँ खाद्य पदार्थों व अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं के भाव तेज थे, वहीं जमीन, मकान और फरनीचर सस्ते हो गए। लोगों ने यह समझ लिया की अब तो यहाँ जापान का राज्य निश्चित है।

ब्रिटिश और भारतीय फौजें तो कलकत्ते और आसपास के अंचलों में पहले से ही थीं। जापानी आक्रमण के साथ-साथ बहुत बड़ी संख्या में अमेरिकन फौजें भी कलकत्ते मे आयीं। पार्क स्ट्रीट, चौरंगी और फ्री स्कूल स्ट्रीट आदि मुहल्ले में शाम के बाद ये चक्कर लगाते और रुपया पानी की तरह बहाते। इनमें काले, गोरे दोनों तरह के सैनिक थे। मारपीट, शराब पीना और खुले आम एंग्लो इण्डियन या ईसाई लड़कियों को बगल में दबाये सड़कों पर चलना मामूली बात थी। चौरंगी के सामने वाले केले के मैदान में बम्बारी से बचने के लिए खाइयाँ थीं। शराब में धुत ये सैनिक लड़कियों को लेकर रात भर वहाँ पड़े रहते। अभाव और वासना की प्यास का योग सूत्र जब पैसा बन जाता है तो सीमा का अतिक्रमण होना कोई आश्चर्य नहीं।

इन विदेशी सैनिकों के पैसे मौज-शौक में जब खत्म हो जाते तब ये रेस्तराँ, होटल या रेस कोर्स में अपने कैमरे, घड़ियाँ या अन्य सामानों को सस्ते में बेच देते। अधिकतर चीनी या मुसलमान इस ताक में इनके इर्दगिर्द घूमते रहते और ये वस्तुएँ खरीदकर बाजारों में ऊँचे दाम पर बेचते। काला बाजार का सूत्रपात तभी से हुआ।

एक रात नौ बजे बहुत जोर की बम्बारी हुई। उस दिन जो लोग हबड़ा से रवाना होकर बनारस या राजस्थान पहुँचे, उन्होंने वहाँ अफवाह फैला दी कि हमलोग तो किसी तरह बचकर चले आये पर पीछे से हबड़ा ब्रिज और सारा कलकत्ता जल रहा था। हमारे परिवार में भी चिन्ता व्याप्त हो गई। दो-तीन दिन बाद ही माताजी का बनारस से फोन आया कि अगर तुम दोनों नहीं आते हो तो तुम्हारे पिताजी और मैं कलकत्ते आ रही हूँ।

कारोबार इतना फैला हुआ था कि भाईजी तो नहीं जा सके किन्तु मुझे उन्होंने बनारस भेज दिया। वहाँ पहुँचा तो लगा सारा कलकत्ता उठकर आ गया है। सब तरफ जाने-पहचाने परिचित चेहरे दिखाई देते।

थोड़े दिनों बाद ही मैं पत्नी और बच्चों को लेकर राजस्थान चला गया। यहाँ भी आसाम, बंगाल और बर्मा से आये हुए लोगों का जमघट था। ऐसा देखा गया कि पचासों वर्षों से जो व्यक्ति कभी देश नहीं आये, वे भी बाल-बच्चों सहित वहाँ पहुँच गये। इस प्रकार के लोग जब वहाँ पहुँचे तो दूसरे लोगों से पूछताछ करते कि हमारा कौन सा घर है? युद्ध के पूर्व जहाँ अधिकांश हवेलियाँ खाली पड़ी रहती, वहाँ अब लोग ठसाठस भरे थे और किराया भी अनाप-शनाप बढ़ गया था। ●

१९

यात्रा के पथ पर

जब लोगों ने अखबारों में पढ़ा कि कलकत्ता और हबड़ा ब्रिज तो उसी प्रकार सुरक्षित हैं और कारोबार में भी मुनाफा बहुत अधिक हो रहा है तो वे पछताते व कुछ दिन ठहर कर पुनः आसाम, बंगाल के लिए रवाना हो जाते।

मैं वहाँ थोड़े दिन रहा। मई का महीना था। बच्चे गरमी के आदी नहीं थे। उनके फोड़े-फुन्सी निकल आईं। हम लोग हरिद्वार और मसूरी के लिए रवाना हो गये। यहाँ पहली बार आया था। उस समय तक जितने भी शहर देख चुका था, उनमें मुझे हरिद्वार सबसे रमणीक लगा। गंगा का पानी बरफ की तरह ठंडा और स्फटिक की भाँति स्वच्छ था। एक बार उतर जाने के बाद बाहर निकलने का मन नहीं करता। हर की पैड़ी पर हजारों स्त्री-पुरुष और बच्चे स्नान करते या भजन-कीर्तन सुनते रहते। चारों तरफ मिठाई, खोमचे और फल वाले बैठे रहते। खरबूजे और आम इतने सस्ते थे कि अधिकांश व्यक्ति शाम का भोजन न करके बड़े-बड़े तौलियों मे इन फलों को गंगाजी में डुबा रखते। थोड़ी देर बाद ही ये ठण्डे हो जाते और इनमें अद्भुत स्वाद आ जाता। तीन-चार दिन हरिद्वार रहे। इतने आम चूसता कि पत्नी को बार-बार मुझे टोकना पड़ता।

यहाँ से हम लोग लक्ष्मण झूला होते हुए ऋषिकेश गये। लोहे के रस्सों पर लटकते उस पुल को पार करना एक रोमांचकारी अनुभव था। बहुत नीचे अत्यन्त वेग और तीव्रता से बहती हुई गंगा का कलरव और चारों तरफ ऊँचे-ऊँचे पहाड़। जब पुल जोर-जोर से हिलता तो यात्री भगवान् राम और गरुड़जी की याद करते या भजन गाते।

ऋषिकेश में काली-कमलीवाले की धर्मशाला में ठहरे। एक महात्मा ने बहुत पहले उत्तराखण्ड में यह संस्था स्थापित की थी। इस समय यह बहुत बड़ी हो गयी है। अनेक स्थानों पर इसके क्षेत्र और धर्मशालाएँ हैं।

ऋषिकेश से हम देहरादून पहुँचे। यह पहाड़ की तराई में है, इसलिए गर्मी के मौसम में यहाँ तापमान विशेष ऊँचा नहीं रहता। चार मील दूर पर

सहस्त्र धारा नाम का एक झरना है। इसका जल वनौषधियुक्त होने के कारण चर्म-रोगियों के लिए लाभकारी है। पहाड़ में सैकड़ों धाराएँ वेग से निकलती हैं। उनके नीचे बैठकर लोग स्नान करते हैं। मई, जून के महीनों में भी थोड़ी ही देर में ठण्ड लगने लगती है। बहुत वर्षों बाद जब विदेश गया तो मैंने देखा कि इस प्रकार के सौन्दर्यस्थल वहाँ भी हैं। लेकिन वहाँ के लोगों ने हमारी तरह उन्हें उपेक्षित नहीं रखा। अनेक प्रकार से आकर्षक बनाया है। इनके आसपास यात्रियों के ठहरने के लिए आलीशान होटल बनाए हैं। आमोद-प्रमोद के लिए छोटी-छोटी फुलवारियाँ और अच्छे रेस्तरां हैं। बच्चों के खेलकूद के झूले आदि लगे हैं। छोटी-छोटी कृत्रिम झीलें भी हैं जिनमें रबर की नौकाओं में यात्रीगण जल-विहार का आनन्द लेते हैं। वे लोग यात्रियों को आकर्षित करने के लिए ऐसे स्थानों के बड़े-बड़े विज्ञापन देते रहते हैं। खेद है कि हमारा पर्यटन-विभाग इस ओर आवश्यकता से कम सक्रिय है।

सहस्त्रधारा से वापस आए, तब बहुत जोर से भूख लग गई थी। जिस जैन धर्मशाला मे ठहरे, उसके बाहर एक ब्राह्मण का ढाबा था। मैंने पहले ही उसे कह दिया था कि हमलोग खाना रुचि से खायेंगे, तुम घबराना मत, तुम्हे संतुष्ट कर देंगे। अमरस तो हमने अपना बना लिया था, बाकी चीजें ढाबे से ली। मुझे याद है कि उस दिन पत्नी और बच्चों ने भी डटकर भोजन किया।

दूसरे दिन, हम वहाँ से मसूरी के लिए रवाना हुए। देहरादून से १९ मील दूर, छः हजार फीट की ऊँचाई पर यह सुरम्य हिल स्टेशन है जिसे 'पहाड़ों की रानी' कहा जाता है। कुछ लोग तो इसे भारत के पहाड़ी स्थानों में सबसे सुन्दर मानते हैं परन्तु मेरी राय में दार्जिलिंग का स्थान सर्वोच्च है।

मसूरी की रात बहुत लुभावनी और सुहावनी होती है। नीचे-ऊपर चारों तरफ रोशनी जगमगाती रहती है। राजपुर और देहरादून की बस्तियाँ यहाँ से दिखाई देती हैं। यहाँ आमतौर पर लोग शाम का खाना नहीं बनाते। बच्चों के साथ माल रोड पर निकल जाते हैं और वहाँ किसी रेस्तरां में छोले, भटूरे या चाट खा लेते हैं। दूकानें बहुत प्रकार के सामानों से सजी हुई थीं। सुन्दर वस्त्रों में सजे-धजे स्त्री-पुरुष और बच्चे सड़कों पर घूम रहे थे। लगा, जैसे इन्द्रपुरी पहुँच गये।

उस समय तक मसूरी राजा-महाराजाओं का क्रीड़ा-स्थल था। वे लोग गर्मियों में यहाँ अपने दलबल सहित आकर जो ऐयाशी और मौज उड़ाते, उसकी बढ़ी-चढ़ी चर्चा बाजारों, क्लबों और होटलों में होती रहती। उनके

मनोरंजन के लिए पंजाब, दिल्ली और देश के अन्य भागों से प्रसिद्ध गणिकाएँ और गायिकाएँ भी आ जाती थीं। एक ओर जहाँ इतनी ऐयाशी थी, वहीं दूसरी तरफ दुबले-पतले अधनंगे कुली ऊँची चढ़ाई पर मोटे स्त्री-पुरुषों को रिक्शों पर खींचते रहते।

हमलोग राजस्थान की झुलसती गरमी से निकल कर आए थे। सोचा नहीं था कि यहाँ इतनी सर्दी होगी। गरम कपड़े नहीं लाए थे। अतएव, दो दिन रहकर ही वापस बनारस आ गये। यहाँ दशाश्वमेध घाट के पास हमने अपना मकान बनवा लिया था।

आज, जब अपनी १९४२ की डायरी से यह, संस्मरण लिख रहा हूँ तो देखता हूँ कि उस समय हमारी इस सारी यात्रा पर खर्च हुए थे सिर्फ दो सौ रुपये।

दो माह बाद वापस कलकत्ता पहुँचा। लोगों में घबराहट तो थी, परंतु व्यापार अच्छा चल रहा था। इस वर्ष हमलोगों ने बहुत अच्छा रोजगार किया। साधारण स्थिति से अब हम सम्पन्नता प्राप्त कर चुके थे।

फरवरी सन् १९४३ में, माताजी को प्राकृतिक चिकित्सा के लिए इलाहाबाद ले गया। पत्नी भी साथ थी। माँ को इस चिकित्सा से काफी लाभ हुआ और इसके बाद वे एक प्रकार से प्राकृतिक चिकित्सक बन गईं। कभी बच्चों का पेट दुखता या कहीं फोड़ा हो जाता तो भीगी पट्टी या गीली मिट्टी का उपचार करतीं।

इलाहाबाद से हमलोग चित्रकूट गये। कहते हैं, भगवान् राम ने अपने वनवास का बारह वर्ष यहीं बिताया। संत तुलसीदास को उनके दर्शन भी यहीं एक घाट पर हुए थे। इस सन्दर्भ में एक दोहा बहुप्रचलित है :—

चित्रकूट के घाट पर भइ सन्तन की भीर।
तुलसिदास चन्दन घिसैं तिलक देत रघुवीर॥

हमने कामदगिरि की परिक्रमा की। इसी पर राम, सीता और लक्ष्मण विराजे थे इसीलिए यात्री इस पर्वत पर नहीं चढते। यहाँ एक शिला भी देखी, जिस पर राम, लक्ष्मण और सीताजी के चरण चिन्ह थे। परिक्रमा के बाद हनुमानधारा में स्नान किया। वास्तव में, चित्रकूट तीर्थ के, साथ-साथ सुन्दर और सुरम्य भी हैं।

हमलोग यहाँ से जसीडीह गये, जहाँ हमारे गृह-प्रवेश का उत्सव था। कुछ दिन ठहर कर पुनः कलकत्ता आ गए।

उस वर्ष की सबसे दर्दनाक घटना थी 'बंगाल का अकाल' ऐसा भीषण अकाल पहले कभी नहीं पड़ा था। दुर्भाग्य तो यह था कि फसल अच्छी होते हुए भी लाखों लोग भूखों मर गए। बंगाल में उस समय मुस्लिम लीग का शासन था। रसद मन्त्री था, सुहरावर्दी। सरकार ने फौजियों के लिए चावल की जबरदस्त खरीद की। उसने अपने मर्जीदाओं के मार्फत किसानों से जबरन आधे दामों में अनाज ले लिया। बाजार से चावल गायब हो गया। लोग अन्न के अभाव में मरने लगे। सरकारी आंकड़ा तो आठ-दस लाख की मौत का था किन्तु वास्तव में तीस-पैंतीस लाख से कम आदमी नही मरे। द्वितीय महायुद्ध में दुनिया के सब देशों को मिलाकर इतने लोग न मरे होंगे।

कलकत्ते के फुटपाथों व रास्तों में जो कारुणिक दृश्य देखे, आज तक भूल न सका। बच्चा स्तन से चिपका है, माँ मर चुकी है। माँ-बाप ने बेटी-बेटों को बेच दिया। शून्य की ओर ताकती लाशें। कोई पूछने वाला नहीं, किसकी है, कौन है? सड़ांध से बीमारियाँ फैलने लगीं।

एक अजीब बात यह थी कि मिठाइयों की दूकानें सजी रहती और सामने ही लोग भूख से दम तोड़ देते। नारी जाति के शील के साथ मनमाना खेल होता, कहीं कोई बलवा, लूट-पाट या विद्रोह सुनने में नहीं आया। वर्षो की गुलामी से मनुष्य कितना क्लीव हो जाता है, बगाल का अकाल इसका ज्वलन्त उदाहरण है। अकाल-पीड़ितों की राहत के लिए बंगाल रिलीफ सोसाइटी बनी, जिसके मंत्री हुए श्री भागीरथ कानोड़िया। बहुत बड़ा काम इस संस्था द्वारा उस समय हुआ। 'मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी' ने भी पूरा सहयोग दिया।

मैं जब कलकत्ते रहता तो जे० टामस कंपनी के काम से पाट के व्यापारियों की मंडियों में चला जाता। कभी-कभी साथ में हमारे व्यापारी और साहब रहते। हमलोग इण्टर क्लास में जाते किन्तु साहब फर्स्ट क्लास में। यद्यपि ये अंग्रेज या एंग्लोइंडियन हमारे व्यापारियों के वेतनभोगी कर्मचारी होते, फिर भी हम इन्हें 'सर' कहते। बहुत बाद मे, जब विलायत गया। वहाँ अंग्रेज बेयरों और दुकानदारों ने मुझे 'सर' कहा, कुछ गुदगुदी सी हुई।

पाट-निरीक्षण के काम से बंगाल के सुदूर अंचलों, ढाका, मैमनसिंह, नारायणगंज, अखोरा, खुलना और ग्वालन्दो आदि मंडियों में जाना पड़ता। ढाका के केले और आम इतने स्वादिष्ट थे कि आज तक उनकी याद भूल

नहीं सका। इन मण्डियों में राजस्थानियों के अलावा बंगाली- मुसलमान व्यापारी भी थे। उस समय पाकिस्तान बना नहीं था। वे हमारी बहुत खातिरदारी करते। छुआ-छूत आज की तरह मिटी नहीं थी, इसलिए ब्राह्मणों को बुलाकर हमारे लिए रसोई बनवाते।

आज जब वहाँ के निवासियों पर पाकिस्तानी फौज द्वारा बर्बरतापूर्ण अत्याचार के समाचार पढ़ता हूँ तो मुझे वे भले और निरीह लोग याद आ जाते हैं। मुसलमान होते हुए भी धर्मान्ध नहीं थे। खेतीबारी करते अथवा जमींदारों और राजस्थानी व्यापारियों के यहाँ मुंशीगीरी कर जीवन निर्वाह करते। सन् १९५४ में पूर्वी पाकिस्तान की अपनी जूट प्रेस छोड़कर भारत आना पड़ा। याद आता है, मेरे यहाँ के मुस्लिम फूट-फूट कर रोने लगे। आदमी सब कुछ खो सकता है विस्मृति के गर्भ में, मगर स्नेह आँखों के सामने तैरता ही रहता है, हमेशा।

सन् १९४४ के मार्च में मेरी बड़ी पुत्री रत्नी की शादी हुई। मई में मथुरा और ग्वालियर घूमने के लिए चला गया। वैसे मथुरा तो एक बार पहले भी जा चुका था परन्तु तब ध्यान से नहीं देख सका। वाराणसी, उज्जयिनी और पाटलिपुत्र की तरह मथुरा भी देश का प्राचीनतम नगर है। यहाँ भी काशी की तरह औरंगजेब ने द्वारिकाधीश के बड़े मन्दिर को तोड़कर मस्जिद बनवा दी। कृष्ण-जन्म-भूमि के टीले पर भी प्राचीन धर्मस्थान को तुड़वाकर मस्जिद का निर्माण करा दिया। ये दोनों मस्जिदें आज भी मुसलमानों के अत्याचार और हिन्दुओं में व्याप्त अकर्मण्यता की याद दिला रही हैं। यमुना की सुन्दरता का वर्णन श्रीमद्भागवत और प्रेमसागर में पढ़ चुका था। हो सकता है, बहुत पहले यमुना सुन्दर रही हो। इस समय तो यहाँ कीचड़, गन्दगी और कछुओं की भरमार थी।

मथुरा से एक ताँगे में बैठकर वृन्दावन गया। रमणरेती में मेरे एक परिचित वानप्रस्थी मित्र थे, उनसे मिला। अतिथिशाला में एक कमरा लेकर रहते थे। शाम को उनके साथ रंगजी का मन्दिर देखने गया। कहते हैं, आज से लगभग दो सौ वर्ष पहले इसे एक जैन महाजन ने बनवाया था। इसका विशाल प्रांगण और परकोटा देखकर आश्चर्य होता है। उस समय तक मैंने मदुराई और रामेश्वर नहीं देखा था। वृन्दावन की कुंजगलियों के बारे में बचपन से ही पढ़ता आ रहा था। संस्कृत और हिन्दी का वैष्णव काव्य तो इसके वर्णन से भरा पड़ा है। बिहारी के दोहे में वर्णित—

सघन कुंज छाया सुखद, शीतल मन्द समीर।
मन ह्वै जात अजौ वहै, वा जमुना के तीर॥

उन्हीं सघन कुंजों और यमुना पुलिन की छवि निरखने की प्यास बहुत दिनों से संजोये था। आज न वे गलियाँ ही हैं और न कुंजवन। पुलिन पर सघन वृक्ष तो क्या झाड़ियाँ तक नहीं, वन-उपवन का तो प्रश्न ही क्या? सोचता हूँ, समय के दौरान इमारतों या गलियों का रूपान्तर होना स्वाभाविक है, उसी प्राचीन रूप में पाया जाना संभव नहीं। किन्तु यमुना तट का सौष्ठव और सौन्दर्य तो सँवार कर रक्खा जा सकता है। इस ओर हमारी उपेक्षा और उदासीनता का क्या अर्थ हो सकता है?

दूसरे दिन गोकुल गये। कहा जाता है, राजा नन्द की दस लाख हृष्ट-पुष्ट गायें थीं। संख्या अतिरंजित हो सकती है परन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि गोवंश पर यहाँ विशेष ध्यान दिया जाता होगा। गोकुल, गोपाल, गोवर्धन और गोस्वामी, गोप-गोपी आदि संज्ञाएँ इसकी पुष्टि करती है। रसखान ने कहा है—"मानुष हौं तो वही रसखान, बसौं नित गोकुल गाँव के ग्वारन"। यहीं नहीं, उसने तो यहाँ की नैसर्गिक समृद्धि को इतना बड़ा माना कि, कोटिन कलधौत के धाम को, इस पर निछावर करने के लिए प्रस्तुत है। स्पष्ट है कि एक समय यह नैसर्गिक और भौतिक समृद्धि की शीर्षस्थली रही होगी। हमें वहाँ तो गलियों में दो-चार मरियल सी गायें और बछड़ियाँ दिखाई पड़ीं। पंडों ने माता यशोदा की रसोई दिखाई, उसमें जो चूल्हा बना था, उस पर मुश्किल से सेर-दो सेर दूध गरम हो सकता था। समझ में नहीं आया कि पंडे किस भावना से इसे यात्रियों और पर्यटकों को दिखाते हैं। हो सकता है कि युगावतार कृष्ण के प्रति धार्मिक विश्वास, स्नेह और श्रद्धा को उभार कर उन्हें कुछ पैसे मिलते हों किन्तु मुझे यह एक अनुचित उपहास सा जान पड़ा। ऐसा ही अयोध्या में भी देखा।

ब्रजभाषा में अपूर्व लालित्य है। मगर पंडों के मुँह से सुनकर लगता है जैसे वे लड़ने आ रहे हों। मुझे अच्छा नहीं लगा। पता नहीं क्यों आज का ब्रजमण्डल आकर्षित नहीं कर सका। उस समय जल्दी में था, कुछ विशेष स्थानों को नहीं देख पाया। बाद के वर्षों में देखा। अब भी जाया करता हूँ, खोजता हूँ, अपने मानस में बसे ब्रज को, मिलता नहीं।

दूसरे दिन सिंधिया की राजधानी ग्वालियर गया। यह एक विकास-मान औद्योगिक नगर है। पहाड़ पर बहुत बड़ा किला है। महाराज मानसिंह

द्वारा बनवाए हुए इसके गूजरी महल और यहाँ के उन कैदखानों के बारे में जिनमें मुगल शाहजादों को रखा गया था, बहुत कुछ सुना था परन्तु यहाँ की असह्य गरमी से बेचैन हो उठा। अतः यह सब नहीं देख पाया।

१९४४ के सितम्बर में पाट की मंडियों (बंगाल) से होता हुआ गौहाटी (असम) गया। वहाँ से मुझे मोटर या बस द्वारा शिलांग जाना था। जहाँ मेरे कुछ मित्र पहले से ही गये थे। मेरे पास टीन का एक छोटा सन्दूक और आगरे की दरी का साधारण सा बिस्तर था। गौहाटी में मेरे एक परिचित मित्र श्री गनपतराय धानुका की तेल मिल थी। उनके यहाँ रात में पहुँचा। वे शहर के बाहर गये हुए थे। वहाँ उनके भागीदार कावराजी थे। उनका व्यवहार कुछ अजीब सा रहा। उन्होंने बाहर बरामदे में पड़ी काठ की चौकी बता दी। मैंने वहीं अपना बिस्तर लगाया और लेट गया।

गौहाटी बहुत गन्दा शहर है। सीलन, बदबू और बड़े-बड़े मच्छरों की भरमार है। पास मसहरी नहीं थी। इसलिए रात में मच्छरों ने काटकर सारे शरीर में जलन पैदा कर दी। नींद का तो प्रश्न ही नहीं था। दूसरे दिन जब शिलांग जाने के लिए कावराजी को टैक्सी या बस के लिए पूछा तब उन्होंने मेरा परिचय जानना चाहा। मैंने अपना नाम बताया परन्तु लगा, जैसे उन्हें विश्वास नहीं हुआ। कहा, आप उनके यहाँ नौकरी करते हैं क्या? जब फिर से अपना नाम दुहराया तो देखा वह बहुत सकपका गये थे। माफी माँगने लगे। अपनी कार मँगाकर मेरे साथ हो लिये। रास्ते में कहने लगे कि मुझे आपका टीन का सन्दूक, यह बिस्तरा और वेश-भूषा देखकर भ्रम हो गया था। समझा कि कोई खली खरीदने वाला व्यापारी है। हमारे यहाँ बोगड़ा और मैमन सिंह से प्रायः ही ऐसे लोग आते रहते हैं। खेद है, आपको बहुत असुविधा हुई आदि।

इसके तीन दिन बाद धानुकाजी और कावराजी गौहाटी से शिलांग आये, साथ में काफी फल और मिठाइयाँ थी। बहुत ही झेंपे से थे। मैंने उन्हें आश्वस्त किया कि मुझे कोई असुविधा नहीं हुई। गलती मेरी भी थी। मुझे अपने पहुँचने की सूचना पहले से ही देनी चाहिए थी।

शिलांग में हम लोग दस दिन रहे। वहाँ 'पीक-शिलांग' एक चोटी है। काफी कड़ी चढ़ाई है। एक मित्र के साथ उस पर गया। मित्र बीच-बीच में थककर सुस्ताते थे, मैं हिम्मत बाँधता हुआ उन्हें ऊपर तक ले गया। जब वापस आये तो उनको बुखार चढ़ गया था।

शिलांग से १८ मील दूर 'चेरापूंजी' पहाड़ी स्थान है जहाँ विश्व में सर्वाधिक वर्षा होती है। यूं तो वर्षा हर समय होती रहती है पर जब जोरों से पानी बरसता है तो लगता है पत्थर बरस रहे हैं। रास्ता इतना भयानक और डरावना है कि मोटर से नीचे देखते ही कँपकँपी छूट जाती है। वहाँ के ड्राइवर अभ्यस्त हैं, बहुत कम दुर्घटनाएँ सुनने मे आयीं। चेरापूंजी से हम बहुत सा शहद, सन्तरे, केले और अनन्नास आदि ले आये। वहाँ इन दोनों चीजों की बहुतायत है। इनमें अनूठा स्वाद होता है। देखा कि पहाड़ों में कोयले की खुदायी हो रही है। बिजली से संचालित रज्जु मार्ग द्वारा कोयला ऊपर से नीचे सात मील दूर सिलहट जा रहा था। अनोखा सा दृश्य लगा। आगे जाकर तो यह रज्जु मार्ग और कोयले की खानें हमने खरीद ली। इसलिए बहुत बार चेरापूंजी जाने का मौका मिला।

१९४५ में मित्र राष्ट्रों की विजय के साथ महायुद्ध की इतिश्री हुई। इटली, जर्मनी और जापान तीनों आत्म समर्पण कर चुके थे। कुछ लोगों ने मुसोलिनी को मारकर उसकी लाश बाजार में टाँग दी। हिटलर ने आत्महत्या कर ली थी। इस प्रकार बीसवी शताब्दी के इन दो तानाशाहों का अन्त हुआ। इस युद्ध के अन्तिम दौर में सबसे भयावह घटना थी अमेरिका द्वारा अगस्त १९४५ मे जापान के हिरोशिमा और नागासाकी शहरों पर अणुबम का गिराया जाना। दोनों शहरों की एक तिहाई आबादी समाप्त हो गयी। समूचा विश्व महानाश के इस अस्त्र से आतंकित हो उठा। यहीं से आणविक अस्त्रों की शुरूआत हुई।

महायुद्ध, अकाल और अभाव के दुष्परिणाम स्वरूप कलकत्ते में गल्ले और कपड़े की चोर बाजारी शुरू हो गयी। लोग दूसरे प्रान्तों से छिपा-छिपा कर कपड़े लाते और बेचते। जो लोग कुछ दिन पहले शहर छोड़कर चले गये थे, अब वापस आने लगे। उजड़ा हुआ कलकत्ता फिर आबाद हो गया!

सन् १९४५ मे हमारे हितैषी डेडराजजी भरतिया का काशी में देहान्त हो गया। उन्होंने हमें संकट काल मे सहायता दी थी। यद्यपि साझा तो दो-तीन वर्ष ही रहा, परन्तु हम भाइयों पर उनका अगाध विश्वास और स्नेह था। अन्तिम समय मे वे मुझे अपने साथ कलकत्ते से बनारस ले गये थे।

२०

आजादी और उसके बाद

देश की राजनीति में महायुद्ध की समाप्ति के बाद बड़ी तेजी से परिवर्तन के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। अंग्रेज विश्वयुद्ध में विजयी भले हुए किन्तु उनकी आर्थिक अवस्था और व्यवस्था लड़खड़ा गयी। भारतीय स्वाधीनता की लड़ाई उन्हें भारी पड़ने लगी। आजाद हिन्द फौज और भारतीय नौ सेना का विद्रोह उनके लिये बहुत बड़े सर दर्द और त्रास का कारण बना। उनकी समझ में यह बात आ गयी कि भारत उन्हें छोड़ना होगा ही। अंग्रेजों में विशेषता रही है कि वे अपने आचार-व्यवहार में सदा सौष्ठव और सौजन्यता बरतने में प्रयत्नशील रहे। विपरीत या प्रतिकूल स्थिति अथवा अवस्थाओं में छिछोरापन नहीं रखा और सर ऊँचा रखा। अपने अंग्रेज मित्रों से या अफसरों से जब भी बात चलाता तो वे चुप रह जाते। फिर भी हिकमत लगाने में चूकते नहीं। भारत में भी इन्होंने यही नीति रखी। मुसलमानों को प्रोत्साहन देते हुए आखिर उनमें अलगाव की भावना इतनी भर दी कि वे अपने को भारतीय मानने को तैयार नहीं हुए। पाकिस्तान के रूप में पृथक राष्ट्र की मांग ने वाइसराम वैवेल के समय में जड़ मजबूत जमा ली।

ऊपर से भले ही कांग्रेसी इस मुद्दे को नजर अन्दाज करते रहे किन्तु सत्य यही है कि सभी को लगने लगा था कि हिन्दुओं के साथ मुसलमान रहना नहीं चाहते, रह नहीं सकते, रहेगे नहीं। संविधान परिषद् में अडंगा लगाना, दंगे फिसाद करना-कराना—आये दिन की ऐसी घटनाएँ होने लगीं कि कांग्रेसी नेता भी इस समस्या से पिंड छुड़ाने को आकुल हो गये।

अंग्रेज आर्थिक दबाव से पीड़ित थे। इधर मुसलमानों के दंगे-फिसाद लूट-मार हत्या से और पृथक इस्लामी राष्ट्र की महत्त्वाकांक्षा तेजी से बढ़ रही थी। कांग्रेसी नेताओं के सामने भारत के विभाजन के अलावा तात्कालिक समाधान और कोई समझ में नही आ रहा था।

अंग्रेजों ने नब्ज को ठीक परखा। फरवरी १९४७ में घोषणा की कि चाहे हिन्दू मुसलमानों में समझौता हो या नही जून १९[illegible] वे भारत से चले जायेंगे। वायसराय लार्ड वैवेल को [illegible] वाप[illegible] गया और

लार्ड लुई माउन्टबेटन नये वायसराय नियुक्त होकर भारत आये। मार्च २४ को उन्होंने पद भार सम्हाला।

१६ अगस्त १९४६ ई० में मुसलमानों की दबाव नीति उनके डायरेक्ट एक्शन से सफल रही। मुझे ऐसा लगता है जिन्ना को अंग्रेजों ने भी अपना इरादा चुपके से बता दिया था। इसलिये फिर दंगे शुरू हो गये। लार्ड माउन्टबेटन ने पाकिस्तान बनाये जाने की माँग स्वीकार कर ली। ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने १ जुलाई १९४७ को भारतीय स्वाधीनता एक्ट पास किया और सत्ता हस्तान्तरण के लिए १५ अगस्त १९४७ का दिन स्थिर हुआ।

मुझे अंग्रेजों के साथ काफी समय तक काम करने का सुयोग मिला है। उनमें समस्या के हर पहलुओं पर बारीकी से सोचने की विशेषता रही है। मुस्लिम भारत (पाकिस्तान) स्वाधीन भारत से सदैव लड़ता रहेगा। इसका लाभ अंग्रेजों को लम्बे अर्से तक मिलेगा। तब तक वे अपनी आर्थिक स्थिति सुधार सकेंगे। मुसलमानों ने दगे-फिसाद शुरू कर पंजाब, सिन्ध और सीमान्त हिन्दुओं पर जो उत्पीड़न और अत्याचार मचाया उससे हिन्दू भाग-भाग कर उन प्रान्तों से राजपूताना, पूर्वी पंजाब, उत्तर प्रदेश आदि हिन्दू बहुल प्रान्तों में आने लगे। हिन्दुओं का दृष्टिकोण उदार रहा। मुसलमान खदेड़े नहीं गये। बल्कि वे धीरे-धीरे स्वत: पंजाब सिन्ध की ओर जाने लगे। यह बात कम ही लोग उन दिनों समझ पाये थे।

मैंने एक बात का लक्ष्य किया था कि मुसलमान हिन्दुओं से वहीं उलझते रहे जहाँ वे संख्या में अधिक नहीं तो काफी रहे। सन् १९२६ से जो दंगे-फिसाद होते रहे, वे बड़े शहरों में होते। १९४६ में जो दंगे हुए वे पश्चिमी पंजाब और बंगाल में उभरे। पाकिस्तान की आवाज को सबसे अधिक बुलन्द करनेवालों में उत्तर प्रदेश, बिहार के मुसलमान थे किन्तु इन्होंने उत्तर प्रदेश में और बिहार में छेड़-छाड़ नहीं की। इन बातों की चर्चा मैं कभी-कदास आपस की बैठक में करता किन्तु मित्र हँस कर बात टाल जाते। कभी-कभी मुझे उलहना मिलता कि मेरा दृष्टिकोण साम्प्रदायिक है। मैं चुप रह जाता था। राजनीति में उन दिनों मेरी रुचि अधिक नहीं थी। समाजवादी दृष्टि-कोण था इसलिए समाजवादी नेताओं के सम्पर्क में रहा।

अगस्त सन् १९४७ में भारत को आजादी देने के समय अंग्रेजों ने जो सावधानी बरती वह उनकी कुशाग्र बुद्धि का परिचय देता है। १४-१५ अगस्त की मध्य रात्रि को १२ बजे के बाद भारत को स्वाधीनता मिली किन्तु इससे कुछ अर्थात् १२ बजे से पहले पाकिस्तान को राष्ट्र घोषित कर आजादी दी

गयी। अंग्रेजों को सम्भवत: यह अन्देशा था कि भारत को द्विखंडित करने से पहले पाकिस्तान को स्वतन्त्र राष्ट्र घोषित कर काम पक्का कर लिया जाय ताकि भारत को सत्ता देने के वाद कोई वाधा न आ जाय।

जो भी हो भारत स्वाधीन हुआ—खण्डित। द्विखण्डित नहीं, त्रिखण्डित पश्चिम में बलुचिस्तान, सिंध सीमान्त प्रदेश और पश्चिमी पंजाब पाकिस्तान के पश्चिमी प्रदेश बने और पूर्व में पूर्वी बंगाल।

१४-१५ अगस्त की रात में जगा रहा। रेडियो पर नेताओं के भाषण सुने। पंडित नेहरू का भाषण भावनापूर्ण था, सरदार पटेल का तथ्यपूर्ण। राजेन्द्रबाबू ने महात्मा गांधी की प्रशंसा की और आश्वासन दिया कि स्वतंत्र भारत में गरीबी, भुखमरी, शोषण और ऊँच नीच के भेद-भाव मिटाने के लिए हमलोग कोशिश करेंगे। मगर उन्होंने हिन्दुस्तान के टुकड़े होने पर खेद भी प्रकट किया।

मुहम्मद अली जिन्ना ने अपने भाषण के अन्त में अंग्रेजी लहजे में कहा—"पैकिस्तान जिन्दैबाद"। ऐसा लगा, वे कह रहे हैं, 'द कैट इज आउट ऑफ बैग'। बाद में अखबारों में भी इसका जिक्र आया। सच पूछा जाय तो विभाजन की विलैया आखिर थैले के बाहर आ ही गयी।

स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री बने पण्डित जवाहरलाल नेहरू और गृहमन्त्री सरदार वल्लभ भाई पटेल।

१६ अगस्त के दिन कलकत्ता में जो सजावट हुई, वैसी कभी नहीं देखी। खुशी सब जगह सबके ओठों पर। तिरंगे झंडे को बहार थी। खादी की टोपी सबके सिर पर। शाम से रोशनी की सजावट में कलकत्ता रंगीला हो उठा। लोग सोये नहीं, घूमते रहे। गुलाब जल की फुहारें मुसलमानी मुहल्लों में हिन्दुओं पर छिड़की गयीं। आश्चर्य होता था कि इतनी सद्भावना और होते हुए भी पाकिस्तान कैसे बन गया !

इसके बाद, १९४८ तक पाकिस्तान में जो वारदात हुईं वे बड़ी शर्मनाक और अमानवीय थीं। सिंध सीमा प्रान्त बलुचिस्तान से भाग कर आते हुए हिन्दुओं का मानों ताँता ही नहीं खतम होता दिखता था। पश्चिमी पंजाब में जो खूँरेजी हुई उसे कलम उतार नहीं सकती। हिन्दू-सिख के खून से मुसलमानों ने वजू की रस्म अदा कर मानो अहले-इस्लाम की शुक्र गुजारी। इस्लाम (शान्ति) का चेहरा सुर्ख हो उठा। पूर्वी बंगाल जो पूर्वी पाकिस्तान बना वहाँ बड़ी बेरहमी से हिन्दुओं पर घोर अत्याचार शुरू कर दिया गया।

नोआखाली में तो चंगेजी नादिरी कत्लेआम भी पिछड़ गया। हिन्दू भाग-भाग कर भारत आने लगे, सर्वहारा सर्वस्व स्वाहा। अचानक आयी इस समस्या का समाधान आसान नहीं था। लाखों की तादाद में लोग आते रहे। आपस में बिछुड़े उजड़े। तन पर कपड़ा नहीं, खाने को अन्न नहीं, रहने का स्थान नहीं। हमलोग राहत के काम में जुट पड़े।

प्रभुदयाल जी हिम्मतसिंहका, रामकुमारजी भुवालका, भागीरथजी कानोड़िया ने बड़ी तत्परता से जन-धन और साधन को संगठित कर सहायता का काम बड़े पैमाने पर चलाया। डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी के उद्योग से सहायता समिति ने महत्वपूर्ण काम किया।

भारत सरकार ने सिन्ध, पंजाब और बंगाल के लहर से उमड़ते विस्थापितों को बसाने का काम गम्भीरता से लिया। अच्छा होता कि विभाजन से पूर्व जनसंख्या की अदला-बदली कर ली जाती। इससे धन और जन की हानि नही होती।

भारत पाकिस्तान में सेना सम्पत्ति आदि का बँटवारा तय हो चुका था। हिन्दुस्तान ने अपना वादा पूरा किया किन्तु पाकिस्तान ने दवा लिया। भारत ने पहल की पर वे माने नहीं। इस पर भारत सरकार ने कहा कि यदि पाकिस्तान का यही रवैया रहा तो भारत देय राशि के पचास करोड़ नही देगा। इस पर पाकिस्तान और भारत के मुसलमानों ने बहुत शोर-शराबा किया और बात गांधी जी तक पहुँची। गांधी जी को स्थिति साफ-साफ बता दी गयी किन्तु वे मानने को तैयार नही हुए। ९ जनवरी १९४८ को उन्होंने पाकिस्तान को ५० करोड़ देने के लिये आमरण अनशन कर दिया। सरकार ने समझाया कि हमारी सम्पत्ति और रुपये पाकिस्तान ने दवा रखे हैं इसका हिसाब-किताब हो जाना चाहिये किन्तु गांधी जी अड़े रहे। भारत सरकार रुपये देने को विवश हो गयी। उन दिनों गाधी जी कहा करते थे कि भगवान् मुझे अब उठा ले तो अच्छा है क्योंकि जवाहर और पटेल मेरी बात मानते नहीं। और सचमुच बीस दिन बाद भगवान् ने उन्हें उठा लिया। ३० जनवरी की शाम को दिल्ली के बिड़ला भवन के मैदान में प्रार्थना सभा में एक युवक नाथूराम गोडसे ने उनके चरण स्पर्श करते हुए सीने पर गोलियाँ दाग दी। मरते समय उनके मुख से 'हे राम' के शब्द निकले।

भारत की स्वाधीनता के प्रेरक महापुरुष का कैसा अन्त ! सौ वर्ष पूर्व अमेरिका में दासों को मुक्ति दिलाने वाले अब्राहम लिंकन का भी अन्त बहुत

एक मोड़ दे दिया। इन्हीं दिनों कलकत्ते के श्रमिक नेता श्री शिवनाथ बनर्जी तथा माडर्न रिव्यू के सम्पादक श्री केदारनाथ चटर्जी से भी परिचय जयप्रकाश बाबू के सानिध्य में हुआ।

शरद बाबू मेरे प्रिय लेखकों में रहे हैं। उन्हें मैं बहुत चाव से पहले भी पढ़ता था, आज भी। न जाने कितनी लड़कियों के विवाह में साड़ियाँ और गहने उपहार मे न देकर शरद बाबू की चालीस पुस्तकों के सेट मैंने दिये हैं। यह कहूँ तो अत्युक्ति नहीं होगी कि हिन्दी में अनूदित उनकी पुस्तकों का सबसे बड़ा ग्राहक मैं रहा हूँ। आज हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर के द्वारा प्रकाशित शरद के अनूदित संस्करण नहीं मिलते। अन्य हल्के अनुवाद से प्रकाशकों ने बाजार को पाट दिया है। पैसे के सामने नैतिक दायित्व को भूलना स्वाभाविक है किन्तु कम से कम साहित्य के क्षेत्र को तो बख्शना चाहिए था।

एक दिन अचानक बद्री बाबू, सेंगरजी और मैं देवानन्दपुर के लिए रवाना हो गये। छुट्टी का दिन था। देवानन्दपुर में शरद बाबू का छोटा सा मकान आज भी वहां है। उसमें दूसरे लोग रह रहे थे। शरद साहित्य के स्नेहियों से वे परेशान से थे, क्योंकि प्रायः बहुत से लोग उस पुण्यतीर्थ को देखने के लिए श्रद्धा की भावना से आये दिन आया करते। तरह-तरह के प्रश्न पूछते ताकि उनकी जिज्ञासाओं का निवारण हो। हम भी वहाँ पहुँचे पर हमें मकान के अन्दर आने नहीं दिया।

संयोग से एक वृद्ध सज्जन मिल गये। उन्होंने हमें शरद बाबू के मकान का वह बरामदा दिखाया, जहाँ वे बीमार पड़े रहते थे। पटना से राजलक्ष्मी उनकी सुश्रुषा के लिए आयी थीं। वृद्ध सज्जन के साथ हमने वह पुरानी पाठशाला देखी जहाँ शरद बाबू और काशीनाथ पढ़ा करते। सरस्वती नदी भी देखी, छोटी सी बहू की तरह झुरमुटों के बीच मानों सबकी ओट बचाकर चली जा रही हो। जमींदारों का बगीचा देखा। यहाँ प्रेत पिशाचों का बसना माना जाता था। शरद बाबू घर वालों के डर से यहीं आ छिपते।

गौर गोसाँई और वैष्णवों का अखाड़ा यहाँ से करीब डेढ़-दो मील पर है। शाम हो रही थी। अतएव इन्हें फिर कभी आकर देखने का कहकर उनसे विदा ली। यह स्थान कलकत्ते से करीब चौंतीस मील पर है। छोटी-सी नदी बहती है—थोड़े से मकान हैं। शान्त वातावरण, शहर की हवा गहराई से घुस नहीं पायी है। शरद बाबू और बंगला के सुविख्यात कवि भारतचन्द्र के कारण इसका नाम सदैव स्मरणीय रहेगा।

कुछ दिनों बाद फिर मित्रों के आग्रह पर देवानन्दपुर जाने का प्रोग्राम

कुछ इस प्रकार का हुआ। विधि की कैसी विडम्बना। सारे देश में शोक छा गया। लोग किंकर्त्तव्यविमूढ हो गये। उनका रहनुमा चला गया।

पाकिस्तान गैर-मुसलमानों से लगभग खाली हो गया। बचे वही जो जबरन मुसलमान बना लिये गये। औरतें बीबियाँ बना ली गयीं। इन घटनाओं का प्रभाव भारत पर किन्तु दूसरे ही ढंग का पड़ा। मुसलमानों की योजना पक्की थी। पूर्वी पंजाब में लूट मार की प्रतिक्रिया यहाँ हुई किन्तु स्वेच्छा से मुसलमान पाकिस्तान जाने लगे, उन्हें जाने दिया गया। गृहत्यागी हिन्दुओं की सम्पत्ति उन्हें पाकिस्तान में दी गयी। भारत धर्म-निरपेक्ष बना रहा और पाकिस्तान पूरी तौर पर इस्लामी राष्ट्र।

१९४८ में मेरा परिचय श्री जयप्रकाशनारायण एवं डॉ० राममनोहर लोहिया से हो गया था। मेरे मित्र श्री बद्रीप्रसाद बांयावाला और हम एक ही मकान 'रामभवन' में रहते थे। यह परिचय उन्हीं की मार्फत हुआ। विशाल भारत के सम्पादक श्री मोहन सिंह सेंगर बद्रीबाबू के साथ रहते थे। सुवह के नाश्ते और रात के भोजन के बाद उनसे साहित्य चर्चा होती रहती। वहीं से पठन-पाठन में मेरी रुचि विशेष रूप से बढ़ती गयी और यह क्रम आज भी है।

डॉ० लोहिया बद्रीबाबू के यहाँ ठहरते किन्तु जयप्रकाश बाबू जब भी कलकत्ते आते, मेरे पास ठहरते। यह सिलसिला १९५६ तक चालू रहा। इसके वाद एक प्रकार से मेरा कलकत्ता रहना छूट गया, दिल्ली रहने लगा था। आज भी मेरे प्रति उनका स्नेह पूर्ववत् बना हुआ है। उन्हें बहुत नजदीक से देखने का मुझे अवसर मिला। घण्टों बातें की, विचारों में दृढ़ता है, सुलझे हुए स्पष्ट हैं। राजनीति के हल्के दाव-पेंच नहीं रखते, यही कारण है कि अन्य लोगों की भाँति राजनीति में उन्होंने किसी पद को स्वीकार नहीं किया। इसके प्रति उनमें रुचि भी नहीं, यह कहना अधिक ठीक होगा। उनमें विचार-शील कर्मयोगी है। यह अत्युक्ति न होगी कि गांधी जी के बाद राजनीतिक नेताओं में उनके जैसा ईमानदार, स्नेहिल और दूरदर्शी शायद ही कोई मिले।

जयप्रकाश बाबू के कारण मेरा परिचय अन्य समाजवादी नेता आचार्य नरेन्द्र देव, बाबू गंगाशरण सिंह, श्री अशोक मेहता आदि से भी हो गया। वास्तव मे अनजाने में १९४९ में मैं राजनीति की ओर बढ़ने लगा। अब तक केवल देश की समस्याओं पर सोचता था, समाज और शिक्षा में सुधार के प्रति अधिक रुचि थी। संगत का असर होता है। मुझ पर भी हुआ। विद्वान् मनस्वी और कर्मठ देशभक्तों के सम्पर्क ने अनायास मेरे विचारों को दिशा में

एक मोड़ दे दिया। इन्हीं दिनों कलकत्ते के श्रमिक नेता श्री शिवनाथ बनर्जी तथा मार्डन रिव्यू के सम्पादक श्री केदारनाथ चटर्जी से भी परिचय जयप्रकाश बाबू के सानिध्य में हुआ।

शरद बाबू मेरे प्रिय लेखकों में रहे हैं। उन्हें मैं बहुत चाव से पहले भी पढ़ता था, आज भी। न जाने कितनी लड़कियों के विवाह में साड़ियाँ और गहने उपहार में न देकर शरद बाबू की चालीस पुस्तकों के सेट मैंने दिये हैं। यह कहूँ तो अत्युक्ति नहीं होगी कि हिन्दी में अनूदित उनकी पुस्तकों का सबसे बड़ा ग्राहक मैं रहा हूँ। आज हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर के द्वारा प्रकाशित शरद के अनूदित संस्करण नहीं मिलते। अन्य हल्के अनुवाद से प्रकाशकों ने बाजार को पाट दिया है। पैसे के सामने नैतिक दायित्व को भूलना स्वाभाविक है किन्तु कम से कम साहित्य के क्षेत्र को तो बख्शना चाहिए था।

एक दिन अचानक बद्री बाबू, सेंगरजी और मैं देवानन्दपुर के लिए रवाना हो गये। छुट्टी का दिन था। देवानन्दपुर में शरद बाबू का छोटा सा मकान आज भी वहाँ है। उसमें दूसरे लोग रह रहे थे। शरद साहित्य के स्नेहियों से वे परेशान से थे, क्योंकि प्रायः बहुत से लोग उस पुण्यतीर्थ को देखने के लिए श्रद्धा की भावना से आये दिन आया करते। तरह-तरह के प्रश्न पूछते ताकि उनकी जिज्ञासाओं का निवारण हो। हम भी वहाँ पहुँचे पर हमें मकान के अन्दर आने नहीं दिया।

संयोग से एक वृद्ध सज्जन मिल गये। उन्होंने हमें शरद बाबू के मकान का वह बरामदा दिखाया, जहाँ वे बीमार पड़े रहते थे। पटना से राजलक्ष्मी उनकी सुश्रुषा के लिए आयी थीं। वृद्ध सज्जन के साथ हमने वह पुरानी पाठशाला देखी जहाँ शरद बाबू और काशीनाथ पढ़ा करते। सरस्वती नदी भी देखी, छोटी सी बहू की तरह झुरमुटों के बीच मानों सबकी ओट बचाकर चली जा रही हो। जमींदारों का बगीचा देखा। यहाँ प्रेत पिशाचों का बसना माना जाता था। शरद बाबू घर वालों के डर से यहीं आ छिपते।

गौर गोसाँई और वैष्णवों का अखाड़ा यहाँ से करीब डेढ़-दो मील पर है। शाम हो रही थी। अतएव इन्हें फिर कभी आकर देखने का कहकर उनसे विदा ली। यह स्थान कलकत्ते से करीब चौंतीस मील पर है। छोटी-सी नदी बहती है—थोड़े से मकान हैं। शान्त वातावरण, शहर की हवा गहराई से घुस नहीं पायी है। शरद बाबू और बंगला के सुविख्यात कवि भारतचन्द्र के कारण इसका नाम सदैव स्मरणीय रहेगा।

कुछ दिनों बाद फिर मित्रों के आग्रह पर देवानन्दपुर जाने का प्रोग्राम

बना। इस बार साथ में कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल भी थे। किराये की बस ले ली—साथ में पिकनिक के सारे सामान। सुबह ही चल पड़े। वहां पहुँचकर वृक्षों की छाया में नाश्ता जलपान किया गया। मित्रों के साथ गौर-गोसाई का घर और वैष्णवों का अखाड़ा, सरस्वती नदी आदि को देखने के लिये पैदल ही चल पड़े। घनी झाड़ियाँ, ऊँचे-ऊँचे वृक्ष, रास्ते के नाम पर अस्पष्ट पगडंडी। लगभग एक मील चलने पर गौर-गोसाई का टूटा-फूटा मकान दिखा। वहाँ जो व्यक्ति था, उसमें दर्शकों के प्रति सहयोग की भावना थी। उसकी सहायता से गौर के बैठकखाने को देखा। कुछ पुरानी कापियाँ और किताबें एक टूटी सी आलमारी में रखी थी। बंगला की कृतिवास रामायण रखी देखकर मन में विचार आने लगे, सम्पन्न परिवार के इस लड़के को वैष्णवों में क्या मिला। वह तो मुसलमान था। सब कुछ छोड़छाड़कर वैष्णवों के अखाड़े मे पड़ा रहता। छुआछुत का जमाना था, इसलिए घर आकर भोजन करता। अपनी बनायी वैष्णव पदावली और रामायण के अंश उन्हें सुनाया करता।

पदावली के कुछ अंश मैंने सुने। रसखान की याद आ गयी। वे भी पठान थे, मुसलमान। इसका उद्रेक हृदय के अन्तस्थल में होता है, वह तो अनुभूति की अभिव्यक्ति है। जाति, पांति वर्ण का मोह उसके लिये कहाँ? माध्यम चाहिए, वह चाहे श्रीकृष्ण उनकी गोपिकाओं में मिले या साकी और शराब में। सूफी सन्तों ने निराकार ब्रह्म को साकी माना, देह को जम और छककर पीते रहे।

सरस्वती नदी के किनारे वैष्णवों के अखाड़े की दशा जीर्णशीर्ण हो रही थी। एक कमरे में भगवान की मूर्ति तो रखी थी, किन्तु पुजारी या सेवक नहीं दीखे। पास ही सरस्वती में आचमन किया। मन में विचार उठा, 'गंगेश्च यमुनेश्चैव गोदावरी सरस्वती, नर्मदे सिन्धु कावेरी जलेस्मिन सन्निधि कुरु'। गंगा यमुना सारी पवित्र नदियाँ प्रत्यक्ष है, कहते हैं सरस्वती लुप्त हो गयी और प्रयाग मे गंगा-यमुना की धारा में आकर गुप्त रूप से मिलती है। पता नहीं यह मूल सरस्वती है या नहीं। इतना जरूर है कि माँ शारदा के वरद पुत्र शरतचन्द्र को इस नदी ने जरूर अनुप्रेरित किया होगा। शायद मैं भी इसकी कृपा से कालिदास की तरह भाग्यवान हो जाऊँ।

वैष्णवी कमली लता का उल्लेख वैष्णवों के अखाड़े के प्रसंग में कई बार आता है। स्नेहिल और सरस स्वभाव था। कैसी रही होगी, पता नहीं। उसका कमरा कौन सा था, किससे पूछता? वहाँ तो कोई भी न था। वहीं

पास एक चबूतरे पर बैठ गया। मन में विचार उठ रहे थे, पर शान्ति अनुभव कर रहा था। जन कोलाहल और तनावपूर्ण वातावरण से कुछ देर हटने पर मनुष्य स्वयं को पा जाता है, यह स्वाभाविक है। एक मित्र ने कंधे पर हाथ रखकर कहा, चलना चाहिए देर हो रही है। हम वापस देवानन्दपुर आ गये। दाल-बाटी रसोई तैयार थी। थके हुए थे ही, सबों ने वहीं वृक्षों के तले बैठकर भोजन किया। चलते-चलते वह जगह भी देख ली, जहाँ शरत शतरंज खेला करते थे।

देवानन्दपुर ग्राम से करीब तीन बजे हम चल पड़े। यहाँ से थोड़ी दूर पर बंडेल का पुराना गिरजा है। सभी मित्र इसे देखने गये। सत्रहवीं शताब्दी की शुरुआत में अकबर के समय पुर्तगालियों ने इसे गंगातट पर हुगली की अपनी बस्ती में बनाया। तब कलकत्ता बसा नहीं था। आदि सप्तग्राम, हुगली, श्रीरामपुर, मुर्शिदाबाद वगैरह बंगाल के व्यापार केन्द्र थे। पुर्तगालियों का यह गिरजा आज भी अच्छी दशा में है। सदियों पहले की मूर्तियाँ अच्छी हालत में हैं। गंगा तट यहाँ बड़ा रमणीय है।

बंडेल से वापसी के रास्ते हम हुगली का इमामबाड़ा देखने गये। हाजी मुहम्मद मोहसिन ने इसे बनवाया। ज्यादा पुराना नहीं है, पिछली शताब्दी में बना। मोहसिन अरबी, फारसी के अच्छे ज्ञाता थे, विद्याव्यसनी और उदार। उन्होंने इस्लामी धर्म और संस्कृति के अध्ययन केन्द्र के बतौर इसे बनवाया। पुस्तकों का अपना सारा संग्रह और जायदाद-दौलत भी इमामबाड़े को भेंट कर दी। बनावट में यह लखनऊ के बड़े इमामबाड़े सा लगा किन्तु उतना बड़ा और शानदार नहीं। फिर भी बंगाल में इसके जोड़ का दूसरा इमामबाड़ा नहीं देखा।

कलकत्ते के लिये हम चल पड़े। दिन ढल चुका था। सड़क पर आते ही चटकलों (जूट मिलों) का सिलसिला शुरू हो गया। रास्ते के दोनों किनारे दुकानों में और बिसातियों से सामान खरीदते मजदूर दिखाई पड़े। सड़कों पर मैले जीर्ण कपड़ों में स्त्रियाँ बच्चों को गोद में लिये कहीं पानी ले जा रही थी तो कहीं जलावन की लकड़ी या सामान सर पर लादे चली जा रही थी। बरबस ख्याल हो जाता कि दुर्भाग्य इनका है, या समाज का, देश का। आन्ध्र, उड़ीसा, बिहार और उत्तर प्रदेश के काफी लोग पाटशिल्प में यहाँ लगे हैं। परिवार सहित रहते हैं। सबका जीवन एक सा, समस्यायें एक सी। रोजी-रोटी सबको घर से दूर खींच कहाँ से कहाँ ले जाती है। मैं भी तो ऐसी

परिस्थिति में असम में भटका, सुदूर राजस्थान से कलकत्ता आया। यहाँ भाग्य ने मेरा साथ दिया।

इसके काफी अरसे बाद तीसरी बार देवानन्दपुर १९७४ में गया। साथ में थे, काशी के श्री विश्वनाथ मुखर्जी। वे शरत बाबू पर एक बड़ी खोजपूर्ण पुस्तक लिख रहे हैं। बहुत बड़ा परिवर्तन इन सत्ताइस वर्षों में यहाँ हो गया था। शरत् बाबू की स्मृति में पुस्तकालय, वाचनालय, और सभा कक्ष बन चुके थे। बाबा रघुनाथ गोसाईं का वैष्णव अखाड़ा भी स्वर्गीय युगलकिशोरजी बिरला की सहायता से बहुत कुछ सुधर चुका था।

शरत बाबू की खूबी थी कि उन्होंने अपने उपन्यासों में परिवेश और वातावरण का बहुत ही स्वाभाविक वर्णन किया है। पात्र या चरित्र के साथ पाठक एकात्म हो जाता है। देवदास, विराजबहू, रामेरसुमति, परिणीता, विजया, पथेरदावी आदि में शहर और ग्राम के जीवन का जैसा वर्णन है, वह ठीक वैसा उस जमाने में था। लेखक की यह तकनीक ही उसे सफल बनाती है। प्रेमचन्द, चार्ल्स डिकेन्स, गोर्की, फणीश्वरनाथ 'रेणु' इसीलिए लोकप्रिय हो सके।

सरस्वती नदी के उस पार जाकर दिघड़ा का वह मकान नहीं देख सका जिसे 'दत्ता' के रासबिहारी बाबू ने ब्राह्म समाज का मन्दिर बना दिया था। विश्वनाथ जी शरत बाबू से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित एवं सम्पर्कित स्थलों को देखना चाहते थे। उनके साथ घूम-घूमकर इन्हें देखा। मेरी धारणा है साहित्यकार की साधनास्थली किसी तीर्थ से कम नहीं, वह भी सिद्ध पीठ है। इससे एक प्रेरणा मिलती है, उसकी कृतियों के रसास्वादन में सरलता रहती है।

शरत बाबू केवल बंगला अथवा बंगला के नहीं बल्कि भारत के अन्यतम श्रेष्ठ विचारक थे। उनकी रचनाओं का अनुवाद भारत की सभी भाषाओं में हुआ। अनेक लेखकों को अनुप्रेरित किया। रूढ़ियों और जड़-संस्कारों में दबी और दबायी भारतीय नारी के हृदय में बहती करुणा और वात्सल्य की गंगा और आंखों में तैरते आँसुओं का मर्म उन्होंने जिस ढंग से अभिव्यक्त किया है, शायद ही अन्य किसी से संभव हुआ हो। यही कारण था कि तत्कालीन बंगाल में शरत की भाषा शैली यहाँ तक कि संवाद साधारण-जनों की बोल-चाल की भाषा में उद्धृत होते रहे, आज भी हैं।

विदेशों में साहित्यकारों को समादृत किया जाता है। पूँजीवादी देशों

की बात ही क्या, कम्युनिस्ट देश रूस में मैंने देखा कि लेखकों, विद्वानों, कलाकारों और वैज्ञानिकों को सबसे अधिक तनख्वाह और सुविधायें मिलती हैं। गोर्की के नाम पर तो शहर ही है। इंगलैण्ड में चार्ल्स डिकेन्स और स्कॉट के स्मारक बन चुके हैं, इनके संग्रहालय हैं। एवन नदी पर शेक्सपीयर का स्मारक देखने लोग विश्व के कोने-कोने से आया करते हैं। इनकी तुलना में हमारे देश के साहित्यकारों के प्रति हम अपनी कृतज्ञता प्रकट नहीं कर पाये। सड़कों या बाग़ों के नाम जरूर रख दिये। इन्हें सजा-संवारा रखते तो भी गनीमत थीं। प्रेमचन्द के लमही गाँव गया था। बनारस के पास ही है। जिन्होंने इसे देखा वे ही जानते हैं कि हिन्दी पर गर्व कर ऊँची आवाज उठाने वालों ने इस पवित्र तीर्थ के लिए क्या और कितना किया। हम अपने साहित्यकारों की रचनाओं को पढ़ लेते हैं, पी-एच. डी. और डी. लिट. डिग्री पा जाते हैं, उनकी पुस्तकों पर आधारित फिल्में देख लेते हैं, क्या यही यथेष्ट है ?

छोटा भाई बृजलाल कसौली में आरोग्य लाभ कर रहा था। मई १९४७ में उससे मिलने कसौली गया। सोचा गरमी से राहत मिलेगी और कुछ दिन पहाड़ों की सैर भी कर लूँगा। कसौली पहुचकर भाई को देखा, बहुत प्रसन्नता हुई। वजन बढ़ गया था, चेहरे पर रौनक आ गयी थी। उन दिनों क्षय रोग असाध्य तो नही पर दुस्साध्य माना जाता था, बहुत व्ययसाध्य। मन ही मन परमात्मा को धन्यवाद देता कि मेरे भाई को वे स्वस्थ कर रहे हैं। अब वह प्रतिदिन दो-तीन मील टहल लेता था। परिवार के दूसरे लोग वहाँ गये हुए थे, अतएव सेवा-सुश्रुषा का अभाव नहीं था। पन्द्रह दिन का अवकाश लेकर हिमालय भ्रमण के लिए रवाना हो गया। ●

सार्वजनिक जीवन और कलकत्ते का मारवाड़ी समाज

अपने कामकाज और व्यवसाय में रहते हुए सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यक्रमों के प्रति रुचि रखता था। उन दिनों गांधी जी का प्रभाव बढ़ रहा था। महात्मा जी ने सामाजिक सुधार को राजनीतिक आन्दोलन का एक अंग बना दिया था। इस प्रकार रूढ़िवादी प्रथाएँ, अशिक्षा, छुआछूत, पर्दा आदि का बहिष्कार 'स्वदेशी' के आन्दोलन के साथ चल रहा था। हम कभी-कभी इनकी मीटिंगों में चले जाते चन्दा वगैरह भी दिया करता। एकाध बार नमक भी बनाया। परन्तु यह सब घर वालों से छिपकर करते। भाई जी और पिता जी का बहुत डर लगता।

उन दिनों हमारे सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम आज से सर्वथा भिन्न होते थे। इनका सम्बन्ध अधिकतर जातीय कार्यक्रमों से रहता। मारवाड़ी ज्यादातर बड़ाबाजार में रहते थे। अतएव यह अंचल कलकत्ते में एक पृथक द्वीप की तरह लगता। मेरा सम्पर्क अंग्रेजों से था, ऑफिस में मानव बाबू एवं अन्य बंगाली किरानो वगैरह से भी मिलता और पाट के काम के सिलसिले मे बंगाल के कस्बे एवं गाँवों में भी जाया करता। मुझे इनके उत्सव, पर्व, सामाजिक-सांस्कृतिक आयोजनों को नजदीक से देखने-समझने का मौका मिलता था। मैं शामिल भी होता। बंगाल एवं बंगला साहित्य के प्रति रुचि बढ़ने लगी। बंगला साहित्य पढ़ने की प्रेरणा हुई। 'भारतमित्र', 'मतवाला' में अनुवाद निकलते, मै पढ़ता। धीरे-धीरे मूल बंगला पुस्तकें भी पढ़ने लगा। बंकिम बाबू की बहुत-सी रचनाएँ मैंने पढ़ डालीं। ब्राह्म समाज का साहित्य भी पढ़ा। राजा राममोहन राय एवं केशवचन्द्र सेन के विचारों का प्रभाव मुझ पर पड़ा। रूढ़िवादिता के प्रति विद्रोह ने मन में जड़ जमा लिया परन्तु इतना साहस नही था कि उसे व्यक्त कर सकूं।

सन् १९४७-४८ के बाद धीरे-धीरे सार्वजनिक कार्यों में रुचि बढ़ी। मैं सक्रिय हो उठा परन्तु राजनीतिक गतिविधियों में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लेता था। सामाजिक कार्यक्रम एवं सार्वजनिक सेवाओं में आगे बढ़ता रहा। देश के विभाजन पर शरणार्थियों-वास्तुहाराओं का आगमन, दगा पीड़ितों,

सहायता के लिए शाही फौज बंगाल में रहेगी। जो शाही फौज आगरे से आयी थी उसमें राजपूत सैनिक थे। रसद और युद्ध सामग्री की आपूर्ति के लिए मारवाड़ के कुछ वैश्य भी थे। इसके बाद १६०५ ई० में आमेर नरेश राजा मानसिंह बंगाल में बीस हजार शाही फौज के साथ आये। राजनीतिक अराजकता एवं विद्रोह का दमन करने के बाद यहाँ शासन को भी व्यवस्थित किया। इससे पूर्व १५८० ई० में टोडरमल ने यहाँ आकर शासन व्यवस्था सुधारी थी और उन्होंने कतिपय मारवाड़ियों को राजकार्य में स्थान दिया। इस प्रकार राजनीति और व्यापार दोनों में मारवाड़ी धीरे-धीरे जमने लगे। मारवाड़ियों में यह विशेषता रही कि वे अपने काम से मतलब रखते थे। ईमानदारी, मितव्ययिता, अध्यवसाय के कारण उनकी साख थी और उन्होंने कभी भी इसका दुरुपयोग नहीं किया। इसी कारण वे राजा प्रजा दोनों के विश्वासपात्र बने रहे। बंगाल में उनके पैर जमने के कारण वे अपने सगे-सम्बन्धियों को भी व्यापार, व्यवसाय के लिए बुला लिया करते। आवागमन की असुविधा एवं कट्टर धार्मिक बन्धनों के कारण वापस देश जाना उनके लिए सम्भव नहीं होता। वे यहीं बस जाते और यहीं के हो जाते। उत्तर भारत में अंग्रेजों के प्रभाव विस्तार से पहले तक राजपूताना से देसावरों की सफर खास तौर पर बंगाल में आना आसान नही था। रास्ते मे ठग, चोर, डाकू, बीहड़ जंगल, नदी-नाले, जंगली जानवर—सभी तरह की कठिनाइयाँ थी। सफर में महीनों लग जाते थे। यात्राएँ पैदल होती या बैलगाड़ियों मे। अधिकांश व्यक्तियों का आवागमन दिल्ली-आगरा से आनेवाली सेनाओं के साथ होता। बंगाल, बिहार में अंग्रेजो के पैर जमने पर यात्री या व्यापारी राजपूताना से मिर्जापुर तक पैदल आते थे ऊँटों या बैलगाड़ियों पर। मिर्जापुर से कलकत्ते तक की यात्रा के लिए वे चढ़नदारी अर्थात् नाव में महाजन के माल की रखवाली का काम करते। इसके लिए उन्हें भोजन एवं पारिश्रमिक भी मिल जाता। वहाँ से नाव मे हुगली और सूतालूटी (कलकत्ता) आते। यहाँ भी आवास की बड़ी कठिनाइयाँ थी। किराये की कच्ची झोपड़ियों में दो-चार आदमी साथ मिलकर रहते। खुद ही रसोई बनाते। यदि किसी सम्बन्धी ने थोड़ी पूँजी दे दी तो नौकरी न कर छोटी-मोटी दुकान कर लेते या महाजनी का कार बार कर लेते। सौ-पचास रुपयों को इतनी सावधानी से फेरते कि रकम बढ़ती जाती थी। जिनके पास पूँजी नही होती वे दलाली के काम या फेरी में लग जाते। माँग कर पेट चलाने को वे किसी भी हालत में स्वीकार नहीं करते। उन दिनो के मारवाड़ियों में

धारणा थी कि नौकरी से लक्ष्मी प्रसन्न नहीं होती। हारी-लाचारी में वे नौकरी करते और थोड़ी पूंजी होते हुए स्वतन्त्र व्यवसाय में लग जाते।

कलकत्ता के बसने से पहले अधिकांश 'मारवाड़ी' पटना, मुंगेर और मुर्शिदाबाद में आते। कुछ थोड़े से चटगांव में भी व्यापार करते थे। पलासी के युद्ध के बाद कलकत्ते का विकास तेजी से हुआ। अंग्रेजी राज की राजधानी बनाये जाने पर तभी से राजनीतिक महत्व के साथ व्यापार वाणिज्य और उद्योग भी कलकत्ते में दिन दूना बढ़ने लगा।

नवाबी शासन में जगतसेठों की हत्या के बाद से राजनीति के प्रति मारवाड़ी उदासीन होते गये। इन्हीं दिनों बीकानेर और शेखावाटी के अंचलों से काफी संख्या में वैश्य आते रहे। इन लोगों ने अपना व्यापार जल्द ही बढ़ा लिया। इसी समय कलकत्ते में मारवाड़ियों के लिये 'काइयाँ और 'चूरूवाला' शब्द व्यवहार में आये। 'काँइयाँ' का अर्थ होता है, चतुर चालाक। पीढी दर पीढी बसनेवाले और राजकाल में भाग लेने वाले मारवाड़ियों को स्थानीय बंगाली 'काइयाँ' कहते थे, बाद में आकर बसने वाले अधिकांश शेखावाटी (चूरू) के रहते इसलिये इन्हें चूरूवाला कहा जाता। चूरू वालों का सामाजिक संगठन अच्छा था। इनकी पंचायत थी और आपसी मामलों पर विचार भी ये अपनी गद्दियों में करते। इनकी पंचायत आगे चलकर बड़ी पंचायत कहलायी। इसमें आपसी विवाद, सामाजिक रस्म रिवाज आदि पर आवश्यक निर्णय लिया जाता था। अब तो यह परम्परा रह नहीं गयी किन्तु हमारे समय में काफी प्रभावी ढंग से इसका काम होता था।

शुरू के दिनों में जब मैं कलकत्ता आया, मैंने राजस्थानी भाइयों को कठिन एवं संघर्षपूर्ण जीवन बिताते देखा है। यह बात जरूर है कि पहले की तरह वे उन दिनों खोलाबाड़ियों (कच्चे मकानों) में नहीं रहते थे। बड़े बाजार की गद्दियों में रहते, मिल जुलकर रसोई बनाते। इनका चौका 'बासा' कहलाता। बाद में राजस्थान से आये ब्राह्मणों ने स्वतन्त्ररूप से बासा चलाना शुरू किया जो अब तक चालू है। उन दिनों मारवाड़ी नियमित रूप से बड़े सवेरे गंगास्नान करते फिर मन्दिरों में जाते। भोजन कर ठीक ९ बजे तक अपने काम पर बैठ जाते। आजकल की तरह वे बी०कॉम० चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट नही होते और न अंग्रेजी की उनकी अच्छी जानकारी थी परन्तु मुड़िया महाजनी में पक्के थे। हिसाब, किताब और बही खाता रखने के साथ आम तौर पर सबों को इस बात की भी जानकारी रहती थी कि कौन सा माल कहाँ मिलेगा, पड़ता कैसा पड़ेगा। हमदर्दी उनमें कूट-कूट कर भरी थी। देश

से कोई भी भाई आ जाता तो कोशिश करके कहीं न कहीं काम पर लगा देते। मितव्ययी वहुत होते थे। सफर तीन वर्ष या पाँच वर्ष की करते। इस बीच पाई-पाई जोड़कर संचय करते। आजकल की तरह 'एन्टरटेनमेन्ट' के प्रति झुकाव नहीं था। रामलीला, रास या कभी-कभी नौटंकी की पार्टी आती तो चले जाते। इन सवों के लिये खर्च नहीं करना पड़ता था, मन्दिरों या सम्पन्न व्यापारियों द्वारा आयोजन होते रहते। शाम को काम-काज से फुर्सत पाकर इनमें मैं भी जाया करता। समाज के अच्छे प्रतिष्ठित व्यवसायी भी शामिल होते थे। वड़े-छोटे के भेद-भाव नहीं रखा जाता। पारस्परिक परिचय वढ़ाने का अवसर मिलता था, स्नेह सहयोग का भी।

थियेटर का प्रवेश कलकत्ते में हो चुका था। ज्यादातर कथानक में इश्क प्यार रहता, गजल-शेर से भरे संवाद। बाद में रामायण, महाभारत पर आधारित कथानक आये। राजा भर्तृहरि, गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ आदि पर भी पारसी थियेटर कम्पनियाँ नाटक प्रस्तुत करती थीं। स्वदेशी युग था, समाज सुधार की भावना जोर पकड़ रही थी। अतएव राष्ट्रीय एवं सामाजिक समस्याओं पर भी नाटक आने लगे। सन् १९४० तक वड़ावाजार में बहुत सी संस्थाएँ काम करने लगीं। इनमें नाटकों के लिये विशेषरूप से हिन्दी नाट्य समिति ने बहुत काम किया। सुलझे विचार के युवक और साहित्यकारों का इसे सहयोग प्राप्त था। मैं कभी-कभी समिति में जाया करता था। मुझे कई बार नाटकों में अभिनय के लिए आमंत्रित किया गया। कुछ तो संकोचवश एवं भाई जी बाबू जी के डर से केवल सहयोगी एवं दर्शक बना रहा, स्टेज पर नहीं उतरा।

मनुष्य समस्याओं से घिरा कठिनाइयों से जूझता है, उसे राग-रंग फीका लगता है। मेरी भी यही दशा थी। किन्तु ज्यों-ज्यों कठिनाइयों से उवरने लगा, अपने अन्दर उत्साह एवं स्फूर्ति का अनुभव करता। आसपास के वातावरण समाज की गतिविधि में रुचि वढ़ने लगी। मुझे कलकत्ते का इतिहास, विशेषत: मारवाड़ी समाज के विकास का क्रम आकर्षक लगा।

मेरे कलकत्ता आने से पूर्व दिल्ली भारत की राजधानी बन चुकी थी। किन्तु कलकत्ते का महत्व कम नहीं हुआ। व्यापार-व्यवसाय का केन्द्र बना रहा। उद्योग-धन्धे यहाँ वढ़ते ही गये। नाना प्रकार के राजनीतिक उलट फेर होने के वावजूद आज भी यही अवस्था है। बंगाल और कलकत्ते का आज जो गौरव है, उसमें राजस्थानियों का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अवदान रहा है। पलासी के युद्ध के बाद यदि मारवाड़ी राजनीति से हटकर वाणिज्य-व्यापार

के क्षेत्र में नहीं उतरते तो उनके स्वयं का अस्तित्व संदिग्ध हो जाता। कलकत्ता या बंगाल आज जैसा उन्नत शायद ही हो पाता।

मैंने प्रारम्भ से ही लक्ष्य किया कि मारवाड़ियों की व्यापारिक उन्नति का आधार उनकी परम्परागत सराफी पद्धति रही है। बहुतों की मान्यता है कि बैंकिंग सिस्टम पश्चिम की देन है। यह सही नहीं है। सराफी या बैंकिंग व्यवसाय हमारे देश के लिए नयी व्यवस्था नहीं है। विभिन्न देशों के आर्थिक विकास के इतिहास को पढ़ने पर पता चलता है कि अन्य देशों में जब कोई भी सराफी पद्धति की कल्पना नहीं कर सकता था, भारत में यह चरम विकास कर चुका था। गुप्तकाल से अब तक सराफी की पद्धति लगभग एक सी ही चली आ रही है, भले ही समयानुसार उसमें कुछ परिवर्तन हुए हों। राजस्थानी तो इस व्यवसाय में काफी अगुआ रहे हैं।

हमारी समाज व्यवस्था, प्राचीन काल से कुछ इस ढंग की रही है कि समाज में आर्थिक भेदभाव और शोषण को दूर करने का प्रयास रहा है। सराफी का व्यवसाय इसी लक्ष्य से विकसित किया गया। यह मानी हुई बात है कि समाज में सबों को उन्नति करने का अवसर मिलना चाहिए किन्तु यह भी वास्तविकता है कि व्यक्ति के गुण पर यह संभव है। पौधों को काट-छांट कर समान करने पर भी कुछ वृंत तेजी से बढ़ते हैं, कुछ ठंठ रह जाते हैं। इसी प्रकार, सभी व्यक्ति समान रूप से सम्पन्न नहीं होते। साधन और धन कमोवेश व्यक्तियों के पास होते रहते हैं। धन बहुत बड़ा साधन हुआ करता है, होता आया है, चिरकाल से। अतएव हमारे मनीषियों ने यह निष्कर्ष निकाला था कि समाज के कुछ ही व्यक्ति यदि साधन-सम्पन्न और धनी बने रहे तो शोषण की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से उनमें बढ़ सकती है। यदि उनके धन का उपयोग जनसाधारण के लिए न हो सका तो साधनहीन और साधन सम्पन्न में सद्भावना का लोप होना अवश्यम्भावी है। नतीजा यह होगा कि द्वेष और ईर्ष्या वर्गसंघर्ष के रूप में फूट निकलेगी। मनुस्मृति अथवा अर्थशास्त्र के प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि हमारे देश में धन को समाज या राष्ट्र की सम्पत्ति मानी गयी है। इसी आधार पर महात्मा गांधी ने भी धनिकों को समाज के धन का ट्रस्टी कहा है।

हमारी यह मान्यता रही है कि धन का विनिमय अधिकाधिक होते रहना ही समाज को स्वस्थ रखने का सहज उपाय है। उसके लिए बड़ी दूरदर्शिता से उन्होंने व्यवस्था चलायी। यह स्वाभाविक है कि व्यक्ति को कार्य के लिए स्वार्थ सर्वाधिक अनुप्रेरित करता है। धनिक व्यक्तियों को अपने

से कोई भी भाई आ जाता तो कोशिश करके कहीं न कहीं काम पर लगा देते। मितव्ययी बहुत होते थे। सफर तीन वर्ष या पांच वर्ष की करते। इस बीच पाई-पाई जोड़कर संचय करते। आजकल की तरह 'एन्टरटेनमेन्ट' के प्रति झुकाव नहीं था। रामलीला, रास या कभी-कभी नौटंकी की पार्टी आती तो चले जाते। इन सबों के लिये खर्च नहीं करना पड़ता था, मन्दिरों या सम्पन्न व्यापारियों द्वारा आयोजन होते रहते। शाम को काम-काज से फुर्सत पाकर इनमें मैं भी जाया करता। समाज के अच्छे प्रतिष्ठित व्यवसायी भी शामिल होते थे। बड़े-छोटे के भेद-भाव नहीं रखा जाता। पारस्परिक परिचय बढ़ाने का अवसर मिलता था, स्नेह सहयोग का भी।

थियेटर का प्रवेश कलकत्ते में हो चुका था। ज्यादातर कथानक में इश्क प्यार रहता, गजल-शेर से भरे संवाद। बाद में रामायण, महाभारत पर आधारित कथानक आये। राजा भर्तृहरि, गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ आदि पर भी पारसी थियेटर कम्पनियाँ नाटक प्रस्तुत करती थीं। स्वदेशी युग था, समाज सुधार की भावना जोर पकड़ रही थी। अतएव राष्ट्रीय एवं सामाजिक समस्याओं पर भी नाटक आने लगे। सन् १९४० तक बड़ाबाजार में बहुत सी संस्थाएँ काम करने लगी। इनमें नाटकों के लिये विशेषरूप से हिन्दी नाट्य समिति ने बहुत काम किया। सुलझे विचार के युवक और साहित्यकारों का इसे सहयोग प्राप्त था। मैं कभी-कभी समिति में जाया करता था। मुझे कई बार नाटकों में अभिनय के लिए आमंत्रित किया गया। कुछ तो संकोचवश एवं भाई जी बाबू जी के डर से केवल सहयोगी एवं दर्शक बना रहा, स्टेज पर नहीं उतरा।

मनुष्य समस्याओं से घिरा कठिनाइयों से जूझता है, उसे राग-रंग फीका लगता है। मेरी भी यही दशा थी। किन्तु ज्यों-ज्यों कठिनाइयों से उबरने लगा, अपने अन्दर उत्साह एवं स्फूर्ति का अनुभव करता। आसपास के वातावरण समाज की गतिविधि में रुचि बढ़ने लगी। मुझे कलकत्ते का इतिहास, विशेषत: मारवाड़ी समाज के विकास का क्रम आकर्षक लगा।

मेरे कलकत्ता आने से पूर्व दिल्ली भारत की राजधानी बन चुकी थी। किन्तु कलकत्ते का महत्व कम नही हुआ। व्यापार-व्यवसाय का केन्द्र बना रहा। उद्योग-धन्धे यहाँ बढ़ते ही गये। नाना प्रकार के राजनीतिक उलट फेर होने के बावजूद आज भी यही अवस्था है। बंगाल और कलकत्ते का आज जो गौरव है, उसमें राजस्थानियों का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अवदान रहा है। पलासी के युद्ध के बाद यदि मारवाड़ी राजनीति से हटकर वाणिज्य-व्यापार

के क्षेत्र में नहीं उतरते तो उनके स्वयं का अस्तित्व संदिग्ध हो जाता। कलकत्ता या बंगाल आज जैसा उन्नत शायद ही हो पाता।

मैंने प्रारम्भ से ही लक्ष्य किया कि मारवाड़ियों की व्यापारिक उन्नति का आधार उनकी परम्परागत सराफी पद्धति रही है। बहुतों की मान्यता है कि बैंकिंग सिस्टम पश्चिम की देन है। यह सही नहीं है। सराफी या बैंकिंग व्यवसाय हमारे देश के लिए नयी व्यवस्था नहीं है। विभिन्न देशों के आर्थिक विकास के इतिहास को पढ़ने पर पता चलता है कि अन्य देशों में जब कोई भी सराफी पद्धति की कल्पना नहीं कर सकता था, भारत में यह चरम विकास कर चुका था। गुप्तकाल से अब तक सराफी की पद्धति लगभग एक सी ही चली आ रही है, भले ही समयानुसार उसमें कुछ परिवर्तन हुए हों। राजस्थानी तो इस व्यवसाय में काफी अगुआ रहे हैं।

हमारी समाज व्यवस्था, प्राचीन काल से कुछ इस ढंग की रही है कि समाज में आर्थिक भेदभाव और शोषण को दूर करने का प्रयास रहा है। सराफी का व्यवसाय इसी लक्ष्य से विकसित किया गया। यह मानी हुई बात है कि समाज में सबों को उन्नति करने का अवसर मिलना चाहिए किन्तु यह भी वास्तविकता है कि व्यक्ति के गुण पर यह संभव है। पौधों को काट-छांट कर समान करने पर भी कुछ वृंत तेजी से बढ़ते हैं, कुछ ठंठ रह जाते हैं। इसी प्रकार, सभी व्यक्ति समान रूप से सम्पन्न नहीं होते। साधन और धन कमोवेश व्यक्तियों के पास होते रहते हैं। धन बहुत बड़ा साधन हुआ करता है, होता आया है, चिरकाल से। अतएव हमारे मनीषियों ने यह निष्कर्ष निकाला था कि समाज के कुछ ही व्यक्ति यदि साधन-सम्पन्न और धनी बने रहे तो शोषण की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से उनमें बढ़ सकती है। यदि उनके धन का उपयोग जनसाधारण के लिए न हो सका तो साधनहीन और साधन सम्पन्न में सद्भावना का लोप होना अवश्यम्भावी है। नतीजा यह होगा कि द्वेष और ईर्ष्या वर्गसंघर्ष के रूप में फूट निकलेगी। मनुस्मृति अथवा अर्थशास्त्र के प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि हमारे देश में धन को समाज या राष्ट्र की सम्पत्ति मानी गयी है। इसी आधार पर महात्मा गांधी ने भी धनिकों को समाज के धन का ट्रस्टी कहा है।

हमारी यह मान्यता रही है कि धन का विनिमय अधिकाधिक होते रहना ही समाज को स्वस्थ रखने का सहज उपाय है। उसके लिए बड़ी दूरदर्शिता से उन्होंने व्यवस्था चलायी। यह स्वाभाविक है कि व्यक्ति को कार्य के लिए स्वार्थ सर्वाधिक अनुप्रेरित करता है। धनिक व्यक्तियों को अपने

धन का विनिमय करने में यदि स्वार्थसिद्धि का अवसर न दिखाई पड़े तो उनमें रुचि नहीं पैदा होती। इस दृष्टिकोण से कमीशन के बतौर ब्याज की परम्परा चलायी गयी। इस प्रकार धन को निश्चल नहीं रहना पड़ा, विनिमय से उसमें गति आ गयी। जनसाधारण को इस प्रकार अपने काम चलाने के लिए ब्याज पर धन मिलने की सुविधा हो गयी। सुदीर्घ मुसलमानी शासन के प्रभाव से हमारी संस्कृति को काफी धक्का पहुँचा, हमारी मान्यताएँ शिथिल होती गयी, नैतिकता का महत्त्व भी कम हुआ इस कारण शोषण की प्रवृत्ति बढ़ी। फिर भी, वह वर्तमान अवस्था जैसी विश्रृङ्खल नहीं थी। मेरे *कलकत्ते आने के शुरुआत के दिनों तक ब्याज की दर पौने आठ आना (४७)* पैसे सैकड़ा थी। यही दर सारे उत्तरी भारत में लागू थी। बंगाल में नौ आना (५६ पैसे) की दर का प्रचलन हुआ, यह आज भी पुरानी बहियों में देखा जा सकता है।

सर्राफा के व्यवसाय में हुण्डी-पुर्जे भी चलते थे। व्यापारिक क्षेत्र में पूंजी नियोजन में रुचि लेने वाले जहाँ अधिक होते, वहाँ प्रतिस्पर्धा में ब्याज की दर कम हो जाती थी। इसी प्रकार पूंजी की माँग अधिक होने पर दर बढ़ भी जाती। किन्तु खाते के रूप में रुपयों का जो लेन-देन हुआ करता उसमें निर्धारित ब्याज ही लागू होता था। इसके अलावा डिस्काउन्ट की भी प्रथा थी। रुपये लगाकर मुद्दती हुण्डी खरीदने वाले सराफ मुद्दत से पहले रुपयों की जरूरत पड़ने पर बाजार भाव में हुण्डी बेचकर रुपये पा सकते थे। इस प्रकार पूंजी के लिए कठिनाई नहीं होती। राजस्थान से आये भाइयों को काम करने के लिए कलकत्ते में आसानी से रुपये मिल जाते थे। ईमानदारी और मेहनत उनमें थी, पूंजी के सहयोग से सम्पन्न होने में उन्हें अधिक समय नहीं लगता। कलकत्ते मे उन दिनों इतने बैंक नहीं थे, सराफों के फर्म ही बैंकिंग का काम करते थे। इनमें ताराचन्द घनश्यामदास, कल्लूबाबू लालचन्द, हरसामल रामचन्द्र, शीतलप्रसाद खड़ग प्रसाद, बंशीलाल, अबीरचन्द्र, चैनरूप सम्पतराम, आदि थे। इनके अलावा और भी कई फर्म थे।

अब तो यह अतीत की बात हो गई। राजनीतिक पेचबंदी, कानूनी पेशबन्दी आदि ने सराफा की स्वस्थ परम्परा को उखाड़ फेंका है। परिणाम यह हुआ कि धनी अधिक धनी और निर्धन और भी अधिक असहाय होते जा रहे हैं। परिणाम भी सामने उभरता आ रहा है। सराफे की तुलना वर्तमान बैंकिंग व्यवस्था से नही हो सकती। बैंकिंग में मानवता, उदारता और ईमानदारी को परखने-समझने की क्षमता नही हैं जब कि सराफे की

व्यवस्था में व्यक्ति का महत्त्व सर्वोपरि था। बैंक उसी व्यक्ति या व्यापारी को पूंजी देती है जिनके पास स्थावर सम्पत्ति होती है और बतौर जमानत उसे बैंक के हवाले वह कर देता है। जिसके पास चल-अचल सम्पत्ति नही है उसे बैंकों से पूंजी आसानी से नहीं मिल सकती। ईमानदारी, व्यक्तिगत साख आदि कोई मूल्य बैंक नहीं आंकती।

अब तो सरकार ने सराफो के व्यवसाय को अपना लिया है। छोटे कस्बे और शहरों में बैंक खुल रहे हैं। अफसर रुपये का लेन-देन करते हैं। कागजी कारवाई पूरी हो जाती है। रकम डूबे या बचे इससे उन्हें क्या? सराफ सरकार घाटे की पूर्ति ब्याज दर या टैक्स बढ़ाकर कर लेती है। अब तो सरकारी सिक्युरिटी, शेयर्स में पूंजी लगाकर धनी-सम्पन्न व्यक्ति विनिमय कर लेते हैं। इससे जनसाधारण तक पूंजी पहुँचने का अवसर नहीं मिलता, समाज को कोई लाभ भी नहीं पहुँचता है। व्यक्ति, देश और समाज के लिए यह व्यवसाय कहाँ तक उपयोगी है यह विचारणीय है।

शुरुआत के दिनों में जब मैं कलकत्ते आया था, हमारा कामकाज जम नहीं पा रहा था। असम यात्रा की असफलता मेरे मन को बराबर कचोटती। कलकत्ते में भी मैंने तरह-तरह की कोशिशें की परन्तु सफल नहीं हो पा रहा था। हम लोग बासे में खाते और गद्दी में सोते। एक बात जरूर थी कि हम हिम्मत नही हारे। असफलताओं ने हमें निराश नहीं किया। बासे में और गद्दी में मारवाड़ी समाज के बड़े-बड़े फर्म और लोगों की चर्चा सुना करता। कितना कष्ट सहन किया इन लोगों ने और कितनी मेहनत की और आज उनके फर्म और उनकी सन्तान कितनी सुखी है। हम भी मेहनत में कहीं कमी नहीं रखेंगे, हम भी सुखी हो सकते है, यह बात बार बार सोते जागते मेरे मन में उठा करती थी।

आज परमात्मा की कृपा हम पर है। परन्तु मैं अपने बीते दिन भूला नहीं हूँ और यह भी चाहता हूँ कि हमारी वर्तमान पीढ़ी अपने स्थायित्व के लिये केवल आज को न देखे, बीते कल और आने वाले कल पर भी नजर रखे। हमारी पिछली पीढ़ियों में यह बहुत बड़ा गुण था। वास्तव में पलासी के युद्ध के बाद से सन् १९१४-१८ के महायुद्ध तक के तेजी से बदलते समय में मारवाड़ी समाज के जिन व्यक्तियों ने विषम परिस्थितियों में संघर्ष कर कलकत्ते के व्यापारिक क्षेत्र में अपने को प्रतिष्ठित किया उनका जीवन अत्यन्त प्रेरणादायक है। उनमें से कुछेक का उल्लेख करना इसलिये आवश्यक समझता

हूँ कि इनसे मुझे बड़ी प्रेरणा मिली और इनका प्रसंग शायद आनेवाली पीढ़ी के लिये भी प्रेरक हो।

कलकत्ते में मारवाड़ी समाज में मुझे नाथूराम जी सराफ का स्थान बहुत ऊँचा लगा। इन पर आधारित कहानियाँ भी मैंने लिखी हैं। जिन दिनों अंग्रेजी फर्मों में खत्रियों का रोबदाब था, नाथूराम जी ने उस गढ में प्रवेश किया। नाथूराम जी मंडावा के थे। स्वस्थ शरीर प्रभावशाली व्यक्तित्व, खेती करते थे, गुजारे लायक अन्न पैदा कर लेते। बारह-तेरह की अवस्था में माता-पिता की छाया उठ गयी। भाभी की देख-रेख थी। एक दिन भाभी ने इनकी छोटी बहन को किसी भूल के कारण पीट दिया। नाथूराम जी ने कारण पूछा तो वे इन पर भी दौड़ी। वे माता के समान उनकी इज्जत करते थे, कुछ बोले नहीं। घर छोड़कर निकल पड़े। उस समय उनकी उम्र बीस वर्ष की थी। पैदल ही मिर्जापुर तक आये। सीधे सेवाराम रामरिखदास जी की गद्दी में पहुँचे। कलकत्ते में इस फर्म का अच्छा काम था। रेल थी नहीं। नावों में माल लादकर कलकत्ता भेजा जाता। नाथूराम जी चढ़नदारी यानी नौकाओं पर माल की चौकसी रखने वाले का काम लेकर कलकत्ता रवाना हो गये। इस काम के लिये उन्हें पाँच रुपये पारिश्रमिक और भोजन गद्दी की तरफ से मिलता। यह सन् १९३७ की बात है। कलकत्ते में उन दिनों सेवाराम रामरिखदास की गद्दी के मुनीम रामदत्त जी गोयनका थे। नौकाओं के प्रबन्ध और नाथूराम जी की मेहनत से खुश होकर उन्होंने रोटी-कपड़ा और दो रुपये महीने पर उन्हें नौकरी पर बहाल कर लिया। काम था रामदत्त जी के लिये रसोई बनाना। शरीर से तगड़े नाथूराम जी को यह काम जँच गया। महीने के दो रुपये की मटर लेकर वे कबूतरों को चुगा दिया करते।

रामदत्त जी को कबूतरों वाली बात का पता चलने पर उन्होंने दाना चुगाने के लिये हर महीने दो रुपये नाथूराम जी को दिलाने की व्यवस्था कर दी। परन्तु अब नाथूराम जी चार रुपये की मटर चुगाने लगे। यह सिलसिला जारी रहा। रसोई बनाने के बाद काफी समय बचा रहता। नाथूराम जी सूता पट्टी चले जाते और दो एक गाँठ की दलाली कभी-कभी कर लेते। इससे उन्हे बीस-तीस रुपये की आमदनी हो जाती।

उन दिनो अंग्रेजी ऑफिसों में खत्रियों का बोलबाला था परन्तु आराम-तलबी होने के कारण वे अंग्रेजों की निगाह से गिरने लगे थे। एक दिन रामदत्त जी ने नाथूराम जी को किसल घोप कम्पनी मे माल की डेलिवरी लिखाने के लिये भेजा। उन्होने लिखा दिया। गर्मी का मौसम था, वहीं

गोदाम में जाकर ठंढे में बैठ गये। नींद आ गयी। थोड़ी देर बाद किसल साहब आये, अपरिचित लम्बे चौड़े आदमी को गोदाम में सोता देखकर जगाया। परिचय पूछने पर नाथूराम जी ने नाम बताते हुए अपने को कपड़े का दलाल बताया। संयोग की बात है कि साहब उन्हें अपने कमरे में ले आया। माल के कुछ नमूने दिखाकर पूछा कि किस भाव में वे इन्हें बाजार में निकाल सकते हैं। नाथूराम जी ने माल के ऐसे भाव बताये कि साहब प्रभावित हो गया। उसने पूछा कि कितना माल बेच सकोगे ? नाथूराम जी ने सहज भाव से कहा जितना देंगे, सब निकाल दूंगा। साहब ने शर्त रखी तीन दिन में सारा स्टाक बेच देना होगा। नाथूराम जी ने मंजूरी दे दी।

नमूने लेकर नाथूराम जी बाजार आये। सबसे पहले उन्होंने रामदत्त ज़ी को नमूने दिखाये। सेवाराम रामरिख की फर्म पहले किसल घोष का माल बेचती थी परन्तु निक्कामल जी से मतभेद होने के कारण किसल घोष का माल मिलना बन्द हो गया था। रामदत्त जी ने सुयोग अच्छा देखा और बाजार भाव से कुछ ऊँचा ऑफर दिया। नाथूराम जी और दूसरों का भी भाव लेकर साहब के पास गये। नाथूराम जी के दिये गये भाव से वह खुश हुआ परन्तु विश्वास नहीं हुआ कि अनजान नया दलाल निक्कामल जी से इतनी ऊँची दर कैसे दे रहा है। लिहाजा, उसने अपने ऑफिस के एक कर्मचारी को बाजार में ऑफर की ऊँचाई के लिए भेजा। उसने रिपोर्ट दी कि ऑफर सही दिये गये हैं। साहब बहुत सन्तुष्ट हुआ और उसने उसी दिन पाँच हजार पेचक बेचने के लिए कह दिया। इस घटना के बाद निक्कामल जब ऑफिस आये तो साहब ने उन्हें कहा कि तुम्हें इन दिनों और कामों से फ़ुर्सत कम रहती है इसलिए तुमको एक असिस्टेन्ट देना तय पाया है। निक्कामल जी को रईसी का ताव आ गया और उन्होंने उखड़े शब्दों में नामजूर कर दिया। साहब ने पलट कर कहा कि तुम्हारी नामंजूरी की हालत में आज से हम नाथूराम जी को कम्पनी का दलाल-बेनियन मुकर्रर करते हैं। इस घटना के आधार पर मैंने मजदूर से मालिक नामक एक कहानी लिखी है।

इधर नाथूराम जी ने सूता पट्टी में आकर बाजार में खबरकर दी कि किसल घोष का माल कोई भी मारवाड़ी बेच सकता है, उसे अपनी आधी दलाली दे दूँगा। इससे जाति भाइयों को बहुत सहारा मिला, धड़ल्ले से माल बिकने लगा। नाथूराम जी पर भाग्यलक्ष्मी मुस्कुरा उठी। वे धीरे-धीरे अपने गाँव से अपने कुटुम्बों और रिश्तेदारों को बुलाकर सूतापट्टी में दूकान खुलवाने

लगे। इस प्रकार उनके सहारे कलकत्ते में कपड़े के व्यापार में मारवाड़ी भाई काफी जम गये। लगभग तीस वर्ष तक नाथूराम जी ने किसल घोष कम्पनी का काम किया। बाद में अपने मुनीम गणेशदास जी मुसद्दी को काम सम्हला कर मँडावे वापस चले गये। वे पढ़े-लिखे नहीं थे परन्तु विद्या-प्रेमी थे। अपने गाँव में उन्होंने संस्कृत पाठशाला बनवायी जिसमें एक सौ विद्यार्थी पढ़ते थे और उनके भोजन की व्यवस्था थी। नाथूराम जी में धन का अभिमान कभी नहीं हुआ। परिचय पूछने पर वे हमेशा अपने को नाथिया कहते।

आज अपने समाज में करोड़पतियों की कमी नहीं परन्तु नाथूराम जी जैसे जाति हितैषी कम ही मिलेंगे। वे खुद बढ़े, औरों को बढ़ाया। कहा जाता है कि मृत्यु के पूर्व उनसे लड़कों ने पूछा था कि शरीर छूटने पर दान-धर्म उनके नाम पर किस ढंग का किया जाय। उनका उत्तर था दान-धर्म किसी के नाम पर उसकी जीवित अवस्था में करना ही सार्थक होता है, देह छोड़ने पर उसके लिए कुछ करने के पीछे दिखावा और ढोंग को सिर उठाने का मौका मिलता है।

हमारे अपने ही गाँव सरदारशहर के चैनरूप जी दूगड़ के जीवन की घटनाएँ बड़ी प्रेरणादायक हैं। सूतापट्टी में इन्होंने चैनरूप सम्पतराम के नाम से फर्म खोली। सबसे पहले करोड़पतियों में गिने जाने लगे। कहा जाता है कि चैनरूप जी गाँव में चेजे पर मजदूरी कर गुजारा करते। एक दिन काम पर पहुँचने में देर हो गयी, जब वे अपनी टोकरी उठाकर काम करने को बढ़े कि चेजारे ने देर की वजह से फटकारते हुए निकल जाने को कहा। संयोग की बात है कि उसके हाथ से करनी छटक कर चैनरूप जी के माथे पर जा लगी और चोट गहरी बैठी। खून फूट निकला। खबर सुनते ही मालिक दौड़ा आया। दस-पाँच रुपये देकर चैनरूप जी को उनके घर पहुँचाकर मामला रफा-दफा कर दिया। घर पर माता ने मरहम पट्टी कर दी। हफ्ते भर में घाव भरने लगा मगर चैनरूप जी के मन में चेजारे की मजदूरी जँची नहीं। उन्होंने सोचा दस-पाँच रुपये की पूंजी हो गयी, देसावर की सफर कर कमाई करना ठीक रहेगा। माता की स्वीकृति ले ली और पैदल ही कलकत्ते आये। यहाँ एक ओसवाल फर्म में खाना कपड़े के साथ दो रुपये महीने की नौकरी कर ली। काम यही था कि मालिक के लड़कों को स्कूल ले जाना और फिर वापस घर ले आना। यह काम काम करते हुए स्कूल में उन्होंने सामान्य लिखना पढ़ना सीख लिया। तब मालिकों ने दूकान पर माल दिखाने का काम

दिया। बड़ी लगन और मेहनत से काम करते रहे। धीरे-धीरे चार पाँच सौ की पूंजी भी खड़ी कर ली। बनिये के लड़के थे, व्यापार के लिए मन में आकांक्षा दबी थी, अब उभरने लगी। सूतापट्टी में एक चबूतरे पर छोटी सी जगह भाड़े पर ले ली। दूकानदारों से धोती जोड़े लाकर बेचने लगे। मीठी बोली, सच्चा व्यवहार, कम मुनाफा इन गुणों के कारण दुकानदारी चल निकली। कुछ ही वर्षों में बढ़ते-बढ़ते बड़े व्यापारी बन गये। चैनरूप जी ही शायद कलकत्ते के पहले व्यापारी थे, जिन्होंने मैनचेस्टर से सीधे अपनी फर्म में माल मँगाना शुरू किया। उन दिनों अंग्रेजी फर्मों के सिवाय विलायत से किसी भी हिन्दुस्तानी को सीधे माल नहीं भेजा जाता था। परन्तु चैनरूप जी ने इस गढ़ को तोड़कर भारतीय व्यापारियों की मर्यादा बढ़ायी।

कलकत्ते के मारवाड़ी समाज के इतिहास में सूर्यमल जी का स्थान अद्वितीय है। इनकी प्रेरणा और सहयोग ने राजस्थानी भाइयों को कलकत्ते में कारोबार जमाने और सामाजिक कार्यों में रुचि लेने में बहुत प्रेरणा दी। इनका स्वयं का जीवन भी अनुकरणीय दृष्टान्त उपस्थित करता है।

सूर्यमल जी झुनझुनलाला के घर की आर्थिक दशा बहुत साधारण थी, वे अपने गाँव चिड़ावा से बारह-तेरह वर्ष की कच्ची उम्र में कमाई करने घर से निकले। सन् १८६० ई० के आसपास राजस्थान से कलकत्ते तक की पैदल यात्रा एक किशोर ने तभी की होगी जब उसके पास अदम्य साहस, आत्मविश्वास की पूंजी रही होगी। कलकत्ते में देश से नये आये हुए राजस्थानियों को आवास का कष्ट पहले नहीं होता था, हमारे समय तक यही अवस्था थी। गद्दियों में रहने को जगह मिल जाती थी। सूर्यमल जी यहाँ आकर लालचन्द बलदेवदास की गद्दी में रहे। उन्हीं के यहाँ काम भी करने लगे। बाद में प्राणकृष्ण लाहा की आफिस में पुर्जा चुकाने का काम पकड़ लिया। व्यापारियों से इस मार्फत जान पहचान बढ़ने लगी। उन्होंने थोड़ा बहुत निजी काम भी इसी बीच शुरू कर दिया। संयोग की बात है कि उन्हें निजी कारबार में नुकसान लग गया। अपनी इज्जत बचाने के लिए पुर्जों के भुगतान की रकम से उन्होंने अपने घाटे की रकम चुका दी। यह बात बाबू दुर्गाचरण लाहा तक पहुँची। उनसे पुर्जों का हिसाब माँगा गया। सूर्यमल जी बहुत संकट में पड़े। कहाँ से रुपये लायें? देने तो होंगे ही। उधेड़बुन में बासे मे पड़े थे कि इनका एक मित्र आया। इनके उतरे हुए चेहरे को देखकर उसने कारण पूछा और यह जानकर उसके भी होश उड़ गये कि सूर्यमल जी ने आत्महत्या का निर्णय ले लिया है।

मित्र के पास पन्द्रह-बीस हजार थे। उसने आड़े वक्त पर सारे रुपये सूर्यमल जी को दे दिये। अगले दिन उन्होंने पुर्जों का हिसाब चुका दिया। लाहा बाबू की धारणा बदल गयी, सूर्यमल जी के प्रति विश्वास दृढ़ हुआ। वे मन ही मन दुखी हुए कि नाहक एक ईमानदार व्यक्ति के नाम पर उनतक झूठी शिकायत पहुँचायी गयी। उन्होंने सूर्यमल जी को अपनी कम्पनी का दलाल बना दिया। सूर्यमल जी के दिन फिरे। ग्राहम कम्पनी का काम भी कुछ दिनों मे उनके हाथ आ गया।

अच्छे दिन आने पर भी वे अपने मित्र के उपकार को जीवन भर भूले नहीं। जिस व्यक्ति ने उनके नाम रुपये गबन करने की शिकायत की थी उसके लिए सौ रुपये मासिक की वृत्ति निर्धारित कर दी। उन दिनो सौ रुपय की रकम बहुत बड़ी मानी जाती थी। उनकी धारणा थी कि शिकायत सही थी और इसे कहना कोई अपराध नही था। और, यह भी कि इसी ठोकर ने उनके सोये भाग्य को जगाया।

सूर्यमल जी प्रारम्भ से ही धार्मिक प्रवृत्ति के थे। परोपकार एवं सेवा को वे सबसे बड़ा धर्म मानते थे। अपनी आय का निश्चित अंश उन्होने जन सेवा और धार्मिक कार्यों के लिए प्रारम्भ से ही अलग कर दिया था और मृत्यु के समय ग्राहम कम्पनी को अपनी दलाली की सारी आमदनी धर्मादे कर गये। जातिहित के कार्य मे वे हमेशा आगे बढ़े रहते। इसका अपेक्षा नहीं करते कि कौन साथ देता है या नही। आफिस के माल के चालू नम्बरों को वे बंधे हुए व्यापारियो को हमेशा देते रहे। कभी कोई व्यापारी नुकसान मे पड़ जाता तो उसे सम्हाल लेते।

उनके समय मे कलकत्ते में घृत आन्दोलन चला था। घी मे चर्वी मिलाकर बेचा जाता था। बड़े ही साहस के साथ उन्होने इसके विरुद्ध आवाज उठायी। उनदिनो समाज में रूढ़िवादिता बहुत ज्यादा थी। ब्राह्मण भोजन के समय बहुत से भ्रष्ट ब्राह्मण ब्राह्मणियो को भी दक्षिणा देने की प्रथा थी। सूर्यमल जी ने इसे धर्म एवं समाज के विरुद्ध घोषित करते हुए प्रतिवाद किया और इसका बहिष्कार कराया। कलकत्ता मे मल्लिक स्ट्रीट में उन्होने ही सबसे पहले धर्मशाला बनवाई और उसी मे चिकित्सालय खोला। श्राद्ध कार्य की सुविधा के लिए उन्होंने पक्का घाट बनवा दिया। उत्तराखण्ड की यात्रा पर जाते हुए ऋषिकेश मे गंगा को पार करने के लिए रस्सियो के कच्चे पुल से गुजरना होता था। सूर्यमल जी ने तार के मोटे मजबूत रस्सो का पुल बनवा दिया। आज भी प्रतिवर्ष लाखों तीर्थ यात्री इसी लक्ष्मण झूला से बद्री-

केदार, गंगोत्री, यमुनोत्री की यात्रा करते हैं। ऋषिकेश में भी इन्होंने ही पंचायती धर्मशाला एवं सदावर्त की स्थापना की। इस प्रकार धन का उपयोग एवं उपभोग ऐसे ढंग से किया कि उनका नाम सदा अमर रहेगा।

कलकत्ते का राजस्थानी समाज मेरे देखते-देखते ही पिछले पचास वर्षों में सम्पन्न-समृद्ध ही नहीं, बल्कि शिक्षा एवं जीवन के विविध क्षेत्रों में काफी आगे बढ़ गया है। उद्योग-व्यापार की तरह चिकित्सा-विज्ञान, शरीर-चर्चा, संगीत, साहित्य, कला, शिल्प, राजनीति आदि में इनका अच्छा नाम है। आज 'मारवाड़ी' शब्द का तात्पर्य उस रूढ़िग्रस्त समाज से नहीं, जिसका एकमात्र लक्ष्य अर्थोपार्जन ही रहा है। समय एवं युग की आवश्यकता के अनुरूप राजस्थानी समाज ने परिवर्त्तन अपनाया है।

इस प्रगति के पीछे पिछली पीढ़ियों के श्रम, संयम और दृढ़ निश्चय के कृतित्व रहे हैं। बहुत संघर्ष करना पड़ा। उस पीढ़ी के बहुत ही थोड़े लोग रह गये है। आज भी आदरणीय घनश्यामदासजी बिरला, सीतारामजी सेक्सरिया, भागीरथजी कानोड़िया, प्रभुदयालजी हिम्मतसिंहका, ईश्वरदास-जी जालान जैसे मनीषी प्रेरणा के स्रोत हैं। मुझ जैसे कितनों को इन्हीं लोगों ने अनुप्रेरित किया और मार्गदर्शन कराते रहे। यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि इनमें से प्रत्येक में आज भी अदम्य उत्साह, क्षमता और आत्म-विश्वास है।

कलकत्ता आने का मेरा उद्देश्य था अर्थोपार्जन। इसीकी सिद्धि में तन-मन से लगा रहता था। किन्तु मनुष्य अपने आसपास के परिवेश एवं वातावरण से अछूता नहीं रह सकता। अनजाने में मेरे ऊपर समाज की घटनाओं और उथल-पुथल का असर होता रहा। कलकत्ते के विकास, विशेषतः राजस्थानियों की पिछली पीढ़ियों के लोगों के संघर्षपूर्ण इतिहास जानने के प्रति उत्सुकता मेरे मन में बढ़ती रही। जब भी अवसर मिलता पुराने लोगों के बीच बैठता, उनकी बातें सुनता। बहुत सी बातें तो याद रही नहीं, अच्छा होता, यदि उन्हें नोट करता; परन्तु वैसी कोई आवश्यकता उन दिनों महसूस नहीं की।

अपने कामकाज के सिलसिले में विभिन्न व्यवसाय और वर्ग के लोगों से मिलने के मौके मिले थे। इनमें नयी रोशनी के लोग भी थे उत्साही, सुधार-वादी, संघर्षशील। उन दिनों राजस्थानी समाज में सुधार की बात करना एक प्रकार से खतरा मोल लेना था। समाज से बहिष्कृत होने का दण्ड तो मिलता ही, व्यापार-व्यवसाय में भी असहयोग उपस्थित होने की सम्भावना

थी। अतएव सुधारक बनना दुस्साहस था। फिर भी युवक आगे बढ़ते थे। इनके पीछे कुछेक बुजुर्गों का सक्रिय सहयोग भी रहता था। पंचायत का जोर था, पर धीरे-धीरे उसकी अवमानना होने लगी थी।

कलकत्ते में राजस्थानियों की पंचायत का संगठन कब हुआ इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। बंगाल में नबाबी शासन के बाद अंग्रेजों ने कलकत्ते को जब राजधानी बनायी तो व्यापार-व्यवसाय का यह केन्द्र बन गया। यहाँ बसे मारवाड़ियों की जब उत्तरोत्तर उन्नति होने लगी और उनकी संख्या भी बढ़ने लगी तब सम्भवतः अनुभव होने लगा कि व्यापारिक एवं सामाजिक समस्याओं और आपसी मतभेदों पर विचार-विमर्श एवं निर्णय के लिए एक संगठन आवश्यक है। इसी आधार पर जातीय पंचायत बनायी गयी थी। सन् १८२८ के लगभग कलकत्ते में पंचायत अस्तित्व में आ चुकी थी। उन दिनों सोजीराम हरदयालजी की गद्दी में पंचायत बैठती थी। राजस्थानी पंचायत-प्रथा के अनुसार पाँच पंच पाँच वर्षों के लिए चुने जाते थे। इनका चुनाव बहुत सोच-समझकर किया जाता था। धन अथवा अन्य प्रकार के प्रभुत्व का महत्त्व नहीं था, बल्कि निष्पक्ष, निष्ठावान् एवं सच्चरित्र व्यक्ति पंच बनाये जाते, भले ही वे धनी न हों या उनका रोबदाब सरकारी अथवा राजनीतिक क्षेत्र में न हो।

पंचायत जातीय सभा या संस्था अवश्य थी, किन्तु इसका संगठन आज-कल की सभा-सोसाइटी की तरह नियमों में जकड़ा नहीं था। नैतिकता, व्यावहारिकता एवं जातीय भावनाओं को अधिक मान्यता दी जाती थी। पंच सबों की बात सुनते थे, लोगों से सलाह भी लेते थे, गुटबन्दी या उलझी समस्याओं की तह में स्वयं जाते, जाँच करते और तब पाँचों पंच फैसला दिया करते। दोषी को दण्ड देने से पूर्व उसे अवसर भी दिया जाता था कि अपनी भूल को समझे और भविष्य में वैसी गलती न करने का वादा कर पंचायत को विश्वास दिलाये। यदि जिद्द पर अड़ा रहता तो दण्ड का निर्णय सुना दिया जाता था। आमतौर पर लोग पंचायत की बात मान लेते थे। न माननेवालों का सामाजिक बहिष्कार कर दिया जाता था।

सन् १९४७ से १९५७ के बीच मेरे सार्वजनिक जीवन में परिवर्तन आते गये। रूढ़िवादिता, छुआछूत, स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह आदि की समस्याएँ पहले जैसी जटिल नहीं रहीं। स्वाधीनता के बाद जन-समाज स्वयं इतना जाग्रत हो उठा था कि स्वतः उसने सुधार के मार्ग पर नये जमाने की

करवट के अनुसार कदम बढ़ाना शुरू कर दिया। ऐसी अवस्था में समाज-सुधार का कार्य मेरे लिए स्वतः कम होता गया। मैं शिक्षा के क्षेत्र में अधिक रुचि लेने लगा। साथ ही अध्ययन–विशेषतः साहित्य–हिन्दी, बंगला और अंग्रेजी में विशेष रुचि जगी। इसी बीच लिखने का भी अभ्यास बढ़ता गया। पत्र-पत्रिकाओं में नियमित रूप से लेख भेजने लगा। इन लेखों के विषय सामाजिक और आर्थिक होते थे। पाठक-वर्ग से प्रोत्साहन मिलता, लेखों पर उनके मतामत आते, उनकी माँग बनी रहती, इससे मुझे बहुत प्रसन्नता होती। सच पूछा जाय तो लिखकर मेरे मन में एक आशंका-सी बनी रहती कि मैं अपने विचार स्पष्ट कर पाया या नहीं। मित्रों और पाठक-वर्ग की सराहना से मैं मन ही मन उल्लसित हो उठता था, ठीक उसी तरह, जिस तरह परीक्षार्थी अच्छे नम्बर पाकर खुश होता है।

बचपन से ही अभाव और कष्ट का मैंने वातावरण देखा। देशी रियासत का कड़ा शासन, जागीरदारों के मौज-शौक, मौन रहकर प्रजा का सब कुछ सहते रहना—इन सबों की प्रतिक्रिया मेरे बालक और किशोर मन पर होती रही। एक घटना की याद आती है। हमारे गाँव में महाराजा साहब पधारे। दरबार लगा। सभी गण्यमान्य उपस्थित हुए। कोई सर उठाकर, तनकर खड़ा नहीं हो सकता था। मेरा मित्र दीपचन्द चाण्डक भी था—खादी कुर्त्ता-धोती में। प्रथा थी दरबार (महाराजा) को झुककर जुहार (सलाम) करने की। उसने हाथ जोड़कर प्रणाम किया। दरबार साहब ने सिर्फ इतना ही पूछा—यह कौन है? काफी तेज लगता है, क्या करता है, कहाँ रहता है? गाँव के मानी-जानी लोगों ने बड़ी विनम्रता से कहा—"इसी गाँव का है, पर परदेश में रहता है—हजूर, इसको बेअदबी माफ करें, यहाँ का अदब-कायदा जानता नहीं।" महाराज ने एक नजर दीपचन्द पर डाली और चुप रह गये। मगर गाँव के लोग समझ गये कि क्या हो सकता है। उन्होंने उसी समय चुपके से दीपचन्द को बाहर बुलवा लिया। शाम हो रही थी। एक तेज ऊँटनी पर उसी समय सवार कर रातोरात बीकानेर रियासत के बाहर भिजवा दिया। राजस्थान की अधिकांश रियासतों में ब्रिटिश-विरोधी गतिविधि का बड़ी सख्ती से दमन किया जाता था। गांधीजी का समर्थन भयंकर अपराध माना जाता था। बहुत ही कड़ी सजा दी जाती थी। फिर भी रियासतों में प्रजा-परिषद् सक्रिय रही और सामन्तवाद के विरोध में आन्दोलन करती रही। इसके लिए अनेक आहुतियाँ चढ़ीं, लोग बलिदान हो गये। आज शायद ही कोई विश्वास करेगा

कि रियासती शासन की अपेक्षा ब्रिटिश शासन कम कड़ा था। कम-से-कम यहाँ नियम-कानून को बरकरार रखा जाता था।

कलकत्ता के अपने जीवन में रोटी-रोजी के लिए संघर्ष करते हुए मैं अपने गाँव के अनुभव भूला नहीं था। यहाँ संयोग से काम-काज के सिलसिले मे मेरा सम्पर्क अंग्रेजों से रहा। व्यवसायी-व्यापारी और प्रशासक अंग्रेजों मे बड़ा अन्तर था। व्यापारी अंग्रेज हँसमुख और मिलनसार था—अपवादों की बात और है। प्रशासक अंग्रेज गंभीर और सख्त थे, ड्यूटी के पक्के। कभी-कभी मैं इस विषमता को देखकर हैरान रह जाता था। इतना अवश्य था कि दोनों में अपने देश और राष्ट्र के प्रति गहरी निष्ठा थी। वे अनुशासन-प्रिय थे। इसका मुझ पर असर पड़ा।

व्यवसाय-व्यापार जम जाने पर और देनदारी से मुक्त होने पर मेरी सुप्त भावनाएँ मुझे उकसाने लगीं। भाईजी-पिताजी राजनीति से विरत रहने पर हमेशा जोर देते। उन दिनों की राजनीति त्याग, तपस्या और निष्ठापूर्ण थी। देश बड़ा था, दल नही। 'सीस उतारे भूई परे तब पैठे घर माँहि'—मैं अपने में यह कभी महसूस करता था। मन में देश के लिए कुछ कर गुजरने का उत्साह और परिस्थितियो का अवरोध मेरे मन में अन्तर्द्वन्द्व व संघर्ष-सा मचाये रखता था। निदान स्वत: निकला—मैने निष्कर्ष निकाला, व्यक्ति के विकास से समाज बनता है और समाज से राष्ट्र। मैं सामाजिक कार्यो में रुचि लेने लगा, सक्रिय होता गया। मुझे सुख और सन्तोष मिलता रहा। कम विरोधों का सामना नही करना पड़ा। कीचड़ और गालियाँ तो मामूली बात थी, लांछनाएँ भी लगायी गयीं। विधवा-विवाह और स्त्री-शिक्षा के लिए हमें और हमारे साथियों के प्रयासों को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता। अनावश्यक रूढ़ियों के विरोध मे तो बहुत ही पेचीदी परिस्थिति बन जाती थी—खास तौर पर जब अपने ही रिश्तेदारों के विरोध में उतरना पड़ता था। एक बार मेरे पिताजी के श्वशुरजी के देहावसान पर उनके यहाँ मृतक-भोज का आयोजन हुआ। हम सुधारवादी ऐसे आयोजनों के विरोध में थे। साथियों से सलाह की कि इसका विरोध नये ढंग से किया जाय। नजदीकी रिश्तेदारी का मामला था, मै संशय मे पड़ गया। मगर राजी होना पड़ा। हम सभी मृतक-भोज में शामिल होने गये। पंगत बैठी, परसन के ठीक पहले ही हम सदल-बल एक साथ थालियों के सामने से उठकर विरोध मे अलग खड़े हो गये। मेरे श्वशुरजी को मुझसे ऐसी आशा नही थी। मेरा इस प्रकार का विरोध बिरादरी के सामने लिये जाने पर उन्हे बहुत दु:ख हुआ। बात घर

तक पहुँची। पिताजी और भाईजी को बुरी लगनी थी। उन्होंने कहा, विरोध था तो जाते नहीं। थाली पर से सदल-बल उठना अशिष्ट और अनुचित व्यवहार है। यह बात भूला नहीं। अपमान करना विरोध नहीं होता। इसी तरह के विरोध विवाह-शादियों में भी हम करते थे। सड़क पर गाने की प्रथा, पर्दा आदि तो बड़ी तेजी से कम होते गये, किन्तु दहेज के मामले मे हम अपेक्षित सफलता नही प्राप्त कर सके। फिर भी लेन-देन के मामले में गहरा दबाव देना कम जरूर कर सके। स्वाधीनता के बाद देश की औद्योगिक उन्नति ज्यों-ज्यों होती गयी, दहेज का अभिशाप भी बढ़ता जा रहा है। न जाने इस अभिशाप की ज्वाला में कितनी बरबादियाँ होंगी।

सामाजिक कार्यों में रुचि लेते हुए मेरा सम्पर्क मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी से बढ़ता गया। इस संस्था का कार्य बहुत व्यापक रहा है और आज भी है। सन् १९३४ की जनवरी में जब बिहार में विनाशकारी भूकम्प आया था, उस समय से ही सोसाइटी के प्रति मेरा अनुराग बढ़ता गया। सन् १९४७ में भारत-विभाजन के कारण पूर्वी बंगाल से भारी संख्या में शरणार्थी आये। इनको राहत पहुँचाने में आदरणीय भागीरथजी कानोड़िया ने बहुत ही बड़ा काम किया।

सन् १९५१ के नवम्बर में राजस्थान में पड़े सूखे और अकाल पर सेवा-कार्य के लिए राजस्थान गया। राजस्थान में जन्मा जरूर, किन्तु इससे पूर्व अपनी माटी को सही ढंग से देखने-समझने का मौका नही मिला था। इस यात्रा में बहुत कुछ सीख पाया। सदियों से युद्ध और मुगल-आक्रमणों के कारण राजस्थान की धरती का उजाड़ हो जाना कोई ताज्जुब की बात नही। खेती-बागवानी उपेक्षित रहे। रजवाड़ों ने भी ध्यान नहीं दिया। छिट-पुट कोशिशें होती रहीं, कुछ नरेशों ने कीं, किन्तु इतने से क्या होता? लोग परदेश में जाकर बसते। अपना गाँव, अपना देश सूखा-भूखा-प्यासा ही रहा। पहले इतना तो होता था कि लोग बावड़ी-कुएँ खुदवाते, बगीचा लगवाते थे, पर धीरे-धीरे यह भी कम होता गया। स्वाधीनता के बाद से तो पानी की व्यवस्था की जिम्मेदारी सरकार की समझी जाने लगी। एक बात जरूर समझ में आयी कि कुएँ-जोहड़-बावड़ियों से स्थानीय तात्कालिक राहत भले ही मिल जाय, किन्तु समस्या का निदान संभव न होगा। इसके लिए बड़े पैमाने पर इजरायल के ढंग की योजना बनानी होगी। गंगा-नहर की तरह और भी योजनाएँ बनानी होंगी। चम्बल बहुत सहायता कर सकती है। बरसात के जल-संग्रह के लिए बड़ी-बड़ी झीलें भी बहुत मदद कर सकती हैं।

राजस्थान के प्रवास में बहुत सारे सामाजिक और राजनीतिक नेताओं के सम्पर्क में आया। सार्वजनिक सेवा-कार्य में रहने के कारण वे मेरे नाम से परिचित थे। राधाकृष्णजी बजाज, ब्रह्मदत्तजी और श्री बद्रीनारायणजी सोढानी के व्यक्तिगत सम्पर्क में आया। जल की व्यवस्था के बारे में विचार-विमर्श हुए। मैंने अपने विचार रखे कि तात्कालिक और स्थायी दोनों प्रकार की योजना बनानी ठीक होगी। जब इजरायल रेगिस्तान में हरियाली ला सकता है तो राजस्थान भी हरा-भरा बनाया जा सकता है। इसके लिए प्रकृति भी काफी अंशों में हमारे अनुकूल है और उद्योग करने पर हमें सहायता-सहयोग दे सकती है। निष्क्रिय बैठने से मुझे अशान्ति और कुंठा का बोध होता है। पढ़ने-लिखने के अलावा कुछ न कुछ करते रहने से मुझे बड़ी शान्ति मिलती रही है। व्यापार-व्यवसाय अलग बात है। मुझे लगता था कि सोसाइटी जन-सेवा का श्रेष्ठ माध्यम है। मारवाड़ी सम्मेलन, रूढ़िवादी राजस्थानी समाज में जागृति और चेतना के लिए अच्छा काम कर सकता है। मैं दोनों को तौलता। सोचता, कौनसा मेरा पथ है। मुझे लगता कि सम्मेलन के कार्य के लिए कार्यकर्ताओं की कमी नहीं, धन की कमी नहीं, किन्तु सोसाइटी का कार्यक्षेत्र बहुत बड़ा है, व्यय सापेक्ष है। अतः इस संस्था में हाथ बँटाना मेरे लिए अधिक उचित नहीं होगा।

इसी कारण छोटी-बड़ी अन्यान्य सामाजिक संस्थाओं से जुड़े रहते हुए भी मैं ज्यादा समय रिलीफ सोसाइटी के लिए देने लगा। राहत के काम में विशेष दिलचस्पी मुझे रहती। इसके लिए धन-संग्रह आवश्यक था। अच्छे काम का रूप प्रत्यक्ष होने पर सहानुभूति और सहयोग की कमी नहीं रहती। मुझे धन-संग्रह मे सफलता मिली। स्नेह भी भरपूर मिला।

राजस्थान में राहत का काम करते समय अच्छे नेताओं से मेरा परिचय हो गया था। वहाँ भुखमरी और गरीबी का जो रूप देखा उससे बड़ी ग्लानि होती थी। इसी माटी की हजारों सन्तान देसावरों में वैभव का सुख भोग रही है। इनकी सूनी हवेलियाँ आँखें फाड़े इन्तजार करती हैं कि कब मालिक की निगाह पड़े। इनके भाईबन्द पड़ोसी जीने के सहारे के लिए संघर्ष करते देखे। परम्परा और प्रथा के अनुसार जडुला उतरवाने (बच्चों का मुडन कराने) कभी-कदास देसावरों से आते। ब्राह्मण-भोजन, कीर्तन, रतजगा कराना, गाँव में भोज करा देना—नाम और यादगारी के लिए काफी समझा जाता रहा। कुछ ऐसे भी थे, जिन्होंने कुएँ-मन्दिरों के जीर्णोद्धार

कराये, स्कूल, कॉलेज, अस्पताल खुलवाये। किन्तु ऐसे लोग उँगलियों पर गिनती के थे।

राजस्थान में गरीबी गुजारी, कलकत्ता ने दिया संघर्ष और वैभव। किन्तु शांति और संतोष नहीं दे पाया। राजस्थान में चाँदनी रात में चमकती रेत पर लेटकर दूसरी दुनिया में पहुँच जाता। मुझे लगता, धरती कहती है–मैं पराई हो गई, मेरे लिए तेरा कोई घर नहीं। मैं उलझ जाता—क्या करूँ, कैसे करूँ? कितना कर सकूँगा? बचपन में दादी से सुनी कहानी याद आती। रामचन्द्र-जी पुल बनवा रहे थे, गिलहरी पूँछ भिगोकर रेत में लोटती और पुल पर झाड़-कर फिर पूँछ भिगोती। मेरे मन में भावना उठती कि कुछ न कुछ किया जा सकता है। सरकारी सहयोग भी मिल सकता है, कार्यकर्ता मिल जायेंगे, कमी रहेगी नहीं। ऐसी चर्चाएँ अक्सर राजस्थान के दौरे पर होतीं। चुनाव में खड़े होने के लिए मुझसे कहा भी जाता। मै टालता रहा। मेरे लिए समस्या थी। राजस्थान एक सिरे पर, कलकत्ता दूसरे सिरे पर। एक जन्म-भूमि, दूसरी कर्मभूमि। सेवा, सार्वजनिक सेवा के लिए दोनों ही उपयुक्त। किन्तु राजस्थान को अपनाने का अर्थ था, व्यवसाय-व्यापार का त्याग। भगवान् ने कृपा कर दी थी। जितना था, उतना काफी था। भाई योग्य थे, काम देखते थे। फिर भी धनोपार्जन का आकर्षण छोड़ना सहज सम्भव नहीं था। पिताजी और भाईजी की सहमति और अनुमति का भी प्रश्न था। उनकी अवज्ञा करने का मुझमें साहस नही था। मन उलझन में परेशान होता रहा।

मैंने अपना पूरा ध्यान व्यापार-व्यवसाय और लिखने-पढ़ने में लगा दिया। लेख काफी लिखे, अखबारों में छपते रहे। राजनीति से सम्पर्कित मेरे मित्र मुझे कहते कि राजस्थानी नेताओं पर मेरा प्रभाव अच्छा पड़ा है। आगामी चुनाव में मुझे टिकट देने की चर्चा बढ़ रही है। इन बातों का प्रभाव *मन पर पड़े बिना रहता नहीं। एक कुलबुली-सी महसूस करता। फिर भी* मैंने दिलचस्पी नहीं दिखाई। राजस्थान से मिनिस्टर और बड़े नेता कलकत्ता आते। मुझे उपस्थित होना पड़ता था—उनके प्रोग्राम में। फिर भी मन को बाँधे रखता।

●

२२

राजनीति में प्रवेश

जनवरी १९५६ में जयप्रकाश बाबू का पत्र मिला। उनके साथ राजस्थान के दौरे पर जाना है। मैंने स्वीकृति दे दी। जे० पी० का झुकाव राजनीति के प्रति कम होता जा रहा था। वे आचार्य विनोबा के विचारों से अधिक प्रभावित हो चुके थे। मेरा दृष्टिकोण पूर्ववत् समाजवादी ही था। उनके साथ राजस्थान के दौरे में मुझे ऐसा लगा कि देश की समस्या का निदान किसी 'वाद' विशेष के वश की बात नहीं। जन-साधारण का हित-साधन ही लक्ष्य रहना चाहिये।

जयप्रकाश बाबू की मीटिंगें विभिन्न गाँवों, कस्बों और शहरों में होती रहीं। जाने-माने लोग और नेता आया करते। जे० पी० प्राय: प्रत्येक मीटिंग में कर्मठता, निष्ठा और दानशीलता के सन्दर्भ में मेरा उल्लेख करते। मैं ठगा-सा रहता। मेरी समझ में न आता कि इनका क्या प्रयोजन था।

भाग्य की गति प्रबल होती है। वह बानक बनाती है। उद्यम साथ देता है। इसे अपने जीवन में देखा। अवसर से चूकना नहीं चाहिये। मेरे मित्रों से मुझे खबर मिलती, संसदीय चुनाव में राजस्थान से मेरा नाम लिया जा रहा है। कभी जोधपुर, पाली, सीकर, उदयपुर का नाम लिया जाता। मैं मन से तटस्थ था। किन्तु कब तक रह पाता? सुखाड़ियाजी और घनश्यामदासजी बिरला मेरे लिए रुचि लेने लगे। अन्ततोगत्वा सीकर की संसदीय सीट से मुझे कांग्रेस के लिए टिकट दी गयी।

चुनाव में उतरा। अनजान शक्ति ने मुझे उतारा। उसीने मुझे जिताया भी। सीकर-क्षेत्र के लिए मैंने वैसा कुछ किया नहीं था। जल-बोर्ड के माध्यम से जन-कल्याण के कुछ काम के सिवा कोई बड़ी पूंजी मेरे साथ थी नहीं। हां, मित्रों का स्नेह था। चुनाव के दौरान भागीरथजी, घनश्यामदासजी, सुखाड़ियाजी, पुरुषोत्तमजी केजड़ीवाल, मातादीनजी खेतान आदि की शुभकामनाएँ और सहयोग बहुत बड़ा सम्बल रहा। घरवाले तो साथ थे ही।

जीवन का नया अध्याय शुरू हुआ। राजनीति से अनभिज्ञ, इसके प्रति रुचि भी नहीं रही। घुटन महसूस करता, पर उपाय क्या? सोचता, सीकर-

सीकर से संसद सदस्य १९५७ ई०
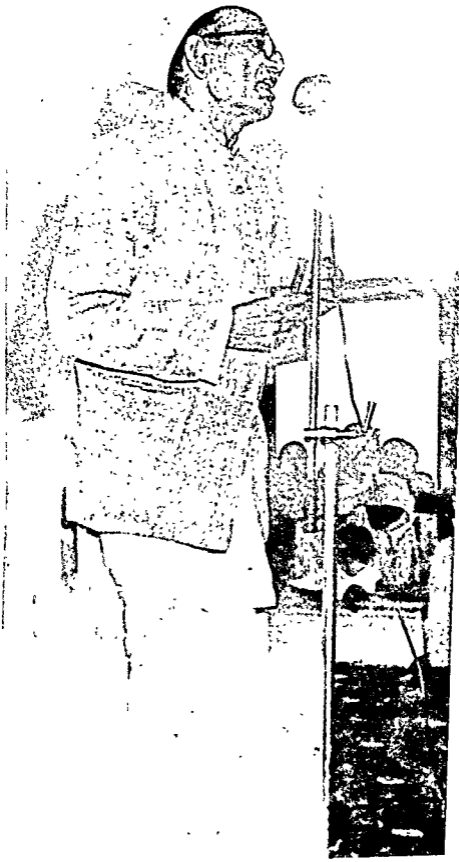
क्षेत्र के लिए कैसे-क्या किया जाय। फिर से सम्पूर्ण क्षेत्र का दौरा कर डाला। समस्याओं को नोट कर लिया। पार्लियामेन्ट में अतुल्य घोष, सत्यनारायण सिन्हा, ए० के० सेन, महाराजा बीकानेर, एम० एल० वर्मा जैसे अनुभवी और अपने हितैषी मित्रों से मिलता रहा, उनसे सलाह लेता। मुझे लगा कि यहाँ करने के लिए काम बहुत हैं, ढंग से किया जाय तो बहुत कुछ हो सकता है। किन्तु साथ ही यह जान पड़ा कि गुटबाजी भी है।

१३ मई को राष्ट्रपति का भाषण हुआ। अच्छा था। भाषण-समाप्ति के बाद महाराजा बीकानेर ने मुझसे कहा कि भाषण पर आप भी कुछ अवश्य कहें। मैं आज भी उनके इस स्नेहपूर्ण परामर्श को भूला नही हूँ। मुझमें झिझक थी, किन्तु मैंने निश्चय किया कि प्रश्न करूँगा, कुछ बोलूँगा अवश्य। अपने विचार रखने में सार्थकता है। आगे से इस पर ध्यान रखा, प्रश्नोत्तर में भाग लेता। इससे लाभ हुआ। मैं बैक बेंचर नहीं माना जाता। मेरा इम्पॉर्टन्स बढ़ा, मेरा नाम भी लिया जाने लगा। कई कमेटियों और डेलि-गेशनों में मुझे शामिल किया गया। इस माध्यम से कुछ काम भी कर सका। किन्तु मुझे इतने से सन्तोष नहीं रहा। राजनीति को मैं राष्ट्रनीति के एक सशक्त साधन या माध्यम के रूप मे देखना चाहता था। वह हो नही पा रहा था। इतना जरूर हुआ कि मेरे क्षेत्र की छोटी-बड़ी योजनाओं के लिए राज्य की मिनिस्ट्री और उसके लिए केन्द्र से अर्थ की स्वीकृति कराने में सफलता मिल जाती थी। किन्तु यही तो सब कुछ नही !

सीकर-क्षेत्र में मेरी लोकप्रियता सन्तोषजनक रही। स्कूल-कॉलेज, अस्पताल, लाइब्रेरियों के लिये जितना बन पड़ता, करता रहा। इसमें बहुत रुपये खर्च होते रहे। न करता तो भी चलता, किन्तु मैं शिक्षा को राष्ट्र की उन्नति का सबसे उपयुक्त साधन मानता रहा हूँ। मैंने हाथ खीचा नहीं, मेहनत से मुँह मोड़ा नहीं। सड़कों के सुधार, जल-व्यवस्था पर भी पूर्ववत् जुटा रहता था।

सन् १९६१ की शुरुआत के महीनों मे संसदीय चुनाव की चर्चा आने लगी। मुझमें इसके प्रति विशेष आग्रह नहीं था। मैंने जो सोचा था, कर नहीं पाया। जिसकी कल्पना थी, उसे छू तक नही पाया। व्यवसाय-व्यापार से अलग-थलग रहना पड़ा, यह भी काँटे-सा विधता था। कलकत्ता छूट नहीं पाया। यहाँ आने पर जितना भी समय मिलता, पूरे उत्साह से पूर्ववत् बन्धुओं से मिलता, सार्वजनिक कामों में सहयोग देता। फिर भी लगता, कलकत्ता

मुझसे कहता है मुझे भूल गये, कहाँ जा फँसे ? मैंने एक प्रकार से मानस बना लिया कि अब राजनीति से पृथक् हो जाऊँगा। जयप्रकाश बाबू की तरह लोक-कल्याण के कार्य मे स्वयं को नियोजित रखूँगा।

किन्तु मन की बात मन ही तक रही। 'मेरे मन कुछ और है, कर्त्ता के कुछ और'—सन् '६१ की मई मे रूस-यात्रा पर घनश्यामदासजी बिरला के साथ एक प्रतिनिधि-मण्डल में गया। २० जून को वापस आ गया। इस बीच अगले चुनाव की बात ने जोर पकड़ लिया था। स्वतन्त्र पार्टी प्रभावी थी और जनसंघ की शक्ति बढ़ रही थी। मैंने प्रत्याशी बनने के लिये रुचि दिखाई नहीं। पार्लियामेन्ट और अपने क्षेत्र में अधिक रुचि लेने लगा। अड़ंगे आते थे—सरकारी व्यवस्था की वजह से। फाइलें धीरे सरकतीं, खानापूरी, लालफीता-शाही और कर्मचारियों की दीर्घसूत्रता के कारण। फिर भी मोटे तौर पर लोग खुश थे। मेरे प्रयास की प्रशंसा करते, स्नेह रखते थे। फिर भी कुछ लोग बुराई करते, जो व्यक्तिगत आर्थिक सहायता की आशा से आते। यह मेरे लिये संभव न था, कितनों को कितनी बार कितना देता ? राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी भी अपप्रचार से बाज न रहे। किन्तु सुनते-सुनते आदत-सी बन गयी, मुझ पर असर न होता।

ज्यों-ज्यों चुनाव नजदीक आता गया, मित्रों का दबाव मुझ पर बढ़ने लगा—भागीरथजी, सुखाड़ियाजी, कुंभारामजी माथुर आदि श्रद्धेय जनों का भी। माताजी और पत्नी पक्ष में नहीं थी। उन्हें मेरे स्वास्थ्य और अनियमितता की चिन्ता थी। सभी भाई अन्ततः विरोधी नहीं थे। पिताजी और भाईजी का भी विरोधी रुख नहीं था।

बार-बार एक बात कही जाय तो उसका असर होना स्वाभाविक है। मेरा मन संन्यासी का नहीं था। नेतृवर्ग से, साहित्यकारों से सम्पर्क और आत्मीयता के प्रलोभन से दुर्बल मन झुकने लगा। सबसे पहले मुझे लगा कि मेरे क्षेत्र में कुछ काम अधूरे रह गये, उन्हें पूरा करना जरूरी है। मेरी इच्छा थी कि सीकर-अंचल में कोई नहर बना दी जाय। इसी प्रकार सरदार-शहर को सीधे रेल-मार्ग से जुड़वा दिया जाय तो बड़ी सेवा होगी। मेरे प्रस्ताव को अनौपचारिक रूप से सुखाड़ियाजी का समर्थन मिला था। इससे मुझमे आशा थी और उत्साह भी।

आखिर मन के आगे झुक गया और संसदीय चुनाव में प्रत्याशी बनने पर नये दृष्टिकोण से विचार करने लगा। पूज्य घनश्यामदासजी प्रसन्न हुए और सुखाड़ियाजी भी। उन्होंने न केवल शुभकामनाएँ दी, बल्कि पूरा सहयोग

देने का आश्वासन दिया। सबसे अधिक प्रसन्न थे दद्दा—श्री मैथिलीशरणजी, दिनकरजी और बाबू गंगाशरण सिंह। जयप्रकाशजी ने भी प्रोत्साहित किया। उनकी धारणा थी कि मैंने अपने क्षेत्र के लिये जितना किया, उतना अन्य लोग साधारणतः नहीं कर पाते। उन्होंने मुझसे कहा कि चाहे किसी भी दल में रहूँ, कैसी भी परिस्थिति आ जाय, यह न भूलूँ कि दल नहीं, देश बड़ा है। सार्वजनिक सेवा-क्षेत्र में प्रवेश करना काजल की कोठरी में जाना है। कालिख लगेगी, किन्तु उसे रगड़ते नहीं रहना चाहिये। एक बात के लिये उन्होंने मुझे सावधान किया कि कन्ट्रोवर्सी में न पड़ूँ।

बहरहाल, टिकट मिल गया। सीकर संसदीय क्षेत्र से दुबारा प्रत्याशी बना। पिछली बार का अनुभव था। इस बार चुनाव की रणनीति बनाने में अधिक कठिनाई नहीं हुई। सहयोगियों में उत्साह था, विरोधियों में ज्यादा सरगर्मी थी। पार्टी के कुछ लोग भी मेरे प्रति असन्तुष्ट थे, क्योंकि उनके मनोनीत लोगों को टिकट नहीं दी गयी थी।

दौरे पर मैं बराबर जाता ही था। चुनाव नजदीक आने पर कुछ ज्यादा दौरे करने लगा। जनसंघ और स्वतन्त्र पार्टी में समझौता हो नहीं पाया। यह मेरे लिये सुविधाजनक रहा। फिर भी संघर्ष तगड़ा था। समझौता होने पर मुसलमानों के वोट कुछ बँटते पर अब ये ज्यादा-से-ज्यादा कांग्रेस को मिल सकेंगे।

चुनाव की मीटिंगों में जाता। कहीं स्वागत होता तो कहीं तीखी बातें सुनने को मिलतीं। सीकर में एक बार लोगों ने शिकायत की कि जितनी आशा थी, मैंने नहीं की। मैंने बताया कि केवल शहर का नहीं, पूरे क्षेत्र का सवाल है। सबके लिये प्रयास करना है। प्रान्त और केन्द्र के मंत्रालयों से और सरकारी अफसरों से जूझना पड़ता है। इन सबों में टाइम लगता है। ज्यादा लोग तो मेरी बात मान जाते, किन्तु विरोधी इन बातों को तूल देकर सीधे-सादे लोगों को भड़काते। जिनकी रुपयों की माँग पूरी नहीं करता वे बेतुकी बातों पर उतारू हो जाते।

एक बार रामगढ़ गया। लोगों ने काले झंडे दिखाये। गोलमाल होने की खबर मुझे मिल चुकी थी। धमकी देकर मुझसे रुपये ऐंठना चाहते थे। स्थानीय स्कूल को लेकर भ्रम फैलाया गया। किन्तु मैंने शान्त भाव से स्थिति स्पष्ट की। लोगों को बात जँच गयी। अपने प्रति उनकी गलत धारणा बहुत कुछ दूर कर सका। व्यक्तिगत आक्षेपों से मन उत्तेजित हो जाता है, पर शान्त

रहकर सब कुछ सुनना और सहना पड़ता है। सार्वजनिक कार्य चाहे सामाजिक हो अथवा राजनैतिक—व्यक्ति को आलोचना-आक्षेप पर मानसिक सन्तुलन नहीं खोना चाहिए। किन्तु कभी-कभी ऐसे मौके आ ही जाते थे, जब हमारे कार्यकर्ताओं को परेशान किया जाता, हाथापाई कर बैठते।

दूसरी बार के चुनाव में खर्च अधिक लगते रहे। जातिवाद का अडंगा भी बढ़ा हुआ था। कुछ तो यों ही पैसे बनाने के ख्याल से नामांकन-पत्र दाखिल कर देते हैं। चुनाव में वोट काट ले जाते हैं। इन्हें बैठाने के लिए भी जोड़-तोड़ लगानी पड़ती है। मेरे मित्रों को ऐसी स्थिति का भी सामना करना पड़ा। २८ फरवरी को माधोपुर की गिनती हुई। इस क्षेत्र से मैं आशंकित था, किन्तु यहाँ काफी अच्छी जीत रही। मन प्रसन्न हो गया। सीकर के लिए काम करने का मौका फिर मिला। कुल ३७ हजार मतों से जीता। शब्दों में अपनी भावना कह नहीं सकता, भावविभोर हो उठा। मित्रों और भाइयों का सहयोग, बड़े-बड़े नेताओं का सहयोग, पिताजी का आशीर्वाद-नन्दू की भाग-दौड़, सभी का चमत्कार था। सफलता इन्हींकी थी।

चुनाव में कई आश्वासन दे चुका था। इन्हें कैसे पूरा करूँ, इसकी चिन्ता लग गयी। स्कूलों-कॉलेजों, अस्पतालों की आर्थिक सहायता, नये स्कूल, सड़कें बनवाना, जल की व्यवस्था और तरह-तरह के कमिटमेन्ट्स। बड़ी लम्बी फेहरिस्त हो गयी। अपने क्षेत्र के दौरे पर निकलते ही लोगों ने स्मरण दिलाना शुरू कर दिया। महीनेभर भी साँस ले नहीं पाया कि दौड़भाग शुरू हो गयी। पार्लियामेन्ट में काम बढ़ गया था। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दे, राष्ट्रीय पेचीदगियाँ। राजस्थान के लिए मैं विशेष रूप से कृषि और उद्योग के विकास के लिये प्रयत्न करना चाहता था। मेरी धारणा थी और आज भी है कि केवल सरकार पर निर्भर करने से लक्ष्य की सिद्धि सम्भव नहीं। मोटे तौर पर सरकार जल, बिजली, आवागमन, परिवहन, ऋण आदि की व्यवस्था कर सकती है, किन्तु उत्साह-उद्यम और श्रम तो जनता का ही दायित्व है। बड़ी योजनाओं के सहारे-भरोसे बैठे रहने पर अनिश्चित काल के लिये बातें टलती जाती हैं। कलकत्ते जब भी आता मैं अपने साधन-सम्पन्न मित्रों से चर्चा करता और उन्हें अनुप्रेरित भी करता कि अपने-अपने गांव के लिये कुछ न कुछ करते रहें। मुझे सन्तोष है कि मेरी बातों पर उन्होंने ध्यान दिया और काम भी काफी हुआ।

उन दिनों राजस्थान के मुख्यमन्त्री थे, श्री मोहनलाल सुखाड़िया। राजस्थान का सौभाग्य था कि ऐसा उत्साही और कर्मठ कार्यकर्ता मिला।

राजस्थान जैसे उपेक्षित, अनुर्वर, उद्योग-धन्धे में पिछड़े विशाल प्रदेश को विकासोन्मुखी बनाने में उनका अवदान चिरस्मरणीय रहेगा। डॉ० विधानचन्द्र राय, प्रतापसिंह कैरों को कृषि में उन्नत पंजाब और उद्योग में उन्नत पश्चिम बंगाल मिला था। अतएव उनके समक्ष उतनी जटिलताएँ न थीं, जितनी सुखाड़ियाजी को सँभालनी पड़ीं। राजनीतिक दलबन्दी की पेचीदगियों ने उन्हें बहुत धक्का पहुँचाया। वे निष्ठावान् और कर्मठ थे। उनकी कल्पनाएँ यदि पूरी हो जातीं तो सम्भवतः हरियाणा से राजस्थान आगे निकल जाता। मैं जब भी उनसे मिलता वे जोर देते कि योजना का प्रारूप लेकर मिलूं और इससे होनेवाले लाभ के विस्तृत विवरण और आँकड़े भी। मैंने इसका ध्यान रखा। मुझे उनका स्नेह, सहयोग मिलता रहा। सीकर और राजस्थान में मेरी सफलता के लिये जहाँ मैं अपने मित्रों के सुझाव के लिये आभारी हूँ, वहीं सुखाड़ियाजी के सहयोग के लिये भी।

कांग्रेस पार्लियामेन्टरी पार्टी में ट्रेजरर होने के नाते भी काफी काम करना पड़ता था। संसद् का काम तो था ही। यह काफी तनाव-पूर्ण लगता। कई ऐसे मसले रहते, जिनके प्रति पार्टी के निर्णय से मैं सहमत न रहता, किन्तु विवश था। मुझे सहमति देनी पड़ती। सबसे दिक्कत यह थी कि कैबिनेट मिनिस्टर तक मसले को कैबिनेट तक ले जाने में हिचकते, उन्हें नेहरूजी से भय लगता। पाकिस्तान से सटी राजस्थान की सीमाओं पर बसे मुसलमानों की बड़ी संख्या खतरे की बात थी। धीरे-धीरे मुसलमान जैसलमेर मे पाकिस्तानी मुसलमान घुसपैठियें बस रहे थे। इसी प्रकार असम के भी कांग्रेसी कार्यकर्ता पूर्व पाकिस्तान के घुसपैठियों से आशंकित थे। किन्तु समस्याओं का जिक्र उठाना सम्भव नहीं रहा। शुरुआत करते ही सम्प्रदायवादी मनोवृत्ति का आरोप सहना पड़ता था। बांगडुंग-कॉनफ्रेन्स और पंचशील-घोषणा के बाद चीन के रुख की जो खबरें आती, वे संभावित आशंकाओं की ओर स्पष्ट संकेत थीं, किन्तु हम सिर्फ लावियों में चर्चा कर रह जाते। कभी-कदास पार्टी की मीटिंगों मे चर्चा होती, किन्तु हमारी बातें या तो हम ठीक से रख नहीं पाते, बड़ों के व्यक्तित्व के आगे हम झुक जाते। कुल मिलाकर निस्संकोच यह स्वीकार करूँगा कि मुझमें भी यही दोष था। राजनीतिक दलीय पोषण-तोषण का हम पर प्रभाव ज्यादा था। राष्ट्रीय भावना और राष्ट्र-हित के लिए अड़ जाने का साहस कम। इससे धीरे-धीरे कांग्रेसी कार्यकर्ताओं का नैतिक चरित्र कुंठित होता गया।

सरकारी प्रशासक अवसरवादी और सुविधावादी होते जा रहे थे।

इसका कारण था कि आँकड़े और सूचनाएँ वे जैसी तैयार कर देते वही आधार मन्त्रियों का रहता। एक बार मैंने बड़े परिश्रम से लाइफ इन्श्योरेन्स कॉरपोरेशन पर संसद् में कहा। अच्छा बोल सका, सदस्यों ने सराहना की, अखबारों ने भी। मैंने स्पष्ट किया कि एल० आई० सी० के फण्ड का नियोजन सही तरीके से नहीं हो रहा है। ऋण देने के बाद उसका उपयोग और उसकी वसूली पर ध्यान देना चाहिये। ऐसा होता नहीं। सरकारी मशीनरी की शिथिलता की मैंने आलोचना की। विभागीय प्रशासक मेरे से असन्तुष्ट हो गये।

चीन की गतिविधि देश के लिए खतरनाक हो चुकी थी। हम सभी जानते थे। अखबारों में भी चर्चा थी। पार्लियामेन्ट में लद्दाख पर डिबेट था। एंथोनी बहुत अच्छा बोले। लॉबी में चर्चा रही। नेहरूजी के सामने कोई बोले, न बोले, लॉबी में भड़ास निकालते ही थे, चाहे राज्यसभा के सदस्य हों अथवा लोकसभा के। लालबहादुर शास्त्री, फिरोज गांधी, मनुभाई, मुरारजी भाई, महावीर त्यागी आदि मुझसे स्नेह रखते थे, किन्तु लॉबी की मिनी पार्लियामेन्ट में हम भले ही बातें कर लें, संसद् में पंडितजी के सामने सरगर्मी ठंढी हो जाती।

एक बार मैंने बात उठाई, चीन बड़ी लड़ाई की तैयारी में था। हिमालय की वर्फीली ऊँची चोटियों के लिए अधिक साधन की व्यवस्था जरूरी थी। मुरारजी ने मिलिट्रीवालों के लिए अतिरिक्त भत्ते की मंजूरी दे दी थी, परन्तु आर्मी ने आधुनिक शस्त्रास्त्रों के लिए पांच-छः अरब रुपयों की जरूरत बताई। उन्होंने कहा, इस विषय को रक्षा-मंत्री कैबिनेट में रखें। बात पंडित-जी तक पहुँची। उन्होंने कहा, इसकी जरूरत नहीं, चीन हमला करेगा नहीं।

वास्तविकता यह थी कि पंडितजी सरल और उदार थे। वे दिल से विश्वास करते थे। उनका मन साफ था, किन्तु राजनीति बड़ी मायाविनी होती है। इसमें तो विष्णु या कृष्ण का-सा खिलाड़ी सफल होता है। नेहरूजी को उन्हीं लोगों ने बरगलाया और भ्रम में रखा, जिन पर उन्हें पूरा भरोसा था। हम पण्डितजी के व्यक्तित्व, उनके प्रति स्नेह और श्रद्धा से इतने प्रभावित थे कि हमने भी दवाव देने में संकोच किया। भूल हमारी भी कम नहीं।

उन दिनों अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में भी काफी गहमा-गहमी थी। चीन की तरफ से गहरी आशंका थी ही। सितम्बर '६२ में सेना ने सातवीं बार रक्षा-मंत्रालय को हथियार और सामान की कमी के बारे में चेतावनी दी थी। हम लोगों ने रक्षामंत्री कृष्ण मेनन से भी कई बार कहा। किन्तु उन्होंने बड़ी बेरुखी दिखाई। पंडितजी को भ्रम में पूरी तरह डाल रखा। आखिर २०

अक्टूबर को खबर आ ही गयी कि चीन ने नेफ़ा पर जोर से हमला कर दिया है। पंडितजी ने गलती महसूस की, उनका भाषण बहुत ही निराशाजनक था। बाजार में शेयरों के भाव तेजी से गिरे। तरह-तरह की अफ़वाहें फैलने लगीं। विश्व में एक तरफ अमेरिका और रूस क्यूबा को वलि का बकरा बनाकर जोर-आजमाइश कर रहे थे, इधर चीन ने भारत पर प्रहार कर दिया। खास बात यह थी कि रूस और अमेरिका आपस में नहीं लड़ रहे थे। दुनिया में कमजोर रहना भीषण अपराध है। भारत की सिधाई और कमजोरी का चीन ने नाजायज फायदा उठाया। चीन से लड़ने को था ही क्या हमारे पास ? हमारे जवान डटे रहे, पर कटते रहे। हमें शर्म आती थी, हम संसद्-सदस्य थे, राष्ट्र की जनता के प्रतिनिधि। देश की समृद्धि और सुरक्षा की जो जिम्मेदारी हमें सौंपी गयी उसका अंजाम हमने कैसा दिया ? कायरता, चाटुकारिता और भावना ने हमारी जबान पर ताला लगा दिया। आनेवाली पीढ़ी हमारे नाम पर हँसेगी।

हमने वार फंड के लिए धन-संग्रह का फैसला किया। रुपये इकट्ठा करने में कठिनाई नहीं हुई। मेनन की बड़ी बदनामी हुई। इस स्थिति में नेहरूजी भी उन्हें बचा न सके। मैंने इन्हीं दिनों कई लेख अखबारों में लिखे और मित्रों से सहयोग-सहायता के लिये पत्र लिखे। मैंने तय कर लिया था कि नेहरूजी या पार्टी को बुरा भले ही लगे, मैं आलोचना और स्पष्टवादिता से हटूंगा नहीं। आखिर संसद्-सदस्यों और कांग्रेसी कार्यकर्ताओं के दबाव के आगे नेहरूजी को झुकना पड़ा। ७ नवम्बर को पार्टी मीटिंग में रक्षामंत्री श्री कृष्ण मेनन को हटा दिया गया।

चीन नेफ़ा में तेजी से आगे बढ़ आया था। भगदड़ मची थी। मैंने निर्णय लिया कि नेफ़ा जाकर जायजा लूँ और जो बन पड़े करूँ। मुझे असम के मित्रों के सहयोग का भरोसा था। २१ नवम्बर को अखबारों में आया कि चीन ने 'सीज फायर' कर दिया। मुझे ऐसा लगा कि भगवान् की कृपा हुई। मैं प्रधानमंत्री, पंडित नेहरू से मिला। उनसे काफी बातें हुईं। उन्होंने ध्यान से सुना। मैंने स्पष्ट कर दिया कि चीन जितनी जमीन हथिया चुका है, उससे हटेगा नहीं। नेफ़ा से फिलहाल अपनी सेनाएँ हटा ले, किन्तु क्लेम करेगा, सीमा-विवाद को जिलाये रखेगा। सिक्किम और भूटान को भी हमें चीनी नजर से मुक्त नहीं समझना चाहिए। नेहरूजी के चेहरे पर चिन्ता की उभरी रेखाओं से मुझे बड़ी करुणा आयी। मेनन ने मंथरा बनकर इतिहास के पन्ने पर नेहरूजी की छवि को मलिन कर दिया। क्या मिला, उसे अपने दंभ का ?

असम के नौगांव पहुँचा। चीन की सेनाएँ हट रही थीं, किन्तु लोगों में आशंका बनी हुई थी। फिर भी कामकाज ठीक चल रहा था। जोरहाट होते हुए डिब्रूगढ़ पहुँचा। लोगों में साहस था। घायल सैनिकों की सेवा तन-मन से करने में लगे थे। सैनिकों की एक ही शिकायत रही। हथियार बिना आधुनिक युद्ध कैसे हो? अस्त्र-शस्त्र होते तो हमें नीचा न देखना पड़ता। देश की जनता उन्हें क्या समझती होगी। मैं सान्त्वना देता। बहुतों की उंगलियाँ ठंड से गल गयी थीं। नाखून उतर गये थे। मगर चेहरे पर ओज था कि उन्होंने कर्तव्य-पालन में ढिलाई नहीं की। मैंने भी महसूस किया कि अनुभवहीन कमजोर कमांडर और साधनहीन सैनिक ही हमारी दुर्दशा का प्रमुख कारण बने।

वापसी में गोहाटी रुका था। कारोबार ठीक चल रहा था। लोगों में राष्ट्रीय भावना जोरों पर थी। किन्तु सभी ने डिफेन्स को मजबूत बनाने के लिए जोर दिया। पूर्वी पाकिस्तान (बंगलादेश) से असम में आनेवालों के बारे में सरकारी उदासीनता की शिकायत की। इसी प्रकार वहाँ से हिन्दू शरणार्थियों की आनेवाली बाढ़ पर भी चर्चा की। उनका कहना ठीक था कि मुसलमान घुसपैठिये आगे चलकर राष्ट्रीय जटिलताएँ खड़ी करेंगे। शरणार्थियों की वजह से आर्थिक समस्याएँ बढ़ेंगी, अतएव इनका निदान केन्द्रीय सरकार को जल्द-से-जल्द निकालना चाहिए। मुझे दोनों ही बातें जँचीं। मैंने मुख्यमंत्री श्री चालिहा से अनुरोध किया कि चीन के हमले के परिप्रेक्ष्य में असम राज्य में सड़कों और रेल-पथ बढ़ाने का प्रयास करना चाहिए। मैंने यह भी कहा कि शरणार्थियों और घुसपैठियों की समस्या गंभीर होती जा रही है। वे गृह-मंत्रालय का ध्यान आकर्षित करें। हम संसद्-सदस्य भी रिपोर्ट पेश करेंगे। इस दिशा में असम राज्य को जैसी पहल और पैरवी करनी थी, वैसी हो नहीं पायी। आज भी समस्या वैसी ही है, बल्कि अब तो मुस्लिम घुसपैठिये स्थानीय राजनीति को प्रभावित कर अड़चनें लगाने लगे हैं।

२७ मई सन् १९६४ को पंडितजी का देहान्त हो गया। देश को बहुत सदमा पहुँचा। मुझे ऐसा लगा कि अब देश का क्या होगा। विश्व की राजनीति का इतना प्रभावी व्यक्ति, देश के जन-जन का प्यारा, ऐसे व्यक्ति के चले जाने पर क्या होगा? कौन सँभालेगा, कौन कर्णधार बनेगा, प्रश्नचिह्न बना। पंडितजी का व्यक्तित्व कुछ ऐसा था कि उसके आगे सभी फीके थे। इससे पूर्व नेहरूजी के अस्वस्थ हो जाने पर कई बार अखबारों में चर्चा आती रही थी। संसद्-सदस्य और कांग्रेसी कार्यकर्ताओं में भी बातें होतीं कि अगला

श्री लालबहादुर शास्त्री के सान्निध्य में श्री रामेश्वर टाँटिया तथा
उनके अनुज श्री सत्यनारायण और उनकी पत्नी

सीकर मे दूसरी बार लोकसभा के लिए निर्वाचित

संसद मे कांग्रेस पार्टी (१९६६) के सदस्यों के बीच कोषाध्यक्ष श्री रामेश्वर टांटिया

रामेश्वर टांटिया
१९७६ ई०

ज्ञानभारती विद्यापीठ, कलकत्ता द्वारा श्री रामेश्वर जी का अभिनंदन एवं स्वास्थ्यलाभ हेतु प्रार्थना
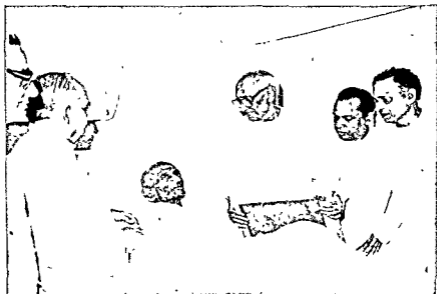
जमलोक अस्पतालबम्बई मे टाँटिया जी को अभिनंदन पत्र समर्पित करते हुए सर्वश्री भागीरथ कानोडिया, नथमल केडिया, पुरुषोत्तम केजरीवाल, भँवर लाल दूबे तथा गगाशरण सिह
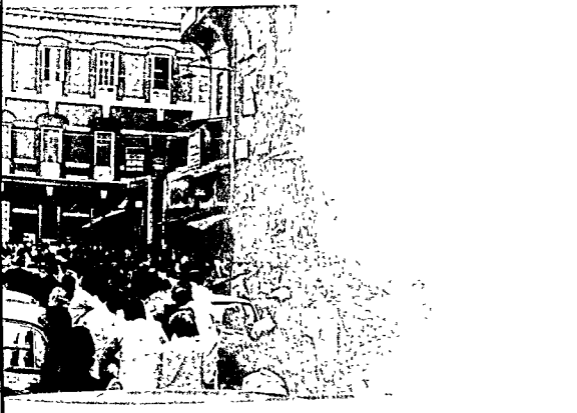
शायर मार्केट कलकत्ता के बीच का दृश्य ↑

ारंगी का दृश्य, सामने पावर हाउस, दाहिनी ओर कलकत्ता इलेक्ट्रिक सप्लाई कार्पोरेशन का कार्यालय ↓
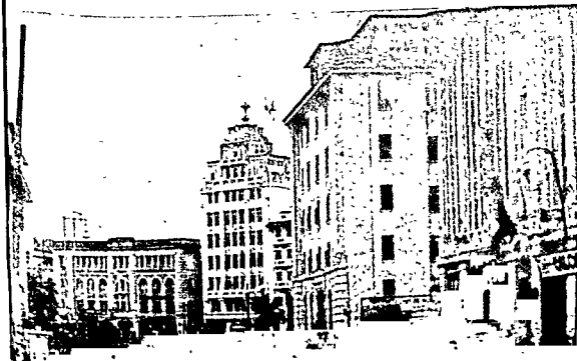
गंगालहरी, हरिद्वार मे श्री घनश्यामदास बिड़ला, पण्डित देवधर शर्मा के बीच रामेश्वर जी

धावंगाल विन सभा के अध्यश श्री ईश्वरदास जालान तथा कलकत्ता के युवा

कानपुर नगर महापालिका के मेयर पद का शपथ ग्रहण करते हुए

अखिल भारतीय मारवाड़ी सम्मेलन के पूना अधिवेशन में श्री गजाधर सोमानी तथा श्री ओंकारलाल बोहरा के साथ
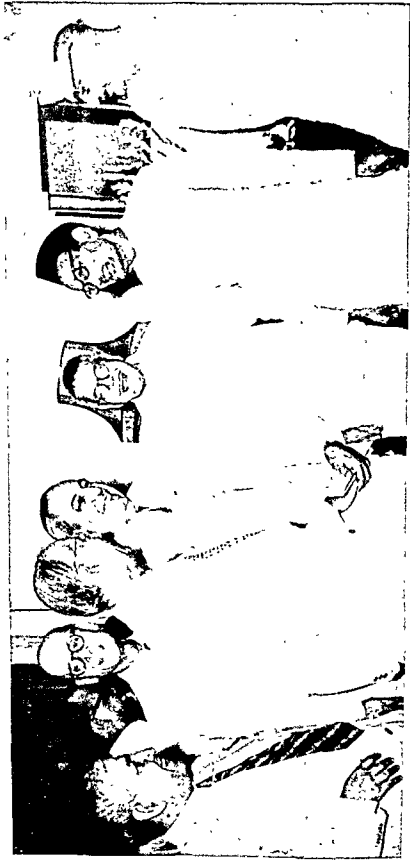
जन जीवन के विभिन्न व्यक्तियों के बीच श्री रामेश्वर टांटिया । बायें से : साहू शान्तिप्रसाद जैन, बी० पी० सिंह राय, श्री घनश्यामदास बिड़ला श्री टी० टी० कृष्णमाचारी, श्री टांटिया तथा श्री कमलनयन बजाज

प्रधानमंत्री कौन होगा। नेहरूजी के बाद मुरारजी भाई जरूर थे, योग्यतम थे, किन्तु अपनी मान्यता के समक्ष वे समझौता नहीं करना चाहते थे। हम सभी हतप्रभ-से रह गये। अस्थायी तौर पर श्री गुलजारीलाल नन्दा का नाम सर्वसम्मति से प्रधानमंत्री-पद के लिए लिया जाने लगा। इसी बीच स्थायी प्रधानमंत्री के चुनाव के लिए कोशिशें होने लगीं। अन्त में लालबहादुर शास्त्री प्रधानमंत्री बनाये गये। वे ही एक ऐसे व्यक्ति थे, जिनका विरोध किसीसे न था।

अपने जन्म से पाकिस्तान सदा विवाद करता रहा। आगे भी करेगा किसी न किसी बहाने। कश्मीर में उलझा, हमने हराया। मैदान में जीत को कागज पर हार में उतार दिया। पाकिस्तान फायदे में रहा। कश्मीर का काँटा सदा गड़ता रहेगा। मेरी धारणा है कि यह विवाद चीन, अमेरिका और ब्रिटेन शायद ही सुलझने दें। जिम्मेदार हमारी नरम नीति भी कम नहीं। कच्छ के मामले को लेकर विवाद खड़ा हुआ। साफ बहाना था। मगर पाकिस्तान को तो अपनी साख बनानी थी। भारत पर हमला बोल दिया। साख तो क्या बननी थी? इतना जरूर हुआ कि प्रेसिडेण्ट अय्यूब खाँ को पाकिस्तान की गिरती अर्थ-व्यवस्था और पूर्वी पाकिस्तान में बढ़ते असन्तोष पर से ध्यान बँटाने का अवसर कुछ समय के लिए मिला। हमारे प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री ने दृढ़ता का परिचय दिया। जनता का मनोबल बहुत ही ऊँचा था। हमारे सैनिकों ने रण-कौशल भी अच्छा दिखाया। सिन्ध में काफी दूर तक घुस गये। कश्मीर के मोर्चे पर बड़ा घमासान मुकाबला होता रहा। पाकिस्तान का जोर कम पड़ता जा रहा था। रूस ने बीच-बचाव करा दिया। बाद में ताशकन्द में समझौता हो गया। इस बार भी मैदान की हमारी जीत और सफलताएँ समझौते के कागज पर हम हार गये। इसमें सन्देह नहीं कि इससे सेना का उत्साह गिरता है। जनता में भी खेद का वातावरण बन जाता है। मैंने पाकिस्तान से हर्जाने की वसूली पर पार्टी के सहयोगियों से चर्चा की और जीते हुए कुछ स्ट्रेटेजिक इलाकों को न छोड़ने की भी बात उठायी, किन्तु वह आयी-गयी हो गयी। शास्त्रीजी को भारतीय जनता ने पूरा समर्थन और सहयोग दिया था। उनका नारा 'जय जवान–जय किसान' बहुत ही सफल और प्रभावी रहा। 'गोल्ड बॉन्ड' को भी जनसाधारण ने सहर्ष अपना लिया—यह एक चमत्कार है। आगेचलकर ये बॉन्ड व्यापारिक रूप में सम्पन्न व्यक्तियों के लिए ज्यादा फायदेमन्द होंगे। साधारण जन के हाथ से सोना निकल जायगा। कोई आश्चर्य नहीं कि सोने-चाँदी का भाव

आसमान छूने लगे। किन्तु व्यय के लिए धनराशि चाहिये और 'गोल्ड बॉन्ड' तात्कालिक उपाय के लिए समर्थ रहा। एक बात ध्यान देने की है कि पाकिस्तान से झड़पें और लड़ाइयाँ भविष्य में होंगी, वह बाज नहीं आयेगा। चीन भी समस्या है। ऐसी स्थिति में अब आगे जनता क्या दे पायेगी? केवल रक्तदान से अर्थाभाव की पूर्ति कहाँ तक होगी?

कांग्रेस में अन्दरूनी दलबन्दी शुरू से ही रही है। नेहरूजी और सरदार पटेल के समर्थकों के पृथक्-पृथक् दल रहे हैं। किन्तु राष्ट्रीय मुद्दों पर सभी एक रहे। पटेलजी की मृत्यु के बाद मुरारजी भाई को पार्टी के सदस्यों का एक बड़ा भाग समर्थन देने लगा। नेहरू-समर्थक इन्दिराजी को प्रधानमन्त्री बनाने के पक्ष में थे। जो भी हो, वरिष्ठ नेताओं के प्रभाव से शास्त्रीजी प्रधानमन्त्री बनाये गये। किन्तु आपसी मतभेद सामने आ गया। इस खींचातानी की स्थिति ने देश को काफी नुकसान पहुँचाया है। मुझे बड़ी असुविधा रही। मेरे क्षेत्र की बहुत-सी योजनाएँ मैं पूरी नहीं करा पाया। सीकर जाने में मुझे संकोच होता। एक प्रकार का भय-सा भी रहता कि लोग समझेंगे कि कुर्सी पाकर नाम-यश कमाने में लगा हूँ, अपने क्षेत्र की जनता से किये गये वादे की उपेक्षा कर रहा हूँ।

समझौते पर हस्ताक्षर होने के बाद ही ताशकन्द में शास्त्रीजी का देहान्त हो गया था। गुलजारीलालजी नन्दा चलाऊ अन्तरिम प्रधानमन्त्री बने। शुरू हो गया पार्टी में प्रधानमन्त्री-पद का विवाद। इन्दिराजी और मुरारजी भाई दो ध्रुव थे। कामराजजी के प्रभाव और प्रयास से इन्दिराजी को प्रधानमन्त्री बनाया गया, कांग्रेस की नींव में दरार और भी चौड़ी हो गयी।

ग्लानि और मानसिक तनाव से मैं परेशान था। सन् १९६७ के संसदीय चुनाव में खड़े न होने का निश्चय मन में जोर करने लगा। मैं अपने मन की बात मित्रों से कहता था, किन्तु वे हँसकर टाल देते। वे तर्क देते कि मैं बाधाओं से घबराता हूँ, हिम्मत हारता हूँ। वे मेरे काम और उसके तरीके से सन्तुष्ट थे। मेरे क्षेत्र के लोगों में भी मेरे प्रति स्नेह था, विरोध नहीं। जब भी जाता उनसे मिलता, स्पष्ट बातें होतीं। उन्हें मुझ पर विश्वास था। फिर भी मैंने तय-सा कर रखा था कि चुनाव में खड़ा नहीं होना है। मैंने अनुभव किया कि भागदौड़ और मानसिक तनाव से मेरा स्वास्थ्य कमजोर होता जा रहा है।

कुछ संयोग ऐसा बना कि उन दिनों पार्लियामेंट में मेरे प्रश्नों की सराहना की गयी। अखबारों में 'गोल्ड बॉन्ड', अवमूल्यन, बजट, विदेश-यात्रा के मेरे

संस्मरण और अन्यान्य लेख भी लोकप्रिय रहे। मित्र प्रशंसा करते, पाठकों के पत्र आते। मेरा उत्साह बढ़ता। मैं सारी परेशानियाँ भूल जाता। अवसाद मिट जाता। चुनाव में खड़ा न होने का मेरा निश्चय डोल उठता। ज्यों-ज्यों संसदीय टिकटों का समय नजदीक आता गया, वरिष्ठ नेता और मित्र चुनाव में खड़े होने के लिए दबाव देने लगे। मैं जानता था कि इस बार जनता की भावना बदल चुकी है। कांग्रेस की आपसी फूट से पार्टी भीतर से टूट गयी है। चुनाव पर इसका बुरा असर पड़ सकता है। किन्तु न जाने किसी अनजान शक्ति ने स्वीकार करने के लिये मुझे प्रेरणा दी। सीकर से तीसरी बार लोकसभा के सदस्य के लिए कांग्रेस का मनोनीत प्रार्थी बना। सुखाड़ियाजी का विश्वास और स्नेह बहुत बड़ा कारण था। मैं विवश था।

पिछले दो चुनावों का अनुभव था। किन्तु इस बार परिस्थिति बदली-सी थी। विरोधी पार्टियों ने सरकार को कमजोर नीतियों और असफलताओं को बड़ा बनाकर बहुत पहले से ही प्रचार प्रारम्भ कर दिया था। जनसंघ जोर पकड़ चुका था। कांग्रेस की अन्दरूनी फूट, मुस्लिम-तोषण की अनुरक्ति, कश्मीर, नेफा और असम राज्यों में कांग्रेस-दल और सरकार की ढुलमुल नीति पर जनसंघ ने जनता का ध्यान विशेष रूप से अखिल भारतीय स्तर पर आकर्षित किया। राजस्थान के लिए उनका कोई तगड़ा तर्क नहीं था, फिर भी सीमा पर बसे और बसाये मुस्लिम आबादी का प्रश्न उठाया गया। राजस्थान में आर्थिक और औद्योगिक विकास की उपेक्षा की गयी है, यह भी उन लोगों ने मुद्दा बनाया। मेरे लिये एक ही बात पर जोर दिया कि मैं पैसेवाला हूँ, पैसेवालों का हूँ।

चुनाव में तरह-तरह की आँधियाँ उठती हैं। मुझे अनुभव था। मैंने मित्रों के साथ बैठकर योजना बना ली थी। कार्यकर्ता जुट पड़े। हम सभी दौरे पर निकल पड़े। मैंने अपने पूरे क्षेत्र का दौरा एक बार पूरा कर लिया। अजातशत्रु तो मैं था नहीं, फिर भी मेरे प्रति उग्र विरोध मुझे नहीं मिला। किन्तु विरोधियों के प्रचार का रुख जोर पकड़ रहा था। कांग्रेसी कार्यकर्ताओं में कुछ लोग ऊपर से तो ठीक थे, किन्तु वास्तव में निष्क्रिय। यही नहीं, विरोध में प्रचार भी कर रहे थे। मुस्लिमों का वोट महत्त्व रखता था। विरोध में यद्यपि जनसंघ के रहने के कारण हमें मुस्लिम वोटों की आशा थी, फिर भी निर्दलीय प्रत्याशियों के कारण इनके वोट हिन्दू वोटों की तरह बँट सकने की सम्भावना थी। जो भी हो, मैं दौरे करता रहा, स्थिति की जानकारी और जायजा लेकर काम करने के ढंग की तालमेल मित्रों की सलाह से बैठाता।

लोसल दांता, सीकर, लक्षमनगढ़ खण्डों में हमें अपनी स्थिति आशंकाजनक महसूस हुई। लोसल में बदमाशी की गयी। मुझ पर धूल फेंकी गयी। मन में दुःख हुआ। यहाँ फूल फेंके गये थे, गजरे पहनाये गये, अब धूल! मैंने इनका कुछ बिगाड़ा नहीं, जितना बन पड़ा किया। आज इनकी आँखें बदल गयीं! फिर भी विश्वास के साथ जुटा रहा। गिनती के पहले तक स्थिति ऐसी थी कि हार की सम्भावना नहीं थी। भले ही अधिक वोटों से न जीत पाऊँ।

गिनती शुरू हुई। सीकर में मुसलमानों के वोट अच्छे मिले। मुझे ऐसी आशा नहीं थी। सुजानगढ़ से मुझे बड़ी उम्मीद थी कि अच्छे वोटों से जीतूंगा, वहीं मैं ९००० वोटों से हारा। इसी तरह भरोसे की जगहों पर मेरे अनुमान गलत साबित हुए। कुल मिलाकर १५००० मतों से पराजित हो गया। हार का दुःख होना स्वाभाविक होता है, मुझे भी हुआ। किन्तु एक पछतावा था कि चुनाव में खड़ा न होने का निर्णय करने के बावजूद क्यों खड़ा हुआ? मित्रों को, स्वजनों को सबको परेशान होना पड़ा, कष्ट हुआ—मेरे कारण। जीवन में किशोरावस्था से संघर्ष करता हुआ भगवान् की कृपा से सम्पन्न बना। सामाजिक सेवा ने नाम-यश दिया। संघर्षों से मुक्त हो सकता था। क्या जरूरत थी मुझे राजनीति में पड़ने की? न चैन, न आराम।

चुनाव ने साबित कर दिया कि कांग्रेस की छवि बिगड़ चुकी है। कामराज, अतुल घोष, पाटिल, त्यागीजी, मनुभाई आदि बड़े-बड़े दिग्गज हार गये। सीकर में करने के लिए अब क्या रहा? वहाँ का काम सलटाकर दिल्ली आ गया, ताकि बदले वातावरण में मन कुछ हल्का हो जाय।

राजस्थान से दिल्ली आ गया। कोई विशेष उद्देश्य था नहीं। मन हल्का करना था, मित्रों, हितैषियों से मिलना था। सोचा, कलकत्ता वापस चला जाऊँगा।

दिल्ली आ गया। मन में अवसाद, तन मे थकान। कहीं जाने की इच्छा नहीं हुई, किसीसे मिलने का मन नहीं हुआ। बिस्तर पर पड़ा रहा। सोचता रहा, अब अपने को किससे जुड़ा समझूं? कटी पतंग रहा, साथ लगी लम्बी डोर किस काम की? कलकत्ता से अलग रहा, कामकाज से सम्पर्क छूटा, राजनीति से सम्बन्ध टूटा। इष्ट-मित्रों से, अपनों से दूर हो गया। वर्षों पहले ऐसी ही परिस्थिति बनी थी। असम से निराश होकर गांव वापस आया था, आगे क्या करूँ यह तय नहीं कर पा रहा था। आज इतने वर्षों बाद वैसा ही प्रश्न-चिह्न सामने खड़ा है। पत्नी साहस दिलाती हैं, किन्तु झेंप मिटती नहीं,

कुण्ठा हटती नहीं थी। जैसे-तैसे उठकर मित्रों से मिलने निकला। दिशाहीन, उदास, किंकर्तव्यविमूढ़ थे। एक ही बात कहते—आपसी फूट ने कांग्रेस को डुबाया। भविष्य अन्धकारमय है, पार्टी का। मुझे लगा, यहाँ का निराशाजनक वातावरण मुझ पर प्रतिकूल प्रभाव डालेगा। कलकत्ता चला आया।

कलकत्ता में मन कुछ बदला और हल्का-सा लगा। कसक कुछ कम हुई। मित्रों से चुनाव के बारे मे बात होती तो मैं कतरा जाता या टाल देता। राजनीति का जो रूप दिल्ली में पिछले वर्षों में देखा उससे ऐसा लगा कि हममें राष्ट्रीय भावना नहीं रह गयी है। जो कुछ है वह व्यक्तिगत एवं दलगत गुटबन्दी। गांधी के समय राजनीति में देश-हित की भावना थी। दलगत मतैक्य न होने पर भी व्यक्तिगत विचार पर विवाद नहीं होता था। किन्तु इन वर्षो में हालत काफी बदल गयी।

मुझे ऐसा लगता है कि इसका कारण यह रहा है कि गांधीजी का व्यक्तित्व उनके निर्मल चरित्र के कारण देश पर लम्बे अरसे तक छाया रहा, इसके बाद नेहरूजी भी प्रभावी रहे। हमारी संस्कृति में बड़ों के प्रति आदर, सम्मान, श्रद्धा, भक्ति की भावना चिरकाल से रही है। इसीने विकृत रूप मे राजनीति के क्षेत्र में व्यक्ति-पूजा को महत्त्व दिया। इसीकी आड़ में स्वार्थ-सिद्धि को पनपने का मौका मिला। व्यक्ति को लाभ मिला, समष्टि, समाज, देश अथवा राष्ट्र-हित की बातें दबती चली गयीं। आम जनता पर गांधी-नेहरू का इतना प्रभाव था कि किसीने आवाज तक न उठाई।

आज मैं इसे अनुभव करता हूँ कि इस अवस्था में देश को लाने में हम सभी जिम्मेदार हैं। हमने राष्ट्र का अहित देखते हुए भी नहीं देखा। यह एक प्रकार से राष्ट्र-द्रोह कहा जायगा। आनेवाली पीढ़ियाँ हमें माफ नही करेंगी।

काम-काज की हालत देखी। दुख हुआ। दोष मेरा था। मैंने बिलकुल ही ध्यान नहीं दिया था। इतना तो कर ही सकता था कि बीच-बीच में खबर लेता, अपनी राय देता। मगर राजनीति के नशा—भँवरजाल ने वह मौका दिया नहीं। शान्त चित्त से बैठकर जब समाज की अवस्था का विश्लेषण करता तो मन में क्लेश होता। भौतिक उन्नति भले ही हुई, किन्तु नैतिक पतन ही हुआ। जब भी बीच-बीच में कलकत्ता आता रहा, सार्वजनिक संस्थाओं से यथासाध्य सहयोग पूर्ववत् ही करता, किन्तु बदलते संस्कार, गिरते आचरण की हालत देखकर भी कुछ करता नहीं। यही सोचता कि स्वाधीनता के बाद का परिवर्तन-काल है, स्वतः ही आंधी बैठ जायगी। मगर वह तो बवंडर होती गयी और अब तो उसने छायादार वृक्ष, वन-उपवन उखाड़

२३

बी.आई.सी. और कानपुर की मेयरशिप

जन्म का साथी रहा है पैरों का चक्कर, एक जगह बैठने देता नहीं। सार्वजनिक कार्यों से दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता, राजस्थान का चक्कर लगाता रहा। दिल्ली में मुझे पार्टी के लोग किसी न किसी सूत्र से बांधे रहना चाहते थे। मेरे लिए ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन की मैनेजिंग डायरेक्टरशिप सँभालने के लिए कहा गया। उत्तर भारत का यह बहुत बड़ा उद्योग-प्रतिष्ठान है। घाटे में चल रहा था। समस्याएँ जटिल थीं। मैंने टाल दिया। दुबारा जब दिल्ली गया तो फिर मेरे सामने प्रपोजल आया। मैंने सोचा कि स्वीकार कर लिया जाय। देश की सेवा ही होगी। चीनी, कपड़ा, चमड़ा आदि की बहुत सारी मिलें और फैक्टरियों में सुधार लाकर यदि मुनाफा दे सकता तो सरकार की बहुत बड़ी रकम व्यर्थ जाने से रोक सकूँगा। इसके अलावा मेरा समय भी कट जायगा। इधर-उधर भटकने से छुटकारा मिलेगा। इतने पर भी मैंने दायित्व सँभालने की स्वीकृति नहीं दी। मेरा मन बार-बार यही कहता था कि फाइनांस का बहुत बड़ा प्राब्लेम है। सरकारी अफसर-तन्त्र और राजनीतिक खींचातानी आड़े आ सकती है, जैसा कि सरकार-संचालित अधिकांश प्रतिष्ठानों, निगमों आदि में हुआ करता है।

साधु कम्बल फेंक दें, पर कम्बल साधु को छोड़ता नहीं। दबाव के कारण आखिर मुझे बी० आई० सी० की जिम्मेदारी स्वीकार करनी पड़ी। उन दिनों बम्बई की हमारी मिल की हालत अच्छी नहीं थी। उसे सुधारने की ओर ध्यान दे रहा था, किन्तु बीच में ही छोड़कर कानपुर आ गया। भाइयों को मेरा यह कार्य-व्यवहार जँचा नहीं। मैं नहीं जानता कौन सी शक्ति मुझे कानपुर खींच लायी। जीवन में प्रायः ऐसा ही हुआ—अच्छाई और बुराई दोनों में।

जीवन के लिए नया अध्याय बना। कुछ ही दिन हुए कि जनवरी-फरवरी में अन्दाज होने लगा कि बहुत पेचीदा मामला है। बी० आई० सी० का अधिग्रहण पूरी तौर पर सरकारी न होने के कारण निर्णय-निश्चय में

बाधाएँ आती हैं। इसका भाग्य ही खराब है। फिर भी हिम्मत बाँधे रहा। चम्पारण, मरहौरा और बिहार में स्थित बी० आई० सी० की अन्य चीनी मिलों का दौरा कर अवस्था और व्यवस्था की जानकारी ली। बी० आई० सी० प्रतिष्ठान अंग्रेजों के जमाने में बहुत ही लाभोत्पादक था। भारतीय नियंत्रण में आने के बाद इसे दूहा ही गया। नयी मशीनें, नये तरीके समय की माँग के अनुसार नहीं लगाये गये। पचासों वर्ष पुरानी मशीनों से उत्पादन की आशा करनी ज्यादती थी। मैंने निर्णय लिये, इन्हें बदलवाना होगा। अंग्रेजों ने अपनी सुख-सुविधा के लिए बड़ी रईसाना व्यवस्था बना रखी थी। खर्च भी अंग्रेज अफसरों और बड़े अफसरों पर ज्यादा लगता था। फिर भी उनके जमाने में घाटा नहीं रहता था, क्योंकि व्यवस्था मे अनुशासन था, मशीनरी की देखभाल थी–सँभाल थी। उनके जाने के बाद बीस वर्षों में मूक-मशीनें कराहकर तकलीफें बताती रहीं, पर किसीका ध्यान गया नहीं। लाखों रुपयों का घाटा लगता जा रहा था। सबसे पहले मैंने इसके चमड़े के कारखाने को सलटाया। इसके लिए पूँजी थी नहीं, नयी मशीनों के बिना उत्पादन-क्षमता बढ़ायी जा नहीं सकती थी। येन-केन प्रकारेण सरकार के जिम्मे इसे लगा दिया। होम करते हाथ जला। तरह-तरह के दोषारोपण मुझ पर आये। मुझे सन्तोष था कि बी० आई० सी० का एक खर्चीला, व्यर्थ का बोझ उतार सका। आज भी यह बोझ हर साल सरकार भारी रकम खर्च कर ढोती जा रही है। अफसर और अफसरी की खूबी है कि कोई सुधार या निदान नही निकाल पाये। किसे फिक्र है? सरकारी कम्पनियों के घाटे की रकम जनता से टैक्स के रूप में वसूली जाती है। कम्पनी चलनी चाहिए। एलगिन कानपुर टैक्सटाइल में मैंने कुछ सख्ती बरती। अनियमितताओं की रोकथाम की। कुछ बड़े अफसरों को हटाना पड़ा, अदला-बदली करनी पड़ी। खर्चे में कमी लाने की कोशिश की। एक ओर जहाँ मिलों के स्वार्थी अफसर और उन्हें छत्रछाया देनेवाले राजनीतिक नेता और भाई-भतीजावादी सरकारी अधिकारी मुझसे भीतर ही भीतर अप्रसन्न हुए, दूसरी ओर स्थानीय लोगों में और मजदूरों में मेरी लोकप्रियता बढ़ी।

साहित्यकार और साहित्य के प्रति रुचि के कारण नगर के बुद्धिजीवी पत्रकारों का स्नेह स्वतः मुझे मिला। शाम का समय अच्छा बीत जाता था। कुछ राहत महसूस करता था। मगर सर्वथा चिन्ता-मुक्त न हो सका।

मैंने प्रारम्भ से ही महसूस किया कि पुरानी मशीनें हटाये बिना उत्पादन बढने का नहीं। हमें सूती कपड़े के उत्पादन के साथ-साथ फाइबर मे भी जाना पड़ेगा। कोशिशें कीं, कुछेक मशीनें नये ढंग की ला सका। मगर

यह ऊँट के मुँह में जीरा था। एक ओर फाइबर का इम्पोर्ट लाइसेन्स बन्द हो गया तो दूसरी ओर बाजार में सूती कपड़े की माँग घटती जा रही थी। मुझे दिल्ली-कानपुर के बीच सरकार से पूँजी लगाने के लिये लगातार भाग-दौड़ करनी पड़ती थी। निजी मिल होती तो यह दिक्कत न रहती। संचालन मुझे करना था, जब कि साधन, धन और निर्णय औरों के हाथ—यह सबसे बड़ी विडम्बना थी।

एक शाम मित्रों ने कानपुर नगरपालिका की मेयरशिप स्वीकार करने का प्रस्ताव रखा। मैंने हँसकर टाल दिया। मैं दूध का जला था, छाछ तक पीने से डर लगता था। बात आयी-गयी हो गयी। इस बीच कई बार दिल्ली, लखनऊ और कानपुर के चक्कर बी० आई० सी० के काम से लगते रहे। एक दिन शाम की गपशप में मेरे एक मित्र ने कहा कि आपको मेयरशिप के लिए खड़ा नहीं होना चाहिए। मैं सकते में आ गया। मैंने उन्हें बताया कि मैंने अपनी स्वीकृति नहीं दी है और न मेरी इच्छा है इसके लिए। मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि मेरे कुछ मित्रों ने मेरे लिए कोशिश कर बात को काफी आगे बढ़ा दिया है और उन्हें अच्छे समर्थक भी मिल रहे हैं।

भाग्य मेरे साथ मजाक कर रहा था। एलगिन, कानपुर टेक्सटाइल, लाल इमली, धारीवाल और ब्रश वेयर की परेशानियों से जूझ रहा था कि लखनऊ से श्रद्धेय चन्द्रभानुजी गुप्त का बुलावा आया। इससे पूर्व वे कानपुर की विक्टोरिया मिल को संभालने का प्रस्ताव कई बार रख चुके थे। मैंने ना तो नहीं किया, किन्तु टालता रहा। इस बार मैंने उन्हें स्पष्टतः अपनी अस्वीकृति बता दी। मैंने यह भी कह दिया कि उसकी हालत बहुत ही गयी-गुजरी है। टेक्सटाइल मिलों में ऑटोमेशन लाये बिना मुनाफा नहीं हो सकता। एक ओर जहाँ अफसरतन्त्र, नेतातन्त्र, यूनियनतन्त्र बाधक है तो दूसरी ओर यूनियनों का आतंक भी। सरकार जब तक इनका निदान नहीं करती है, तब तक कुछ हासिल होने का नहीं, सिवा बदनामी के। वे चुप रहे, किन्तु उन्होंने कानपुर की मेयरशिप स्वीकार करने के लिए मुझे संकेत दिया।

मैं पशोपेश में पड़ा, कानपुर लौट आया। मिलों का काम देखता रहा। मन में बार-बार गुप्ताजी की मेयरशिपवाली बात उठ रही थी। घर आने पर देखा, जटाधर जी वाजपेयी प्रतीक्षा कर रहे थे। मेयरशिप की चर्चा छेड़ दी। मुझे ऐसा लगा कि जैसे मेरे चारों ओर का घेरा सिमटता आ रहा है। कानपुर में रहना है तो यह भी सहना है। फिर भी मैंने सोचने के लिए समय माँग लिया।

दूसरे दिन बहुत सबेरे वाजपेयीजी, अग्निहोत्रीजी, कई पत्रकार, साहित्यकार, प्रोफेसर आ गये। मुझे लगा, फन्दा कस रहा है, विधना खेल रही है, हाँ कहकर छुटकारा पा जाऊँगा। इसके लिए दौड़धूप खुद करूँगा नहीं। हार जाऊँगा। मुस्कराकर स्वीकृति दे दी। शान्ति मिली।

दो-चार दिनों बाद मिलने-जुलने का दौरा फिर शुरू हो गया। मिलनेवालों की संख्या बढ़ने लगी। धीरे-धीरे गोष्ठियों से बुलावे आने लगे। स्पष्ट था, इसी सूत्र से अधिक-से-अधिक लोगों से सम्पर्क करना या कराना। मेरे संकोची स्वभाव के कारण मेयरशिप की दौड़ में साथियों और मित्रों ने मुझे खड़ा कर ही दिया। मैं सफल हुआ।

काम बढ़ गया। सुबह चार बजे से रात ग्यारह बजने मामूली बात हो गयी। बी० आई० सी०, कानपुर नगर-निगम, साहित्यिक-सामाजिक कार्यक्रम, दिल्ली-कलकत्ता-लखनऊ-बम्बई के दौरे—सभी के चक्रव्यूह में पड़ गया। पार्लियामेन्ट में दलबन्दी राजनीति थी, यहाँ मेयरशिप में भी। वहाँ दायरा बड़ा था, यहाँ का छोटा, मगर रवैया और तरीका एक-सा। काम कम, बहस ज्यादा। नगर-निगम के दफ्तरों की हालत तो बहुत ही शोचनीय थी। शासन, अनुशासन, प्रबन्ध आदि निर्बन्ध। सारे काम-काज कागजों पर। अपना दायित्व-निर्वाह करने की चिन्ता से प्रायः सभी मुक्त। सबके अपने-अपने प्रभावी सदस्य थे—मन्त्री से सन्तरी तक। मैंने तय किया कि कहने-सुनने से लाभ नहीं। खुद ही करने में जुट गया। सुबह उठता, बस्तियों-झोपड़पट्टियों में जाता, पानी, सफाई, चिकित्सा आदि की व्यवस्था का निरीक्षण करता। किसीको ऐसी उम्मीद नहीं थी। मैं अकेला ही निकलता। लोगों से मिलता, उनकी असुविधाओं का कारण जानने की कोशिश करता। झुग्गी-झोपड़ियाँ सभी बड़े शहरों में हैं। विदेशों में भी देखा, हांगकांग, रंगून की हालत हमारे यहाँ की तरह है। गरीबी, कुसंस्कार, पिछड़ापन, बुरी आदतें और बेकारी—सभी अपना-अपना पार्ट अदा करती हैं। तरह-तरह के अपराध यहाँ पनपते हैं, वृत्ति और प्रवृत्ति बिगड़ती है। कानपुर में तो ऐसी गन्दगी की हालत इन झुग्गियों की है कि यहाँ टी० बी० तपेदिक की बीमारी शायद भारत में सबसे ज्यादा है। मुझे ऐसा लगा कि कानपुर नगर भारत के अन्य नगरों की तरह बिना योजना के फैलता गया। शहर के कारखानों की वजह से धुएँ और गन्दगी से रोगों की बढ़ोतरी होती गयी। शहर के बीच में इसी तरह बिजलीघर से निरन्तर निकलती कोयले की धूल और धुआँ एक बड़ा कारण बना है। वायु और जल दोनों का प्रदूषण वर्षों से होता आ

रहा है। मैंने लिखा-पढ़ी अधिकारियों से की, पर कोई असर पड़ा नहीं। अतएव मैंने तात्कालिक राहत के लिए चिकित्सा-केन्द्र को अधिक उपयोगी बनाने पर ध्यान दिया और लोगों की स्वास्थ्य-रक्षा के प्रति अधिक सचेतन होने के लिए अनुप्रेरित करते रहने का प्रयास किया। कुछ कर सका, किन्तु यह कितना स्थायी हो पाया, यह कह नही सकता।

परेशानियों से नींद में बाधा पड़नी शुरू हो गयी। गरीबी, गन्दगी, उपेक्षा, लांछना, काम करने में अकारण अवरोध—एक अजीब-सी उलझन दिमाग को घेरे रहती। सोचता, जब जीता तो बधाइयों और तार-चिट्ठियों का तांता लगा, लोगों की भीड़ उमड़ आयी। आज तांता है समस्याओं का। चेहरे की मुस्कान माथे की लकीरें बन रही हैं। फिर भी सोचता यही था कि यदि नगर-निगम के माध्यम से कोई भी सेवा जन-समाज की कर पाया तो समय और श्रम का सार्थक उपयोग होगा। यह आशा थी अथवा दुराशा, उस समय नहीं समझा।

स्नेही मित्रों का सहयोग मुझे मिलता था। पता चला, नगर-निगम की बहुत-सी जमीनें जबरदखल में हैं। एन्क्रोचमेन्ट की बीमारी हर बड़े शहरों में है। हालत स्वयं देखने के लिये एक दिन तड़के ही रावतपुर की ओर निकल गया। इतनी ज्यादा जमीन लोगों ने गैरकानूनी ढंग से दबा रख ली थी कि मन में बहुत क्षोभ हुआ। यही हालत लाल बंगला, नहरिया में भी पायी। वर्षों से यह सब होता आ रहा था, इसे सुधारना आसान बात नहीं। मुकदमे, झगड़े, खर्च सभी लगेंगे। कितना समय लग सकता है। मेयर का कार्यकाल निर्धारित होता है। इसमें सुधार का मौका सीमित होता है। बड़ा क्लेश हुआ। पुलिस, लोकल सेल्फ विभाग, महापालिका के अफसर अपनी जिम्मेदारी सचाई से निभाते नहीं। इसलिये हालत बिगड़ती है। प्रशासन की ओर से भी दोषी अफसरों और कर्मचारियों के विरुद्ध कारवाई नहीं की जाती—नहीं की जा सकती। राजनीतिक, सामाजिक, प्रशासनिक और यूनियन की समस्याएँ आड़े आ जाती हैं।

एक नियम-सा बना लिया कि समय मिलते ही विभिन्न मुहल्लों जाया करता। इससे लाभ भी हुआ। लोगों की दिक्कतें देखता-समझता। उन्हें उपाय बताता, समझाता। नगरपालिका में सम्बन्धित अधिकारियों को हिदायतें देता। कुछ काम होने लगा। लोगों ने यह महसूस किया कि मैं टलने-टालनेवालों में हूँ नहीं। मुझसे अक्सर मेरे सर्वेक्षण या निरीक्षण का प्रोग्राम पूछते। मैं क्या बताता? मुझे खुद ही मालूम नहीं। जब भी मौका

लगता, सवेरे, दोपहर, शाम, यहाँ तक कि रात को निकल जाता। सब कोई सावधान रहने लगे।

एक दिन सुबह साढ़े आठ बजे हरवंस मुहल्ले की भंगियों की बस्ती में गया। जीवन की जो तस्वीर यहाँ देखी, ग्लानि से जी भर आया। एक ओर ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ, एयरकंडिशन्ड कक्ष, बाग-बगीचों के मकान। और यहाँ ? गन्दगी, धूल, दुःख और संकट। कैसे समस्या सुधरे ? वर्षों-वर्षों से चली आ रही समस्या। शिक्षा, संस्कार, दरिद्रता, अधिक सन्तान, सबकी जटिलताएँ। इस हालत में रहने के अभ्यस्त हो गये हैं। ऐसा लगा कि कवि-सम्राट् रवीन्द्र की पंक्तियाँ कि दुःख में ही जिनका जीवन है, उन्हें दुःख का अहसास नहीं होता। लोगों से बात की। लगा, पैसे को सबसे बड़ा मानते हैं, और कुछ चाहते नहीं। धन बड़ा साधन है, सब कुछ खरीद सकता है। जो कुछ भी कमाते हैं नशाखोरी में उड़ा देते हैं—जुआ और बदनाम अड्डों पर जाना भी मामूली बात है। इन जगहों पर सामाजिक कार्यकर्ताओं की बड़ी जरूरत है। मगर सामने आये कौन ? स्वाधीनता के बाद से कौन्सिलर एम० एल० ए०, एम० पी० की दौड़ मे शामिल हो गये। गांधीजी का जमाना चला गया।

गोष्ठी, सम्मेलन और तरह-तरह की बैठकों में प्रायः जाना पड़ता था। यहाँ तक तो ठीक था। किन्तु धीरे-धीरे मित्रों के आग्रह उद्घाटन के लिये भी होने लगे। एक बार पी० पी० एन० मार्केट की एक दूकान के उद्घाटन के लिये गया। कार्यक्रमों मे जाने में मन में ग्लानि होती थी। मैं यह महसूस करता कि शुभारंभ का कार्यक्रम तो भारतीय परम्परा के अनुसार आचार्य या पुरोहितों का है। अब पश्चिम की नकल में यह शुभकार्य बड़े-छोटे नेताओं से कराया जाने लगा है। नेता खुश, दूकान की पब्लिसिटी हो जाती है। उद्घाटन के दिन कम मुनाफे पर काफी माल बिक जाता है। ग्राहक भी खुश।

मुझे सबसे ज्यादा संतोष होता था झुग्गी-झोपड़ी और बस्तियों के लिये राहत-व्यवस्था करने पर जितना कुछ कर पाया था, लोगों में कम नहीं। कितना कर पाऊँगा, क्या कर पाऊँगा ? समय कहाँ, साधन कितना ? सुविधा कितनी ? फिर भी स्नेह और विश्वास का जैसा निश्छल रूप यहाँ मिलता, वह बार-बार मुझे यहाँ खींच लाता।

मेयरशिप की जिम्मेदारी सन् १९६९ में सँभाली थी। इसके लिये जो भाग-दौड़, काम का बोझ, चिन्ता-परेशानियाँ रहीं उसने असर छः महीनों में ही दिखाना शुरू कर दिया। मैंने उपेक्षा की—करता रहा। अनियमितताओं ने

शरीर को तोड़ना शुरू कर दिया। डॉक्टर सावधान करते रहे, मैं सुनकर भी अनसुनी करता रहा।

नवम्बर में मेरे मित्र डॉ० शशिमाल ने सावधान किया कि यदि इस तरह भाग-दौड़ करूँगा तो बिस्तर पकड़नी पड़ेगी। ब्लड-प्रेशर अनियन्त्रित होता जा रहा है। उस दिन हृदय के बायें भाग में दर्द महसूस हुआ था। डॉ० अग्निहोत्री ने बताया कि खून का दौरा ठीक से न होने के कारण यह है, विश्राम की जरूरत है। मैं चुप रह गया।

बात ठीक थी। व्यक्तिगत कामकाज की अवस्था भी मेरी उपेक्षा के कारण सन्तोषजनक नहीं थी। बी० आई० सी० की मिलों और कारखानों की चिन्ता, उधर दिल्ली की राजनीति की खींच, कलकत्ते की सार्वजनिक संस्थाओं के लिये भी भाग-दौड़ और मेयरशिप का बोझ—शायद बूते के बाहर था। सब सम्भव है, यदि साथ में काम बांटनेवाले और हाथ बँटानेवाले भी मिलें। मगर क्यों कोई आये? क्या मिलेगा सार्वजनिक काम में? कलकत्ते में फिर भी मित्र मिल जाते हैं। उस ढंग के यहाँ कम ही मिलें।

मेरे स्वास्थ्य की चिन्ताजनक अवस्था देखकर मुझे मैकराबेट अस्पताल में भर्ती करा दिया गया। बड़ी सख्ती बरती गयी। मिलने-जुलनेवालों का प्रवेश बन्द। डॉक्टर-नर्सों का पहरा लगा दिया गया। दो-एक दिन में ऐसा लगा कि मुझे जबर्दस्त कैद हो गयी। बड़ी छटपटी रही। जीवन में कभी ऐसी सजा भुगती नहीं। मुझे लगा कि यदि यहाँ कुछ दिन रहना पड़ा तो फिर किसीका नहीं रह पाऊँगा। लिखने-पढ़ने तक पर पाबन्दी! सेवा-देखभाल की कमी नहीं थी। यही मेरे लिये सबसे बड़ी मुसीबत लगी। मैं अस्पताल से चुपके से निकल आया। घर आकर बड़ी शान्ति मिली। ऐसा लगा, सारी बीमारी दूर हो गयी।

अस्पताल में खलबली मची। मिल में भी। सभी चकित, परेशान। मैं मिला घर पर चुपचाप लेटा हुआ। कौन मुझसे कुछ कहता? दो-एक मित्रों ने दबी जुबान कुछ कहा। मैंने स्पष्ट कह दिया कि अस्पताल में रहना मेरे रास नहीं आता। मैंने वादा किया कि भाग-दौड़ कम कर दूँगा।

कुछ दिनों तक इस पर अमल किया। शहर मे व्यवस्था फिर शिथिल होने लगी। शुरू में तो अफसर और कर्मचारी मेरे भय से ठीक काम करते रहे, पर वे जानते थे कि मेयर की आयु कितनी होती है। और जब बीमारी की बात सुनी तो बेफिक्र होना स्वाभाविक था। कारपोरेशन के सभासद नगर की

सेवा कम, किन्तु अपनी अधिक करते हैं। अधिकांश शहरों में यही रवैया है, कानपुर कोई अपवाद नहीं।

जिन्दगी ही भागदौड़ से शुरू की। वह कब छूटती? आदत बन गयी थी। फिर शुरू हो गया वैसा ही सिलसिला। फर्क यह आया कि चक्कर आने पर बुखार या सर भारी होने पर बरबस विश्राम करना पड़ता था। कभी-कभी यह भी सोचता, व्यर्थ इन झंझटों को बटोर लिया। केवल लिखूं-पढ़ूं तो वह स्थायी सेवा होगी। इसी जोश में लिखता भी था और अखबारों को लेख भेजता। 'विश्व-यात्रा के संस्मरण' इसी तरह लिखे गये। बहुत-सी कहानियाँ, लेख भी मैंने लिखे। पाठकों के पत्र से उत्साह बढ़ा। साहित्यिक मित्रों की सराहना से गद्‌गद हो उठता, प्रेरणा मिलती। साहित्यिक मित्रों और साहित्य-गोष्ठियों में बिताये समय जीवन की बड़ी ही मधुर स्मृतियाँ हैं।

कानपुर में कितना कर पाया कह नहीं सकता। जो किया उससे सन्तोष नहीं, किन्तु तसल्ली इतनी है कि हिम्मत नहीं हारी, शरीर भले ही टूटा। सबसे बड़ा सन्तोष इस बात का है कि नगरपालिका की ओर से मैंने राजनीतिक नेताओं के स्थान पर विद्वानों और साहित्यकारों का अभिनन्दन किया। राष्ट्रपति वेंकट वाराह गिरि और खान अब्दुल गफ्फार खान के अभिनन्दन के पीछे भावना थी, राष्ट्र के और राष्ट्रीय संग्राम के शीर्षस्थ व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धा और सम्मान। महादेवी वर्मा, दिनकर और पन्त का अवदान भारतीय वाङ्‌मय में चिर महत्त्वपूर्ण है, इसलिए इनका भी सम्मान कर मुझे कृतार्थ होने का सुयोग मिला।

सन् १९७२ से ही मुझे लगा कि शरीर साथ देना नहीं चाहता। इधर, बी० आई० सी० के लिए जो करना चाहता था वह कर नहीं पा रहा था। मानसिक द्वन्द्व की यातना भोगनी पड़ती थी। मैंने सरकारी अधिकारियों से कहा कि बी० आई० सी० के उद्धार के लिए बड़ी पूंजी चाहिए। नवीनीकरण आवश्यक है। पुराने ढाँचे को बदलना होगा। प्रबन्ध-व्यवस्था में भी परिवर्तन जरूरी है। अंग्रेजों के जमाने की व्यवस्था की अब कोई जरूरत नहीं। अफसरों के लिए बड़े-बड़े बंगले, नौकर-चाकरों की फौज हटानी होगी। बी० आई० सी०, एलगिन कानपुर टेक्सटाइल और शुगर मिलों में इनके पीछे लगी जमीनों का उपयोग आर्थिक लाभ की दृष्टि से होना चाहिये। अफसरों के लिए फ्लैट बन जायें—कर्मचारियों के लिए भी। इस प्रकार शहर की बहुत बड़ी जमीनें खाली हो जायेंगी। इन्हें बेचकर या इन पर आवासीय फ्लैट बनाकर

आर्थिक अवस्था को सहारा लगाया जा सकता है। मैं यह भी चाहता था कि व्यवस्था का सर पैरों से ज्यादा भारी न रखा जाय। ऊँचे अफसरों की ऊँची तनख्वाह और सुख-सुविधा आवश्यकता से अधिक थी। इसमें कटौती करना जरूरी था, पर इस सुझाव पर भी ध्यान देने की जरूरत नहीं समझी गयी। शायद कमजोरी मेरी थी। मै ठीक से बात नही समझा सका। मेयरशिप का अनुभव एक उपलब्धि मानता हूँ। मेरी कार्य अवधि थोड़ी थी समस्या बड़ी, व्यवस्था और नियमादि के परिवर्तन के बिना कानपुर तो क्या, किसी शहर की समस्या का सुधार, सहज सम्भव नहीं।

आज मैं मुक्त हूँ। मुझे ऐसा लग रहा है कि सामने शान्ति के पारावार की ओर बढ़ रहा हूँ। घर-बाहर के झंझट तो रहते हैं, रहेंगे। काम करने का मन है, जितना होता है करता हूँ। मन को साधता हूँ कि परेशानियाँ दिमाग को मथें नहीं। किन्तु लगता है कि वे हँसकर चुनौती देती हैं—तन में ताकत हो तो आओ, आगे बढ़ो।

कलकत्ता में कर्मस्थल रहा है, यहीं बड़ा हुआ, पनपा। दिल्ली के बाहुपाश से छुटकारा मिल सका, सौभाग्य मानता हूँ। कानपुर से चलते समय मित्रों से भगवतीचरण वर्मा की पंक्ति कही थी—

"अब अपना और पराया क्या
आबाद रहें रुकनेवाले
हम स्वयं बँधे थे
और स्वयं ही अपने बन्धन तोड़ चले"।

•

श्री अमृतलाल नागर द्वारा टाँटिया जी की पुस्तक क्या खोया क्या पाया का प्रकाशनोद्घाटन,
पीछे खड़े हैं श्री नंदलाल टाँटिया तथा श्री कृष्णचन्द्र अग्रवाल

क्या खोया क्या पाया

...द्घाटन के अवसर पर बोलते हुए श्री लक्ष्मीनिवास बिरला, बैठे हुए—सर्वश्री गंगाशरण सिंह, सीताराम सेकसेरीया, कृष्णचन्द्र अग्रवाल, विमल मित्र तथा शंकरदयालु सिंह

और वे चले गये

—बालकृष्ण गर्ग

रामेश्वरजी में उत्साह और साहस की कमी नहीं थी। लगन भी जबर्दस्त थी। संघर्षों से जूझने में उन्हें अनिर्वचनीय आनन्द आता था। हार उन्हें स्वीकार न थी।

सन् १९६७ में, संसद् के निर्वाचन में सफल न होने के कारण उनके मन में एक चोट जरूर पहुँची थी। हारने की नहीं थी बल्कि दुःख इस बात का था कि राजनीति शुचिता से दूर चली गयी थी। पारस्परिक फूट, अवसरवाद और अफसरवाद ने वांछित कार्य करने में सदा बाधा उपस्थित की। पीड़ा इस बात की थी कि जिस राजस्थान को उन्होंने प्यार किया, जिसके लिये अटूट परिश्रम किया, उसकी सेवा का सही मूल्यांकन नहीं हो पाया। वे पैसेवाले समझे जाते रहे। हर जगह पैसे की माँग पहले। प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा उनके क्षेत्र के लोग भ्रमित किये जाते रहे। रामेश्वरजी ने अपनी डायरी (क्या खोया, क्या पाया) में अन्तर्व्यथा लिखी है—"मेरी हार के पीछे दलबन्दी और कमजोरी है, मैं महसूस कर रहा हूँ।"......"इतना दुःख शायद जीवन में एक बार हुआ ३० वर्ष पहले जब फाटका में रुपया खो दिया था।" "फाटका और राजनीति दोनों ही मेरे माफिक नहीं हैं।"

इस हार ने उन्हें संसद्-भवन से पृथक् भले ही किया किन्तु उनकी सेवा-भावना दबी नहीं। वे पुनः सार्वजनिक सेवा में पूर्ववत् जुट पड़े।

सीकर उनका संसदीय क्षेत्र था। अतएव श्रीकल्याण-आरोग्य सदन, पिपुल्स वेलफेयर सोसाइटी, सरदारशहर की संस्थायें—सार्वजनिक पुस्तकालय, गांधी विद्या मन्दिर, गोशाला आदि अनेक संस्थाओं की व्यवस्था एवं आर्थिक सहायता के लिए समय देने लगे। कलकत्ता आकर भी इसी प्रकार वे शैक्षणिक और सामाजिक सेवा से पहले की तरह जुट पड़े। व्यापार-व्यवसाय में बहुत कम समय देते। इसे वे अच्छी तरह जमा चुके थे। सँम्हालने वाले योग्य व्यक्ति थे।

राजनीति के प्रति उनमें आन्तरिक रुचि नहीं थी। साहित्यिक एवं समाज-सेवा की प्रवृत्ति थी। यों शुरू से ही जयप्रकाश नारायण, राममनोहर

लोहिया, मातृकाप्रसाद कोयराला, केदारनाथ चट्टोपाध्याय (माडर्न रिव्यू), मोहनसिंह सेंगर (विशाल भारत) के निकट सम्पर्क में रहे। मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी की ओर से अकाल और अनावृष्टि में राहत पहुँचाने के लिए राजस्थान गये। काफी काम किया। इसी सिलसिले में राजस्थान के राजनीतिक नेता और प्रमुख समाज-सेवियों के सम्पर्क में आये।

एक नये क्षेत्र की भूमिका उनके लिए अनायास अनजाने में बनती गयी। राजनीति में आ गये। सीकर के क्षेत्र से निर्वाचित होकर संसद में पहुँच गये। प्रारम्भ में उन्हें लगा कि देश का काम पार्लियामेन्ट के माध्यम से अच्छा हो सकता है।

किन्तु ऐसा हो नहीं सका। दस वर्षों (१९५७–६७) तक संसद्-सदस्य रहे। तीन बार कांग्रेस संसदीय पार्टी के कोषाध्यक्ष। कांग्रेस में सेवाभावी धीरे-धीरे कम होते गये। पद, मान, प्रतिष्ठा के पीछे नेतृत्व दौड़ने लगा। देश दल के पीछे हुआ, फिर सबसे आगे व्यक्ति। कांग्रेस बँटी, टूटी, व्यक्ति के नेतृत्व में कई दल बने। राजनीति एक दल-दल बन गयी।

१९६७ के चुनाव में असफल होने पर रामेश्वरजी ने अपनी डायरी में अपने मानस की प्रतिक्रिया लिखी है—"मन करता है किसी जगह चला जाऊँ। कितना प्यार किया राजस्थान को, कोशिशें कीं अपने क्षेत्र के लिए। लोगों ने गलत समझा। शायद धन मेरी हार का बहुत बड़ा कारण हो। सभी जगह रुपयों की माँग क्योंकि मैं पैसेवाला समझा जाता रहा। गलती मेरी थी, मैं देता रहा। धन की भूख बढ़ती है, मिटती नहीं, नहीं मिलने पर क्षोभ होता है। परन्तु मुझे सन्तोष है, यहाँ कुँए, तालाब, सड़कें, स्कूल, अस्पताल रहेंगे। मैं न भी रहूँ तो क्या ?····मन्दिर गया। मन के लिए ताकत की प्रार्थना की।" यह रही उनकी राजनीतिक उपलब्धि।

कानपुर से रामेश्वरजी का लगाव बना रहा। मेयरशिप पहले ही छोड़ चुके थे, बाद में बी० आई० सी०। दोनों दायित्वों से मुक्त होने पर भी स्नेह के सूत्र ने उन्हें कानपुर से जोड़ रखा था। साहित्यकार, समाजसेवी और राजनीतिक बन्धुओं को, उनकी गोष्ठी में मिलने-जुलने वे जाया करते। इसी प्रकार काशी, लखनऊ, दिल्ली, बम्बई भी। राजस्थान से लम्बे समय तक सक्रिय रूप से जुड़े रहने के कारण वहाँ भी उनका जाना-आना लगा ही रहता था। सभी जगह समान रूप से स्नेहभरी मुस्कान बिखेरते रहते, सहयोग

और सेवा का हाथ बढ़ाये रखते थे। ऐसा लगता था कि कानपुर के दायित्व का बोझ उतरने पर उन्हें कुछ राहत-सी मिली।

स्वास्थ्य साथ नहीं दे रहा था। हार मानने को वे तैयार नहीं। जीवन में कभी अवरोध स्वीकार नहीं किया। मन और देह का संघर्ष चल रहा था, इसे वे समझ रहे थे किन्तु 'चलते रहो' को वे मानों सर्वोपरि मानते रहे। रामेश्वरजी की एक खास खूबी थी, उन्हें पूर्वाभास होता था और वह सही उतरता था। इसे मैंने कई अवसर पर देखा। किन्तु विस्मय इस बात का होता है कि इसके बावजूद वे अक्सर प्रतिकूल दिशा में बढ़ते। इसका मनोवैज्ञानिक कारण क्या हो सकता है, इसे नही जानता। संभवतः मित्रों, बन्धुओं और उपस्थित परिस्थिति के आग्रह के कारण वे निर्णय बदलते रहे हों।

मन के सरल थे। बड़ी आसानी से लोग इसका फायदा उठाते। कई ऐसे मौके आये जब मैंने उनका ध्यान आकर्षित किया किन्तु वे हँस के कह देते 'रॉंग (wrong) हो गया'।

कानपुर से चलते समय उन्होंने कहा था, "काम-काज की फिक्र नहीं, भगवान् ने सब कुछ दे दिया है। अब मुझे शान्ति के लिए संन्यास लेना चाहिए।" मैंने उन्हें इस बात को कई बार दुहराते सुना था। मै चुप रहता। वे स्वयं कहते, "मगर यह शायद ही मेरे लिए संभव हो।"

कलकत्ता से उन्होंने मुझे लिखा कि मैं एक बार मिल लूँ। मिलने पर उन्होंने अपनी बात बतायी कि वे १९७४ के मई-जून में विदेश-यात्रा पर जायेंगे और इस बार दक्षिण-पूर्व एशिया के सभी देशों में भ्रमण करेंगे। मुझे भी साथ लें जायेंगे।

विधि का विधान। बम्बई मे सन् १९७३ के २६ दिसम्बर के दिन शाम को साढ़े-पांच बजे कुर्सी पर चढ़कर आलमारी से किताबें निकाल रहे थे कि गिर पड़े, कुल्हे की हड्डी टूट गयी। २९ दिसम्बर को उन्हें पता चला कि उनके दामाद पुष्पकुमारजी बागला बीमार हैं। ३ जनवरी १९७४ को उन्हें खबर लगी कि पुष्पजी का शरीर शान्त हो गया।

मेरे पास कानपुर में बम्बई अस्पताल से जो पत्र उन्होंने लिखा, अत्यन्त मार्मिक था। ऐसा लगता था कि उन्हे ससार से, जीवन से विरक्ति-सी हो गयी। यूँ तो सन् १९७० में अपने अग्रज श्री शिवप्रतापजी की मृत्यु का आघात उनके मन पर था ही, इस घटना से वे विकल हो उठे थे।

ऐसा लगता है कि कोई अनजानी शक्ति उन्हें दूसरी ओर खींचती जा रही थी। उन्होंने मुझे लिखा कि विदेश-भ्रमण तो अब शायद ही हो पाये, मैं तो भँवर में पड़ता जा रहा हूँ।

बात सही थी। बम्बई की उनकी सीताराम मिल की समस्याएँ काफी उलझी थीं। बाजार साथ नहीं दे रहा था। उनकी हर तरह की कोशिशों के बावजूद अवस्था में सुधार नहीं हो रहा था। जिस व्यक्ति के अदम्य साहस, सूझबूझ और परिश्रम से कामयाबी मिलती रही, उसके लिए ऐसी परिस्थितियाँ मानसिक आघात पहुँचाने के लिए यथेष्ट है। आश्चर्य है कि ऐसी स्थिति में भी वे सार्वजनिक कार्यों में उत्साहपूर्वक सक्रिय रहे। कैसे वे कहानियाँ, गंभीर लेख लिखते रहे, यह भी ताज्जुब की बात है।

मई के महीने में उनके पत्र से जान पाया कि बैसाखी के सहारे की जरूरत नहीं रही, वे छड़ी के बल पर चलने लगे हैं। मुझे राजेन्द्रबाबू की 'आत्मकथा' पढ़ने के लिए कहा।

३० मई को सूचना मिली कि वे कानपुर आये हैं, मुझे याद किया है। मैं मिला, तेल-मालिश करा रहे थे। विनोद मोदी, सम्पत दूगड़ आदि मित्र भी थे। उन्होंने बताया कि पूना, महाबलेश्वर, प्रतापगढ़, नासिक, व्रजेश्वरी आदि का पर्यटन कर बम्बई होते हुए आये हैं। मैं चुपचाप सोचने लगा कि लाठी के सहारे इतना सब कैसे पार पड़ा। मुझे कहने लगे, "प्रतापगढ़ तक तो इस बार चढ़ नहीं पाया, पहले देख चुका हूँ। तुम जरूर देखना, हो आना।" सम्पतजी ने कहा, "आपको अभी इस अवस्था में अधिक विश्राम की जरूरत है।" उत्तर मिला, अब यह जीवन का साथी हो गया। "हाँ, चाहता हूँ कि लाठी-छड़ी का साथ छूट जाय।"

सन् १९७४ में उनका कहानियों का संग्रह 'जाने-अनजाने' का प्रकाशन हुआ। बहुत खुश थे। उन्होंने मुझे लिखा कि इन दिनों कई कहानियाँ लिखी हैं, इतिहास पर आधारित हैं। वे ऐसी कहानियों का संकलन एक पृथक् संकलन के रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं। मैं इस काम में लग गया। बाद में प्रकाशनार्थ काशी के विश्वविद्यालय प्रकाशन के श्री पुरुषोत्तमदासजी मोदी के पास भेजवा दिया।

सन् १९७६ की ५ जनवरी को ऋषिकेश से उनका पत्र आया। वे घनश्यामदासजी बिड़ला के साथ हैं। मन लग गया है। ब्लड प्रेशर ऊँचा है। एक दिन कफ में ललाई भी दिखाई पड़ी। यहाँ से बम्बई जायेंगे, फिर कलकत्ता। सम्भव हो तो वहाँ मुझे मिलने के लिए कहा।

होली के अवसर पर मैं कलकत्ता गया। उनसे मिला। देखा, पैरों में सूजन है। वे समझ गये। कहने लगे, "डॉक्टर बताते हैं खून की कमी, कोई खास बात नहीं। हां, अब तुम कानपुर छोड़ो और मेरे पास आ जाओ। जल्द निर्णय ले लो।" बातचीत के सिलसिले में उन्होंने अपनी इच्छा व्यक्त की कि एक प्रकाशन संस्था बनाने चाहते हैं। ट्रस्ट कर देंगे। अच्छे प्रकाशन कम मूल्य पर उपलब्ध करायेंगे। उन्होंने इसके बारे में सम्पतजी को लिखा है।

मुझे उनके स्वास्थ्य की गिरती अवस्था देखकर दुःख हुआ। चेहरे पर पीलापन, झुर्रियां हाथों पर भी। कुछ कहता तो हँस देते। कहते "जो बिना बुलाये आये वह बचपन देखा जो आकर चली जाये वह जवानी देखी और जो आकर न जाये, वह बुढ़ापा है। इसका साथ कैसे छूटे ?" वही मुस्कान ताजगी के साथ।

इतने पर भी उनके पैर चलते रहे। कलकत्ता, बम्बई, कानपुर, सीकर, सरदारशहर, कहाँ कब चले जाते निश्चय नहीं। कैसे करते, हैरत की बात थी। कहीं बस से, कभी प्लेन से, कभी रेल से। खबर मिलती इन्दौर, माण्डू, धार, ओंकारेश्वर, पंचमढ़ी, जसीडीह और न जाने कहाँ-कहाँ बंजारों की तरह जाते। न जाने कौन उन्हें बुलाता, वे किस खोज में रहते। अचानक ही निकल पड़ते।

मई, १९७६ में उनका पत्र जसीडीह से आया, "कानपुर छोड़ दो, कलकत्ता चले आओ, तुम्हारे लिए व्यवस्था कर दी है।" मैंने एल्गिन का काम छोड़ दिया। कलकत्ता आ गया। मिला, रामेश्वरजी ने कुछ कहने से पहले ही शुरू कर दिया अपने यात्रा संस्मरण सुनाना। कहा "इस बार हम-तुम साथ चलेंगे। आबू देखते रह जाओगे"....इत्यादि। मैंने उनसे बताया कि एल्गिन छोड़ दी। वे खुश हुए। उन्होंने बताया अब वे अपने साथ रखेंगे।

मैं प्रतिदिन उनके पास जाया करता। उन्होंने अपनी अधूरी आत्मकथा को पूरी करने की कोशिश की थी किन्तु हो नहीं पा रही थी। मैंने देखा, आँखों पर जोर पड़ता था। डायरियाँ अक्सर हाथ से गिर जाती, वे आँखें बन्द कर लेटे रहते। बस, कुछ ही लिखा पाते। वे आत्मकथा लिखाते हुए कभी-कभी खो से जाया करते थे। सिलसिला टूट जाता। सामयिक चर्चा, एमरजेन्सी, जयप्रकाश बाबू के प्रयास, कांग्रेसी नेताओं की खींचातानी, विरोधियों की हिचकिचाहट की चर्चा करते। उन्हें अखरता सबसे ज्यादा था--देश के नेतृत्व में बौद्धिक तत्त्वों का अभाव, चारित्रिक और नैतिक पतन।

मैं सारे दिन उनके पास रहता। उन्होंने कभी भी अपनी बीमारी की हालत नहीं बतायी। मुझे मालूम था, उनके दोनों गुर्दे बेकार हो चुके थे। बम्बई अस्पताल में इलाज कराया गया। जसलोक में किडनी के लिए उनका ऑपरेशन भी हुआ। हाथ की धमनियों में रक्त-प्रवाह के लिए ऑपरेशन भी किया गया।

एक दिन मुझसे रहा न गया। मैंने उन्हें कहा कि आपको इतनी दौड़-भाग अब नहीं करनी चाहिये थी। कहने लगे "अब ठीक हो जाऊँगा, डॉक्टरों ने कहा है कि इलाज हो गया। उन्होंने ही मुझे यहाँ आने के लिए छुट्टी दे दी।"

रामेश्वरजी को स्पष्ट आभास सम्भवतः हो चुका था कि उनकी क्षीण होती हुई क्षमता का परिणाम क्या हो सकता है। इसके लिए वे प्रस्तुत थे। फिर भी संघर्षशील रहे। संस्थाओं के लिए सक्रियता में कमी नहीं आयी। यथासाध्य पढ़ते, लिखते-लिखाते रहे। बस, एक बात मुझे अखरती कि मित्रों, के आग्रह पर हर तरह की चिकित्सा करवा लेते। फायदा तो क्या नुकसान ही होता। जबर्दस्ती बन्द करवा दिया जाता। वे चुप रह जाते।

दिसम्बर में उनका स्वास्थ्य गिरने लगा। अचानक बम्बई जाने का प्रोग्राम रामेश्वरजी ने बना लिया। मुझे कई किताबें दे गये कि पढ़ डालूँ। सारी डायरियाँ पढ़ने के लिए दीं। जनवरी में बम्बई पहुँचने के लिए उन्होंने मुझे लिखा। मैं शेष सप्ताह में पहुँच गया। काफी दुर्बल-से लगे। हाथ में सूजन, पैरों में भी। गैल (बेहोशी-सी) आ जाती थी।

उनकी इच्छा थी कि दिल्ली में संसदीय जीवन और राजनीति पर वे लिखें। मुझे साथ लेकर किताबें ले आये। डायरियों से नोट बनने शुरू हुए। रूपरेखा बनी। आत्मकथा भी चलती रही। स्वास्थ्य गिरता जा रहा था। इलाज चल रहा था, लाभ कुछ भी नहीं। भोजन नियन्त्रित, पानी बहुत कम—नाप-तौलकर। तय हुआ, जसलोक में जाँच करायी जाय। डॉक्टरों ने सलाह दी, डायलेसिस करानी होगी। मुझे कैसा लगा। रामेश्वरजी प्रसन्न थे। मुझसे कहा—"चलो, अच्छा हुआ जितने दिन बचूँगा कष्ट कम ही भोगना होगा।"

११ फरवरी, १९७७ को डायलेसिस कक्ष मे सुबह १० बजे ले जाये गये। यन्त्रों को देखकर मुझे लगा, काफी जटिल प्रक्रिया है। सारे शरीर का रक्त गुर्दे की जगह यान्त्रिक गुर्दों से प्रवाहित होकर शुद्ध किया जाता है। और भी मरीज थे, उन पर डायलेसिस चल रहा था। मैंने देखा वे शान्त भाव से लेटे

थे। डॉक्टरों ने कहा, पहला अवसर है इसलिए घरवाले कक्ष से बाहर जायँ, राजूबाबू (रामेश्वरजी के छोटे पुत्र) और मैं रह गया। डायलेसिस शुरू हुआ, रक्त का प्रवाह पारदर्शी प्लास्टिक की नलिकाओं से होना शुरू हुआ। रामेश्वर जी शान्त भाव से लेटे रहे। राजूबाबू को इस प्रक्रिया से विचलित-सा देख डॉक्टरों ने उन्हें कक्ष के बाहर जाने का संकेत किया। मैं रह गया। साथ में माताजी (रामेश्वरजी की पत्नी) भी। डायलेसिस करीब छः घंटे चला। शाम के पाँच बजे अपने कक्ष वापस भेज दिये गये। आते ही कहा, "बहुत आराम मिला, शरीर की जलन मिट-सी गयी।" एक दिन के अन्तर से डायलेसिस दिया जाना तय हुआ। दूसरा कोई होता तो घबराता, परन्तु रामेश्वरजी प्रसन्न थे। घर आने के बाद उन्होंने कई पत्र लिखवाये। किताबें पढ़ीं, मानों कुछ हुआ नहीं।

डॉक्टरों ने अवस्था में सुधार देखते हुए कहा कि १८ को घर जाने के लिए छोड़ देंगे। अस्पताल आकर डायलेसिस लेते रहें। रामेश्वरजी बहुत प्रसन्न हुए। धीरे से मुझसे कहा, "चलो कैद से छूटे।" घर आकर उनमें कुछ स्फूर्ति-सी दिखायी पड़ी। उन्होंने दूसरे ही दिन सुबह मुझसे कहा, "याद है ? कानपुर में मैंने तुमसे कहा था, महाबलेश्वर-प्रतापगढ़ देखना। आज ही निकल पड़ो। नासिक-पूना भी देख लेना।" मैंने असहमति व्यक्त की, डाँट पड़ी। कहने लगे, "यह तो रोज की बात है आदत बन गयी, कमप्लिकेशन है नहीं, जाओ तीन-चार दिन में वापस आ जाना।" हिदायतें दीं, यात्रा की व्यवस्था कर दी। यूँ तो वे मेरे प्रति बचपन से ही स्नेह रखते थे। शायद पूर्वजन्म के संस्कार हों। मेरी असावधानियों के लिए डाँटते भी थे और साथ-साथ अच्छी-सी किताब देकर कहते, "पढ़ लेना, अपने चर्चा करेंगे।" उस दिन पास बुलाया, सर पर हाथ फेरा, कहा—"जाओ जीम लो और निकल पड़ो। गोदावरी में स्नान करना और त्र्यम्बकेश्वर के दर्शन।"

चार-पाँच दिनों में लौट आया। देखा, विश्राम की उपेक्षा चल रही है। घर पर मीटिंगें होती हैं, ताश की बैठकें भी। मैंने संकेत किया कि ऐसी उपेक्षा और असावधानी नहीं होनी चाहिये। विश्राम लेना चाहिये। कहने लगे, "श्रम हो तब तो विश्राम। यहाँ श्रम करता कहाँ हूँ ?" बात घुमाने के लिए कहने लगे, अस्पताल में "जयप्रकाशजी से मिला। उनमें आत्मविश्वास है, साहस है, बीमारी उन्हें परास्त नहीं कर सकती। हाँ, स्मरण-शक्ति में लगता है, कुछ फर्क है।"

जनता पार्टी बन चुकी थी। चुनाव की तैयारियाँ चल रही थीं। रामेश्वरजी ने काफी मदद पहुँचायी। मना करते रहने पर भी मिलने जाते। एक दिन कहा, "डायलेसिस बड़ा खर्चीला है। मुझे तो भगवान् ने दिया है। नन्दू (नन्दलालजी टांटिया) पानी की तरह रुपये मेरे पीछे खर्च कर रहा है। मैं सोचता हूँ किडनी की बीमारी गरीब को होती होगी तो एँड़ियाँ रगड़कर मरने के अलावा दूसरा उपाय नहीं। एक मशीन की नन्दू से बात की है, वह जसलोक में दान कर देगा। इस तरह और सम्पन्न लोगों से कहूँगा। आज जी० डी० बाबू (घनश्यामदासजी) से मिलूँगा। वे जरूर कुछ व्यवस्था कर देंगे।" और, उसी दिन शाम को मुझे तो कुछ देर घूमने के लिए बाहर भेज दिया और स्वयं चले गये, जी० डी० बाबू से मिलने। वापस आकर कहने लगे, "मैंने कहा था न जी० डी० बाबू से तीन डायलेसिस मशीनों की बात हुई।"

मार्च में एक दिन उन्होंने कहा, "कलकत्ता जाने का मन हो रहा है। वहाँ संघर्ष के दिन मैंने बिताये, सफल रहा। लगता है, मुझे मेरा कलकत्ता बुला रहा है। मैं जाऊँगा। तुम ट्रेन से कलकत्ता जाओ, मैं प्लेन से पहुँच रहा हूँ। रास्ते में वर्धा और नागपुर देख लेना।"

१३ मार्च को कलकत्ता पहुँचे। बहुत प्रसन्न लगे। दूसरे दिन सुबह विक्टोरिया में अपनी मित्र-मंडली से मिले। उस दिन पत्र लिखाये, लेख वगैरह का भी काम हुआ। डायलेसिस की व्यवस्था कलकत्ता अस्पताल में तय कर ली गयी। किन्तु यहाँ उनके अनुकूल नही रही। बेचैनी होती थी। फिर भी पूर्ववत् व्यस्त–मीटिंगें, ताश और घूमना।

चुनाव की गिनतियाँ हो रही थी। रात-रातभर बैठकर चुनाव-परिणाम सुना करते। हम सभी मना करते पर वे सुनी-अनसुनी करते और कहते। "ऐसे झटके जरूरी हैं, इससे गणतन्त्र का स्वास्थ्य बनता है, एक दल हावी नही बन पाता।'

मार्च, १९७७ का शेष सप्ताह था। कलकत्ता अस्पताल में डायलेसिस पर थे। मैं पास बैठा था। एकाएक उन्हें पेट में दर्द महसूस हुआ। उल्टियाँ हुईं। चेहरे पर कष्ट उभर आया। बोले कुछ भी नहीं। लेटे-लेटे उन्होंने मेरा हाथ पकड़कर कहा, "वादा करो मेरा साथ छोड़ोगे नहीं।" मैंने अपने को बहुत सँभालने की कोशिश की, उनका हाथ जोर से पकड़ लिया। मेरी आँखें भर आयीं, उनकी पलकें भी। थोड़ी देर बाद कहा, "अब मुझमें शक्ति रही

नहीं। 'आत्मकथा' में मेरे बचपन से लेकर संघर्ष और कानपुर तक की बात लिखा पाया हूँ। शेषांश जैसा चाहता था, बना नहीं पाया। अब और शायद ही लिख पाऊँ, कोशिश करूँगा। तुम एडिट कर देना।......" मैंने वादा किया, लगा उन्हें सन्तोष हुआ, शान्ति मिली।

एक दिन डायलेसिस के समय उन्होंने नन्दू बाबू से कहा कि पता चला है कि एक व्यक्ति की पत्नी की किडनी बदलना जरूरी है, उसे कोई अपनी एक किडनी बेचने को तैयार है पर रुपयों के अभाव में संभव नहीं हो रहा है। नन्दू बाबू ने उन्हें आश्वस्त किया और किडनी खरीदवा दी।

कलकत्ता उनके अनुकूल नहीं रहा। स्वास्थ्य गिरता जा रहा था। डायलेसिस में तकलीफ पाते थे। तय हुआ उन्हें बम्बई ले जाया जाय। बम्बई आने पर उन्हें जसलोक में भरती किया गया। यहाँ उन पर काफी नियंत्रण की सुविधा रही। तकलीफ तो कम हुई पर दुर्बलता धीरे-धीरे बढ़ती जा रही थी। खून चढ़ाने की नौबत आ गयी। कभी-कभी ऑक्सिजन भी दिया जाता। सूई तो प्रत्येक दिन। खाने-खिलाने का शौक रामेश्वरजी को था। सब कुछ बन्द। मिलनेवाले आते रहते। बातचीत करने में कष्ट होने लगा। जी० डी० बाबू, अश्विनी बाबू (अश्विनीकुमारजी कानोड़िया), बाबू गंगाशरणजी आदि आते। वे बहुत ही कम बात करते। एक दिन जी० डी० बाबू आये, रामेश्वरजी से हाल पूछा, "कैसी तबीयत है?" रामेश्वरजी ने इतना ही कहा, "अब तो थकान लगती है।" जी० डी० बाबू ने समझाया "मन को थकने न दें, परमात्मा का स्मरण रखें।" रामेश्वरजी के चेहरे पर शान्ति के भाव उभर आये।

धीरे-धीरे ऐसा लगा कि उन्हें विरक्ति सी हो रही है। कलकत्ता में ज्ञान-भारती में उनका अभिनन्दन किया गया। अभिनन्दन पत्र उन्हें देने के लिये बम्बई में उनके मित्र आये। रामेश्वरजी मुस्कराये, सिर्फ इतना कहा, "इस लायक मैं हूँ नहीं।"

रामेश्वरजी दिन में तो बेहोशी-की हालत में रहने लगे थे किन्तु रात ८ बजे के बाद न जाने उनकी नींद कहाँ चली जाती। भोजन के प्रति उनकी रुचि नहीं थी। मैं रात में भी उनके पास रहता। पारी-पारी से माताजी और मैं। रात की नर्स भी थी। उन्हें सन्तोष था कि बेला बाई (नन्दू बाबू की पुत्री) का विवाह अच्छे परिवार में हो गया। जीवन के शेष भाग में एक के बाद एक उन पर दैवी चोटें पड़ीं। वे सबसे अधिक विचलित थे अपने बड़े

भाई शिवप्रतापजी के होने मेरे। उनका अभाव अखरता रहा। इसी प्रकार बम्बई में उनकी सीताराम मिल की चिन्ता ने भी उन्हें घेर रखा था।

संसार से विरक्ति-सी हो गयी थी। वे जाना चाहते थे। मोहपाश से मुक्त होने का प्रयास कर रहे थे। धीरे-धीरे उन्होंने आने-जानेवालों से बात करना बन्द कर दिया। केवल देखते-मुस्कराते और मुंह फेर लेते। शरीर में कष्ट होता किन्तु किसीसे न कहते कि हाथ-पैर सीधे कर दो, तकिया का सहारा लगा दो या करवट बदल दो। रात दस बजे के बाद न जाने कैसे उनमें चेतना आती। तकिये को गर्दन के नीचे लगवाकर ऊँचा कर देने के लिये कहते। रामचरितमानस सुनाता रहता, कभी गीता।

एक दिन सुन्दर कांड में हनुमान-संवाद का प्रसंग था। दोहे में था—"प्राण जाँहि केहि बाट।" रामेश्वरजी मुस्कराये। कहने लगे, "यही मेरी हालत है। मेरे चाहने पर क्या होगा? प्राण निकले कैसे, किस राह? नाक में नली, आँखों में हवा की बूँदें, नसों में नालियाँ""सब द्वार बन्द, पहरे लगे हैं। ""प्राण छटपटाता है। कैसा खेल बना है! जिस रुपये के पीछे भागता रहा, जीवन खपा दिया। पा भी लिया। आज पास होने पर वे बदला ले रहे हैं। उन्हीके बल पर डॉक्टरों की फौज, नाना तरह के हथियार के जुगाड़ बैठाये प्राण निकलने देते नहीं।"

अन्तिम दिनों की बात है। डायलेसिस पर थे। एक महिला बाहर खड़ी थी। डॉक्टर से मिलना था। बार-बार आंसू पोछ रही थी। रामेश्वरजी ने देखा। मुझसे कहा, "बाई से पूछो, क्या तकलीफ है।" मैंने पता किया। बताया कि उसके पति को देवर किडनी देने के लिए तैयार हो गया है। पैसे नहीं हैं ऑपरेशन और दवाइयों के लिए। बेड के लिए भी बकाया पड़ गया है। आज या अगले दिन अस्पताल छोड़ना पड़ेगा। रामेश्वरजी ने डॉक्टर को बुलवाया और हिदायत दी कि मरीज के खर्च की चिन्ता न की जाय। रुपयों की व्यवस्था हो जायगी। नन्दूबाबू के आने पर उन्हें निर्देश दिया। उसी दिन शाम तक व्यवस्था हो गयी।

मंगलवार की शाम थी। अगले दिन उन्हें डायलेसिस पर जाना था। रात का भोजन आया। कहने लगे, "आज भूख जगी है। तकिये के सहारे बैठा दो। ऐसा लगता है कि इलाज से काफी फायदा है। अब जल्द ही रोग के बोझ से मुक्त हो जाऊँगा।" और, सचमुच उन्होंने भोजन अच्छी तरह किया। माताजी, नर्स और मैं, विस्मित थे। भोजन के बाद उन्होने मुझसे कहा, "मेरे

पास आकर बैठ जाओ, अभी नींद नहीं आ रही है।" धीरे-धीरे उन्होंने कहा, "मैं भूल गया था, तुम्हें कहना। जाना सबको है, मुझे भी। मेरे जाने के बाद मेरी आँखें दान करवा देना। मैंने नन्दू से कह रखा है। शायद भावुकता में भूल जाये। याद रखना, भूलना नहीं।"

अगले दिन प्रसन्न थे। सुबह ९ बजे कहने लगे, "अब चलने का समय हो गया। डायलेसिस है।" कक्ष में ले जाये गये। डायलेसिस पूरी हो नहीं पायी कि तबीयत खराब हो गयी। रक्तचाप गिर गया, संज्ञाहीन हो गये। डॉक्टर उन्हें एमरजेन्सी में ले आये। उपचार हुआ। होश पूरी तरह था कि नहीं, कह नहीं सकता। आवाज देने पर आँखें अधखुली करते, बस। डॉक्टरों ने कहा, लन्दन से दवा मँगानी पड़ेगी, तुरन्त। लन्दन से दवा दूसरे दिन ही सुबह आ गयी। हममें से किसी को मिलने की इजाजत नहीं थी। केवल बाहर से शीशे के कक्ष में देख सकते थे। सुधार की उम्मीद में पूरा दिन निकल गया। डॉक्टरों ने कोई कसर रखी नहीं।

दूसरे दिन सुबह डॉक्टर से पूछने पर उसने बताया। कोशिशें बेकाम रहीं। हम स्तब्ध रह गये। अन्य कक्ष में लाये गये। डॉक्टरों ने उनके पास जाने की छूट दे दी। रामेश्वरजी की संज्ञा तेजी से क्षीण हो रही थी। मैंने गीता सुनानी शुरू की। ग्यारहवाँ अध्याय सुना रहा था—तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय ... तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ....। देखा, शान्त भाव, सर बायीं तरफ झुकने लगा। मदनलालजी (रामेश्वरजी की छोटे भाई) की सुपुत्री ने तुलसी, गंगा-जल मुख में दिया।

रामेश्वरजी की बात सही निकली—"अब चलने का समय हो गया।"